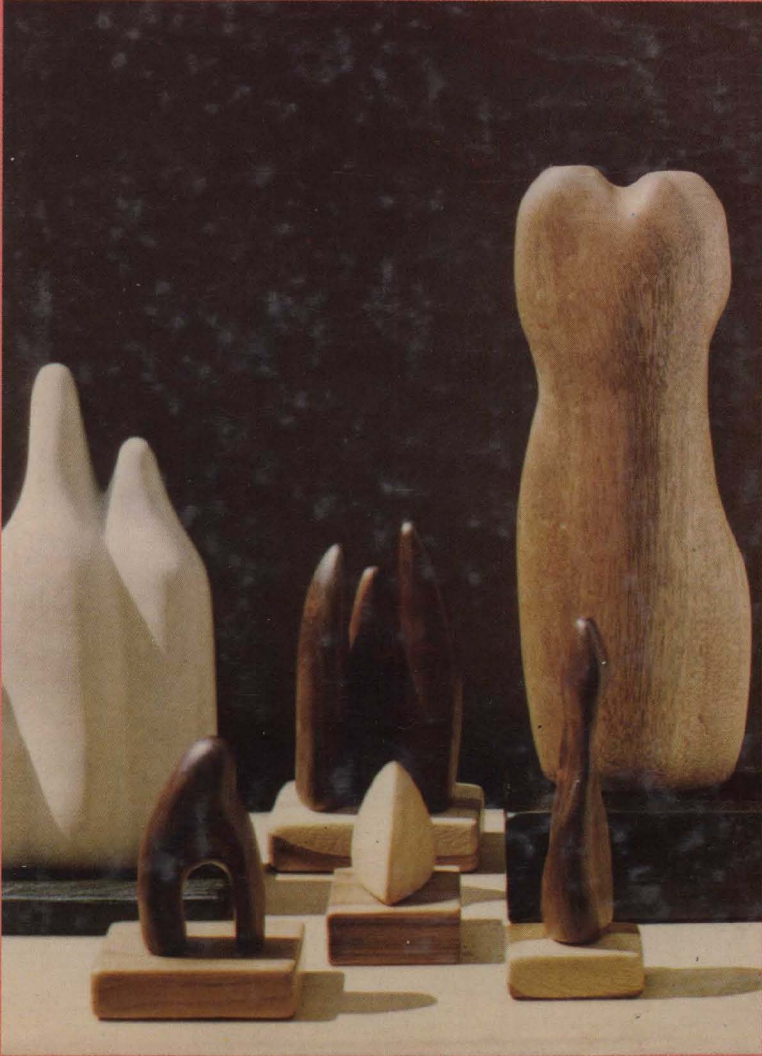
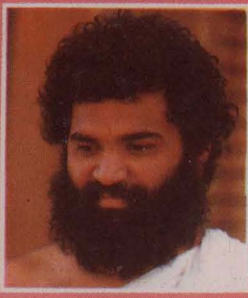


द्रव्य-विज्ञान

साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा





आशी:

गौरव और आह्लाद का विषय है कि बहिन साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा का शोध प्रबंध जनता को प्रस्तुत हो रहा है। विद्युत्प्रभा की लेखनी समरसता, प्रवाहमयता और प्रस्तुतीकरण की अनूठी क्षमता का पर्याय है।

उसने 'द्रव्य' जैसे गूढ़ विषय पर शास्त्रीय मन्तव्यों के साथ अपने चिन्तन को शब्द-स्वर दिया है।

इस ग्रन्थ की महत्ता व उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। मेरा अन्तःकरण इस ग्रन्थ के प्रकाशन की बेला में प्रमुदित है, इस भरोसे के साथ कि यह ग्रन्थ विद्वज्जनों द्वारा समादरणीय बनेगा। इस अपेक्षा के साथ कि ऐसे ही गूढ़ विषयों पर और भी चिन्तन चलेगा, और कलम बहेगी, साध्वी विद्युत्प्रभा की उज्ज्वल गति-प्रगति के लिए मैं आशीर्वाद देता हूँ।

(गणि मणिप्रभसागर)

प्राकृत भारती पुष्प 107

द्रव्य—विज्ञान

(शोध-प्रबंध)

साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा श्रीजी

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

कान्ति पारस प्रकाशन
बाड़मेर

- आवरण छाया व रेखांकन -- संतोष जडिया, इन्दौर
- प्रथम संस्करण -- अक्टूबर 1994

प्रकाशक व प्राप्ति स्थान

प्राकृत भारती अकादमी
3826, मोतीसिंह भोमियों
का रास्ता
जयपुर-302003
(राज.)

कान्ति पारस प्रकाशन
c/o श्री द्वारकादासजी डोसी
चौहटन रोड
बाड़मेर-344001
फोन : 20319

मूल्य : 80.00 रुपए मात्र

- मुद्रक : नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर

प्रकाशकीय

वीतराग-वाणी मोक्ष का विज्ञान है। उन्होंने केवलज्ञान के आलोक में जगत के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर तत्त्वों का निरूपण किया।

परमात्मा की वाणी पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि कोई तत्त्व विज्ञान की पकड़ में नहीं आता तो यह उसका अधूरापन है। इससे परमात्मा की वाणी में शंका करने का कोई आधार नहीं है। परम पूजनीया परम विदुषी महाप्रज्ञा डॉ. साध्वी श्री विद्युत्प्रभा श्रीजी म.सा. ने प्रस्तुत ग्रन्थ में षड् द्रव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया है। जगत षड् द्रव्यमय है। इसके अलावा और कुछ भी नहीं है।

परम पूज्य गुरुदेव, प्रज्ञापुरुष, युगप्रभावक स्व. आचार्य देव श्री जिन कान्तिसागर सूरीश्वरजी म.सा. की पावन स्मृति में पूज्य गुरुदेव गणिवर्य श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. की प्रेरणा से संस्थापित 'कान्ति प्रकाशन' तथा प्राकृत भारती अकादमी के संयुक्त प्रकाशनत्व में इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर हम हर्ष व गौरव का अनुभव कर रहे हैं।

प्रज्ञा मनीषी सिद्धहस्त लेखक डॉ. श्री नेमीचन्दजी जैन ने भूमिका लिखकर ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है, हम एतदर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

ग्रन्थ-प्रकाशन के व्यवस्थित कार्यक्रम में सहयोगी बने श्री हेमन्तकुमारजी शेखावत का भी आभार प्रदर्शित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ आदरणीय बनेगा। ज्ञान-जिज्ञासा का आधार बनेगा, इन्हीं आशाओं के साथ ग्रन्थ आपके कर-कमलों में प्रस्तुत है।

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

द्वारकादास डोसी
अध्यक्ष
कान्ति पारस प्रकाशन,
बाडमेर



द्रव्य-विज्ञान ग्रन्थ का विमोचन करते हुए राजस्थान सरकार के मुख्य सचिव श्री मीठालालजी मेहता, पास में है खरतरगच्छ महासंघ के अध्यक्ष श्री हरखचंदजी नाहटा।



विमोचन समारोह में राजीव दासोत S.P., श्री मीठालालजी मेहता, श्री हरखचंदजी नाहटा, जिलाधीश श्री शैलेंद्र अग्रवाल, श्री रतनसिंहजी पारख, श्री श्रीचंदजी कृपलाणी भू.पू. विधायक, श्री उदयलालजी आंजना विधायक आदि।

द्रव्य-विज्ञान

जैन दर्शन ने भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में अपने विशाल साहित्य और तलस्पर्शी चिंतन के कारण एक विशिष्ट स्थान विभूषित किया है। द्रव्य स्वरूप के बारे में जैन दार्शनिकों का जो सूक्ष्म विश्लेषण है, उसे अनेक आधुनिक भौतिकशास्त्र के विज्ञानियों ने कुछ हद तक स्वीकार किया है। इस शोध निबंध में जैन दार्शनिक ग्रन्थों में पाई गई द्रव्यविषयक विवेचना के समग्र चित्र को प्रदर्शित करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से इसे प्रकाश में लाने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध निबंध में कुल पाँच अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं :

- (1) प्रथम अध्याय :
भारतीय दर्शनों के संबर्भ में जैन दर्शन की द्रव्य अवधारणा
- (2) द्वितीय अध्याय :
जैन परम्परा मान्य द्रव्य का लक्षण
- (3) तृतीय अध्याय :
जैन दर्शन के अनुसार आत्मा
- (4) चतुर्थ अध्याय :
अजीव का स्वरूप
- (5) पांचवां अध्याय :
उपसंहार

इन अध्यायों में निम्नलिखित विषयों की चर्चा की गई है :

1. भारतीय दर्शनों के संबर्भ में जैन दर्शन की द्रव्य अवधारणा 1-20
 - भिन्न भिन्न विचारधाराओं में एकता की अनुगूँज
 - भारतीय दर्शन की विशेषता
 - पाश्चात्य दर्शन की विशेषता
 - दर्शन शब्द की उत्पत्ति, प्रयोग एवं उसका अर्थ
 - दर्शन शब्द की फिलोसफी से तुलना
 - दार्शनिक के मापदंड एवं उनकी

विशेषता ■ आस्तिक और नास्तिक विचारधारा ■ जैन दर्शन की प्राचीनता ■ जैन दर्शन में द्रव्य ■ द्रव्य का निरूक्त अर्थ ■ द्रव्य के पर्यायवाची शब्द ■ द्रव्य की परिकल्पना का कारण ■ भारतीय दार्शनिक के द्रव्य एवं सृष्टि के संबंध में विभिन्न मत ■ उपनिषद् के अनुसार द्रव्य एवं सृष्टि ■ बौद्ध धर्मानुसार द्रव्य एवं सृष्टि ■ सांख्य दर्शन के अनुसार द्रव्य एवं सृष्टि ■ चार्वाक मत में द्रव्य एवं सृष्टि ■ जैन दर्शन की द्रव्य एवं सृष्टि के संबंध में मान्यता

2. जैन परम्परा मान्य द्रव्य का लक्षण

21-60

■ जैन परंपरा में सत् का लक्षण ■ द्रव्य लक्षण गुण पर्याय युक्त है ■ सहभावी और क्रमभावी की अपेक्षा गुण पर्याय ■ वस्तु अनंत धर्मात्मक है ■ द्रव्य त्रिकालिक है ■ अस्तित्व की अनिवार्यता परिणमन है ■ ऊर्ध्वता एवं तिर्यक् की अपेक्षा द्रव्य, उत्पादादि भिन्न भी ■ द्रव्य में एकांतिक प्रतिपादन के दूषण ■ द्रव्य गुण पर्याय में एकांत भेद नहीं ■ द्रव्य गुण और पर्याय में एकांत अभेद भी नहीं ■ जैन दर्शन समन्वयवादी ■ उत्पाद, व्यय एवं धौव्य में काल की भिन्नता-अभिन्नता ■ सभी द्रव्य स्वतंत्र है ■ सद् सप्रति पक्ष है- (सद्-असद् वाच्यावाच्य, अस्तित्व, नास्तित्व, सामान्य विशेष) सद्-असद् न्याय वैशेषिक, भेद अभेद वेदान्त व सामान्य कुमार के अनुसार) ■ नय का स्वरूप और उसकी आवश्यकता ■ षड् द्रव्यों का विभाजन- चेतन अचेतन की अपेक्षा, मूर्त अमूर्तकी अपेक्षा, एक व अनेक की अपेक्षा, परिणामी व नित्य की अपेक्षा, सप्रदेशी व अप्रदेशी की अपेक्षा, क्षेत्रवान एवं अक्षेत्रवान की अपेक्षा, सर्वगत व असर्वगत की अपेक्षा, कारण एवं अकारण की अपेक्षा, कर्ता व भोक्ता की अपेक्षा।

3. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा

61-134

■ आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति ■ आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

■ आत्मा प्रमाण सिद्ध है। ■ आत्मा की सिद्धि जिन भद्रसूरि के अनुसार ■ विभिन्न आचार्यों के अनुसार आत्मा की सिद्धि ■ आत्मा और उपनिषद् ■ उपनिषद् और आत्म स्वरूप की विभिन्नता ■ देहात्मवाद ■ प्राणात्मवाद ■ मनोमय आत्मा ■ प्रज्ञा विज्ञानात्मा ■ चैतन्यात्मा ■ न्याय वैशेषिक में आत्मा ■ बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद ■ चार्वाक और आत्मा ■ सांख्य दर्शन में आत्मा ■ जीवास्तिकाय के लक्षण ■ उपयोग के प्रकार ■ ज्ञान के प्रकार ■ सहवादी और क्रमवादी ■ अनेकात्मा है ■ देहपरिमाण आत्मा ■ नित्यता तथा परिणामी अनित्यता ■ आत्मा कर्ता भोक्ता है ■ जीवों का वर्गीकरण और शुद्धात्मा का स्वरूप ■ कर्ममुक्त आत्मा ■ परिणामिक भाव ■ आत्मा और भाव (क) औपशमिक (ख) क्षायिकभाव (ग) मिश्र (घ) औदारिक भाव ■ संसारी जीवों का वर्गीकरण त्रस और स्थावर की अपेक्षा से ■ महावीर और वनस्पति ■ वनस्पति के भेद ■ त्रस जीवों के भेद ■ पंचेन्द्रिय के प्रकार ■ मनुष्य के जीवों के प्रकार ■ नैरयिकों के प्रकार ■ देवों के प्रकार ■ जीव और शरीर ■ आत्मा और चरित्र ■ लेश्या और जीव ■ कर्म और जीव ■ जीव और पर्याप्ति ■ आत्मा और गुणस्थान ■ पुण्य, पाप, बंध और जीव ■ आश्रव, संवर, निर्जरा और जीव ■ कर्म और आश्रव ■ संवर निर्जरा ■ बंध और मोक्ष ■ बंध और आश्रव का भेद ■ मोक्ष का स्वरूप- (क) पूर्व के संस्कार (ख) कर्म से असंग (ग) बंध छेद (घ) अग्निशिखावत् (च) मुक्ति की प्राप्ति के भेद ■ मुक्ति के साधन ■ जीव के अनेक नामों के कारण

4. अजीव का स्वरूप

135-207

■ धर्मास्तिकायका लक्षण ■ कारण के प्रकार ■ धर्मास्तिकाय की उपयोगिता ■ अधर्मास्तिकाय का स्वरूप एवं लक्षण ■ अधर्मास्तिकाय की उपयोगिता ■ धर्मास्तिकाय- अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व की सिद्धि ■ आकाशास्तिकाय का लक्षण और स्वरूप ■ चतुष्टयी की अपेक्षा लोक ■ आकाशास्तिकाय

के भेद ■ बौद्ध मत में लोक का विवेचन (क) नरक लोक (ख) ज्योतिलोक (ग) स्वर्ग लोक ■ वैदिक धर्मानुसार लोक वर्णन : (क) नरक लोक (ख) ज्योतिलोक (ग) महर्लोक ■ लोक के भेद प्रभेद ■ संस्थान के प्रकार ■ लोकालोक का पोर्वापर्व ■ दिक् ■ न्याय वैशेषिक और आकाश ■ सांख्य के अनुसार आकाश ■ अद्वैत वेदान्त और आकाश ■ बौद्धमत और आकाश ■ आकाशास्तिकायकी सिद्धि ■ काल द्रव्य ■ काल का लक्षण : (क) वर्तना क्या है? (ख) परिणाम क्या है? (ग) क्रिया क्या है? (घ) परत्व व अपरत्व (च) परिणाम के संबंध में कुछ तर्क ■ वर्तना और परिणाम में अंतर ■ काल अखंड प्रदेशी नहीं है ■ काल अनंत समययुक्त है ■ काल के प्रकार ■ काल का उपकार ■ क्रिया में सहायक काल है ■ व्यवहार के भेद ■ निश्चय काल का लक्षण ■ व्यवहार और निश्चय काल में अंतर ■ कालचक्र की अवधारणा ■ काल के ज्ञान की आवश्यकता ■ वैशेषिक दर्शन में काल ■ सांख्य और काल ■ पुद्गल का लक्षण ■ पुद्गल के भेद ■ परमाणु का स्वभाव चतुष्टय ■ पुद्गल के लक्षण ■ पुद्गल के भेद : (क) स्कंध (ख) स्कंधदेश (ग) प्रदेश (घ) परमाणु ■ पुद्गल के पर्याय : (क) शुद्ध (ख) बंध (ग) सूक्ष्म (घ) स्थूल (ङ) संस्थान (च) भेद (छ) अंधकार (ज) छाया (झ) आतप (ग) उद्योत ■ पुद्गल के छः भेद ■ पुद्गल परिणामन ■ पुद्गल के प्रकार ■ पुद्गल का स्वभाव चतुष्टय ■ पुद्गल के उपकार ■ जैन दर्शन का लक्ष्य

5. उपसंहार

208-225

सपना जो साकार हुआ

□ रंगरूपमल कोठारी

I.A.S.

डॉ. विद्युत्प्रभाजी के शोधप्रबंध की प्रकाशन बेला में मैं निःसंदेह रूप से आह्लादित एवं प्रमुदित हूँ। यह मेरा लक्ष्य व सपना था कि वे डॉक्टरेट की मंजिल तक पहुँचे। अगर मैं यह भी कहूँ कि उन्होंने पी.एच.डी. करके मुझ पर एक अनुग्रह किया है, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मैं उन्हें तब से जानता हूँ जब वे बोर्डकी परीक्षा दे चुकी थीं। पदोन्नत होकर बाडमेर से मैं जोधपुर जा रहा था कि मुझे संदेश मिला कि साध्वीजी ने मुझे अपने अध्ययन के सिलसिले में याद किया है तो मैं वहाँ पहुँचा और उनसे अध्ययन संबंधी चर्चा हुई। उस समय उनके परिचय प्रभाव का दायरा अत्यन्त सीमित था। मैंने उन्हें संपूर्णतः आश्वस्त किया कि वे अध्ययन में आने वाली किसी भी समस्या से विचलित न होकर अपनी पढ़ाई जारी रखें। उसी दिन से उनकी व्यावहारिक शिक्षा का संपूर्ण उत्तरदायित्व मैंने अपने कंधों पर ले लिया। उनकी राह में अनेकों बाधाएँ आईं।

कुछ ही दिनों बाद उनकी गुरुवर्या श्री का स्वर्गवास हो गया। निःसंदेह मुझे उनकी टूटी मानसिकता से लगा कि वे अब आगे नहीं पढ़ेंगी। मैंने उन्हें पूर्ण अपनत्व से एक पिता की भूमिका से समझाया और मुझे हार्दिक संतोष है कि उसके बाद जितने भी अवरोध आये, उन सभी को पूर्ण प्रखरता से चीरती हुई वे आगे बढ़ती ही गईं।

जिस तरह उन्होंने एम.ए. कर लिया। मेरा मानस था कि वे सामान्य और सरल विषय चुनकर अतिशीघ्र डॉक्टरेट कर लें पर यह पहला मौका था जब उन्होंने मेरी बात को अनसुना करके अपने ही तरीके से निर्णय लिया। उन्होंने शोध का विषय अत्यन्त गूढ़ पर आगमिक चुना। ऐसा विषय चुना जो सामान्य समझ से परे था। पर अब चूँकि उनकी प्रज्ञा विकसित थी और अपनी प्रतिभा का वे शोध में उपयोग करना चाहती थी। अतः मैंने विषय निर्धारण में उनके आग्रह को स्वीकार कर लिया। वैसे मुझे और अधिक संतुष्टि थी कि वे जटिलतम विषय लेकर अपनी प्रज्ञा को पैना करना चाहती है। पर विषय निर्धारण के बाद उनकी गतिशील गाड़ी रुक गई। विहार का, परिचय का, शिष्याओं का और योजनाओं का विस्तार होता गया। उसी में उनके समय का अधिकांश भाग गुजर जाता। 1992 में उनका जब मालपुरा जाना हुआ तब उन्होंने गुरुचरणों में संकल्प किया कि इसी वर्ष उन्हें शोध प्रबंध प्रस्तुत करना है।

जिस तेजी से उनकी गाड़ी रुकी थी, उसी अनुपात में बल्कि उससे भी ज्यादा तेजी से उनकी गति तीव्रतम होती चली गई। सतत परिश्रम करके उन्होंने मालपुरा और जयपुर प्रवास के दौरान अपना शोध प्रबंध संपूर्ण कर ही लिया। स्वयं स्व. डॉ. नरेन्द्र भानावत एवं

जैन दर्शन के प्रमुख विद्वान डॉ. के.सी. सोगानी उनकी गति से आश्चर्य चकित थे। जितनी अल्पावधि में उन्होंने अपना संकल्प पूर्ण किया, उसके लिए स्वयं डॉ. सोगानी के निष्कर्ष थे कि इस कार्य में उन्हें कोई दैवी सहयोग उपलब्ध हो रहा है। और मेरा भी यही चिन्तन-फल था कि उन्होंने मालपुरा के सम्राट दादा कुशल सूरि की धरती पर जिस कार्य का शुभारंभ किया है, निःसंदेह उसकी पूर्णता में अवश्य ही गुरुदेव सहयोग कर रहे हैं।

मेरा अपना अनुभव है कि जब वे मालपुरा में थीं तब पुस्तकालय के अभाव में सन्दर्भ ग्रन्थों के न होने से परेशान थी, उस समय चूँकि आसपास का सारा वातावरण व परिवेश अपरिचित था, अतः गुरुचरणों में ही निवेदन किया कि मुझे सहयोग करें और तभी उन्हें आश्चर्यजनक रूप से कुछ पुस्तकें स्थानीय दिगम्बर जैन मंदिर से अनायास ही प्राप्त हो गईं।

शोध प्रबंध प्रस्तुत होने के बाद वे विहार कर सांचोर आ गए और शोध प्रबंध परीक्षण हेतु प्रमुख विद्वानों के पास गुजरात विश्व विद्यालय ने भेज दिया। परन्तु वायवा संभव नहीं हो रहा था। बहुधा तैयारियाँ होने पर भी या तो डॉ. के.सी. सोगानी की परिस्थितियाँ अथवा डॉ. वाई.एस. शास्त्री की अत्यधिक व्यस्तता के कारण वायवा समय पर रद्द हो जाता।

अन्त में खरतरगच्छ महासंघ के अध्यक्ष आदरणीय भाईजी श्री हरखचंदजी नाहटा ने यह उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया और जोधपुर 13 अप्रैल 94 को बड़ी उमंगों के साथ उनका वायवा संपन्न हो गया। अगर यह कहूँ तो ज्यादा यथार्थ के निकट होगा कि उनकी व्यावहारिक शिक्षा का प्रारंभ मेरे सहयोग से हुआ तो उसकी परिसमाप्ति श्री भाईजी के सहयोग से सम्पन्न हुई।

वह पल आज भी मेरी स्मृति में है, जब वे वायवा संपन्न कर डॉक्टर के रूप में बाहर आईं, मेरा रोम-2 प्रसन्नता से झूम रहा था। आनंद औसू के रूप में छलक, बह उठा।

मैं विगत वर्षों से उनके जीवन का साक्षी हूँ कि किन कठिनाइयों के साथ उन्होंने अपना लक्ष्य और मेरा सपना पूरा किया है। अत्यन्त व्यस्त हो जाने पर भी वे लक्ष्य की ओर अविचल भावों से बढ़ती रही।

अपने दृढ़ संकाय के बलबूते ही उन्होंने सामाजिक और सामुदायिक उत्तरदायित्व होने पर भी उद्देश्य को पूर्ण कर ही लिया।

उनका यह शोध प्रबंध जैन दर्शन की मूल्यवान धरोहर के रूप में स्थापित बने एवं विद्वानों के लिए उपयोगी सामग्री बने, इसी में इसकी सार्थकता है।

डॉ. विद्युत्प्रभा जी भविष्य में अध्ययन के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित करें, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ।

समर्पण ...

जिनकी आदेशात्मक प्रेरणा ने
प्रस्तुत ग्रन्थ निर्माण का धरातल
तैयार किया,
जिनका स्वप्न ही ग्रन्थ का निर्माता बना,
उन वात्सल्य-हृदय, पिता-तुल्य
श्री रंगरूपमल जी कोठारी
आई.ए.एस.
को
विनम्र भावेन
श्रद्धा-सह
सादर...

-साध्वी विद्युत्प्रभा

पूर्व-स्वर

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जो गुण और पर्याय से युक्त है, वही द्रव्य है। वाचक उमास्वाति ने इन्हीं भावों में द्रव्य की परिभाषा गठित की है-

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्

-त.सू. 38

जो द्रव्य के साथ अविच्छिन्न रूप से सतत सहभावी होकर रहे वह गुण कहलाता है एवं अपने मूल स्वभाव का परित्याग न करके भी भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित होने वाली द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं।

उपादान या निमित्त कारणों को प्राप्त कर द्रव्य अपना स्वरूप भले ही परिवर्तित करले परन्तु नये द्रव्य का न उत्पाद होता है, न नाश।

पूर्वावस्था का परित्याग कर नवीन अवस्था को अवश्य ही वह प्राप्त हो जाता है फिर भी उसका मूल स्वरूप ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है।

जैसे सोना एक द्रव्य है। उसे विभिन्न आकृतियों में ढाला जाता है परन्तु कंगन बने चाहे हार, उसका स्वर्णत्व तो दोनों ही रूपों में मौजूद रहता है। वास्तव में सोना भी कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, वह भी पुद्गल की अनन्त अवस्थाओं में से एक अवस्था है। आज जो पुद्गल स्कन्ध स्वर्ण रूप में है, वे ही भविष्य में स्वर्णत्व का त्याग कर मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। परन्तु पुद्गल द्रव्य के जिन लक्षणों को निर्दिष्ट किया गया है, वे वर्ण, गंध, रस और स्पर्श स्वर्ण में भी रहेंगे और मिट्टी में भी।

जिस प्रकार पुद्गल एक द्रव्य है वैसे ही पाँच अन्य द्रव्य हैं, अन्तर इतना ही है कि पुद्गल रुपी (दृश्यमान) है और अन्य पाँच धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं काल अरूपी हैं।

इन छः को जीव और अजीव रूप से दो भागों में भी विभक्त किया जा सकता है। जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य सभी जड़ हैं।

स्व से संबंधित जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है।

आचारांग सूत्र का प्रारंभ इसी जिज्ञासा से होता है।

आचारांग सूत्र का प्रारंभ इसी जिज्ञासा से होता है।

“बहुत से व्यक्तियों को यह संज्ञा (ज्ञान) नहीं होती कि मैं किस दिशा से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से च्यव कर कहाँ जाऊँगा?”¹

यह प्रश्न स्व के संबंध में है। मैं कौन हूँ? समाधान मिलता है - मैं आत्मा हूँ।

आत्मा धर्म-दर्शन का मूल आधार है। आत्मा है तो सब कुछ है। इसी कारण जैन दर्शन ने आत्म-बोध पर गहरा जोर दिया। जो आत्मा को जानता है, वह सब कुछ जानता है।²

पार्श्वात्य पुद्गल (matter) को ही महत्त्व देते हैं और उसी के इर्द-गिर्द जीवन शैली का निर्माण व विस्तार करते हैं।

जबकि भारतीय दर्शन अशाश्वत पुद्गलों के पार शाश्वत चैतन्य के अनुभव की प्रेरणा देता है।

मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा- “मैं उसे स्वीकार कर क्या करूँ जिसे पाकर मैं ‘अमृत’ नहीं बनती, जो अमृतत्व का साधन है, वही मुझे बताओ।”³ भारतीय दर्शन अध्यात्म की आधार शिला है। मोक्ष का अर्थ है - चैतन्य बोध!

यथार्थ तत्त्व-विज्ञान ही चैतन्य-बोध का कारण है।

जिसे संसार समझ में आ गया, वह सत्य समझ लेता है।

संसार का तात्पर्य संसार की असारता, अस्थिरता और अशाश्वतता से है।

जैन दर्शन के अनुसार षड् द्रव्यों का विस्तार ही संसार है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में षड्-द्रव्यों का निरूपण सांगोपांग दृष्टि से हुआ है।

वैसे यह विषय इतना विस्तृत व गहरा है कि इस छोटे-से ग्रन्थ में समा नहीं सकता। परं निश्चित ही यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्तुति का आधार विस्तार या संकोच नहीं पर स्पष्टता और सरलता

1. इह मेगेसि नो सन्ना भवद्, ...अस्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहंआसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि? आचारांग सूत्र 1/1-2

2. एगं जाणइ से सब्बे जाणइ

3. येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्यामि।

यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि॥ (बृहदारण्योपनिषद्)

है।

दो सौ - सवा दो सौ पृष्ठों में षड्-द्रव्यों का स्पष्ट विवेचन विवेचित हुआ है।

बहिन साध्वी विद्युत्प्रभा की प्रज्ञा/प्रतिभा इस ग्रन्थ में प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है।

संघीय-शासन में एतद्विषयक ग्रन्थों का प्रायः अभाव है।

निश्चित ही यह ग्रन्थ शासन-गौरव का वजन भरा प्रतीक बना है।

शोध-प्रबंध के विषय-निर्धारण के समय मैं कभी-कभी व्यावहारिक/बाह्य भावों में डूबकर व आदरणीय श्री कोठारीजी के स्वरो में स्वर मिला कर कहता - कोई सामान्य/सरल विषय लेकर शीघ्र ही प्रबन्ध की पूर्णाहुति कर उपाधि लेकर डॉक्टर बन जाओ।

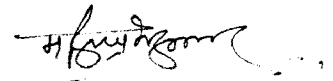
तो कभी-कभी गहराई भरे चिंतन का गंभीर स्वर प्रकट होता - कोई ऐसा विषय चुनो तो मात्र उपाधि का कारण बन कर ही न रह जाय, अपितु स्व-पर कल्याण का आधार-भूत हेतु बने। विद्युत्प्रभा ने मेरे इसी निर्देश को स्वीकार कर इस गहन विषय का चुनाव किया और तलस्पर्शी अध्ययन के फल-स्वरूप इस अत्यन्त उपयोगी व गूढ़ ग्रन्थ का सर्जन किया। परम विदुषी, आगम-ज्योति स्व. प्रवर्त्तिनी श्री प्रमोदश्रीजी महाराज का इसे पूर्ण, परोक्ष आशीर्वाद मिला।

पूज्य माताजी महाराज श्री रतनमाला श्रीजी म. का वात्सल्य-पूर्ण सान्निध्य मिला। और इस ग्रन्थ का सर्जन हो गया।

मेरी कामना है, यह ग्रन्थ उन सभी जिज्ञासुओं के लिए पूर्ण उपयोगी व आदरणीय बनेगा जो तर्कबद्ध शैली व तुलनात्मक दृष्टिकोण से जैनदर्शन के द्रव्य-स्वरूप का अध्ययन करना चाहते हैं। बहिन साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा अपने चिन्तन के नवोन्मेष धरातल पर दर्शन की गहरी गुत्थियाँ सुलझाने वाले और नये-नये ग्रन्थों का नवसर्जन करती रहे, यही मेरे मानस की आशा है।

इन्दौर

5-10-1994



(मणिप्रभासागर)

शुभाशंसा

□ हरखचंद नाहटा

अध्यक्ष

अ. मा. खरतरगच्छ महासंघ

अभी-अभी जानकारी प्राप्त हुई है कि डॉ. साध्वी विद्युत्प्रभाजी का शोधग्रंथ प्रकाशन की प्रक्रिया से गुजर रहा है, निःसंदेह आत्मिक आनंद हुआ। मैंने अपने जीवन के प्रारंभिक काल में ही श्रद्धेय श्रीमद् देवचंद्र, आनंदधन, समयसुंदर व रायचंद्र के पदों को विरासत में प्राप्त किया था और इन पदों के माध्यम से जड़-चेतन के स्वरूप का भेद समझने का भी प्रयत्न करता रहा हूँ।

यह प्रक्रिया प्रिय युवापुत्र अशोक नाहटा की मृत्यु के बाद तो और गहरी होती चली गई थी। सच पूछो तो इतने भयानक सदमें से उबरने में मदद भी मात्र जड़-चेतन से संबंधित पदों ने ही की। यह पद तो मेरी रग-2 में रमा हुआ है—

जड़ ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न,
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समझाय छे;
स्वरूप चेतन निज, जड छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्य मांय छे;
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लसित थयो,
जड़ थी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे;
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया खा
निग्रन्तनो पंथ भव अन्तनो उपाय छे।”

श्रीमद् देवचंद्र ने नेमिनाथ के स्तवन में पंचास्तिकाय के नामों का दिग्दर्शन कराते हुए कहा कि किनका त्याग करना चाहिए और किन्हें अपनाना चाहिए—

धर्म, अधर्म आकाश अचेतना, ते विजाति अग्राहोजी
पुद्गल ग्रहणे रे कर्म कलंकता, बांधे बाधक बाह्योजी।”

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चारों विजातीय तत्व होने से जीव के द्वारा अग्राह्य हैं। इनका ग्रहण संसार का मात्र विस्तार ही करता है। अतः सुज्ञ चेतना इन विजातीय तत्वों का स्वरूप और स्वभाव पहचान कर उनसे दूर ही रहने का प्रयत्न करती है। आगे उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि जीव को मात्र उत्तम वैरागी महापुरुषों से ही अभिन्नता स्थापित करनी चाहिए, जिससे वह भी क्रमशः उत्तमता को प्राप्त हो सके।

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में चेतना को समभाव में रहने की प्रेरणा इन पदों के माध्यम से स्पष्ट रूप से प्राप्त हो जाती है और जब साध्वी विद्युत्प्रभाजी के शोध प्रबंध को इसी विषय पर देखा तो हृदय प्रसन्नता से भर गया।

उनकी वक्तृत्व कला व लेखन कला के बारे में सामान्य रूप से सुना अवश्य था, पर जब इस गूढ़ विषय पर उनके विश्लेषण की क्षमता को देखा तो चकित हुआ था। अभी तक मैंने उन्हें संघ की आशा, पू. गणिवर्यश्री मणिप्रभसागरजी म.सा. की अनुजा के रूप में ही पहचाना था, पर धीरे-2 उनका स्वयं का स्वतंत्र व्यक्तित्व उभरता गया। निःसंदेह वे संघ की एक उदीयमान प्रतिभाशाली साध्वी हैं।

इस शोध प्रबंध में संदेश अथवा प्रेरणा नहीं है। इनमें मात्र स्वरूप को उजागर किया गया है। अगर हमने जड़ और चेतन के स्वरूप को भी पहचान लिया तो अवश्य ही उनका श्रम सार्थक होगा और हमारी चेतना जड़ संबंधों को काटकर शुद्ध बनेगी। उनकी लेखन क्षमता और अधिक गंभीर पैनी बने.....

इन्हीं शुभाशंखाओं के साथ.....

अपनी ओर से

भारतीय चिंतनधारा में जैन दर्शन की चिंतन पद्धति अपना विशिष्ट महत्व रखती है। जैन दर्शन ने धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देने के स्थान पर सहिष्णुता को अधिक मूल्यवान माना है। यही वैचारिक सहिष्णुता 'अनेकान्त' एवं आचार पक्षीय उदारता 'अहिंसा' के माध्यम से प्रतिपादित हुई।

अहिंसा और अनेकांतवाद के धरातल पर खड़ा जैन दर्शन मात्र भारतीयों को नहीं अपितु विदेशी विद्वानों को भी सहज में ही प्रभावित करने में पूर्ण सक्षम है।

जैन दर्शन का चिंतन कल्पित नहीं है, अपितु अनुभव के अमृत से अनुप्राणित है। आज उसके अनेकों सिद्धांत विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुके हैं और भविष्य में खोज जारी है।

विश्व वंद्य करुणामूर्ति परमात्मा महावीर ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया, उसी को निष्पक्ष दृष्टि से कल्याण और करुणा की भावना से ओतप्रोत होकर अभिव्यक्त किया और वही करुणामयी वाणी आचार्यों द्वारा परंपरा के रूप में हम तक पहुँची है।

केवलज्ञान का प्रकाश उपलब्ध होते ही तीन सिद्धांत महावीर द्वारा प्ररूपित हुए - "उत्पत्ति, स्थिति, विनाश" इन तीन सिद्धांतों पर जैन साहित्य की शाश्वत और अटूट इमारत खड़ी हुई। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव त्रिगुणात्मक है।

पदार्थ के इस त्रिगुणात्मक स्वभाव पर मेरा यह शोध निबंध लिखा गया है। इस शोध प्रबंध में कुल पाँच अध्याय हैं जिनका परिचय इस प्रकार है :-

प्रथम अध्याय में मैंने भारतीय दर्शन में जैन दर्शन की विशेषता, सृष्टि

के संबंध में प्रमुख भारतीय दार्शनिकों के विचार एवं द्रव्य के सामान्य स्वरूप पर चिंतन किया है।

द्वितीय अध्याय में द्रव्य के स्वरूप और लक्षण का विशद, तार्किक रूप से स्पष्टीकरण करते हुए द्रव्य के गुण और पर्याय का सर्वांगीण विश्लेषण किया है।

इसके तृतीय अध्याय में षड्द्रव्यों की चर्चा करते हुए जीवास्तिकाय पर जैन एवं इतर दार्शनिकों के मत का उल्लेख किया है। साथ ही आत्मा के अस्तित्व को भी विभिन्न तर्क-संगत मतों से प्रतिपादित करते हुए जीव के समस्त वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है।

इसके चतुर्थ अध्याय में अजीवास्तिकाय जिसके तहत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल समाविष्ट होते हैं, उसे सिद्ध करते हुए इनका जीव पर उपकार अभिव्यक्त किया है।

अंत में समस्त अध्यायों पर उपसंहार रूप अपने चिंतन का प्रस्तुतीकरण करते हुए सभी अध्यायों का सार संकलित किया गया है।

इस प्रकार पाँच अध्यायों से युक्त शोध प्रबंध की प्रस्तुति बेला में निश्चित ही मैं आंतरिक आनंद और अह्लाद का अनुभव कर रही हूँ।

यद्यपि मैं महसूस करती हूँ कि द्रव्य के स्वरूप पर आज तक खूब लिखा जा चुका है यह विषय ही इतना गहरा व विस्तृत है कि इस पर जितना लिखा जायेगा, थोड़ा ही होगा, क्योंकि यह त्रिपदी ही तो आंगमों का मूल है। फिर भी मैं महसूस करती हूँ कि इस 'थीसिस' का अपना मूल्य और उपयोग होगा।

द्रव्य जैसे गूढ़ विषय के चुनाव पर यद्यपि मुझे शास्त्रीय ज्ञान की अल्पज्ञता का भान था, फिर भी मुझे लेना यही विषय था। इसका कारण गुरुवर्या श्री की आंतरिक/उत्कट अभिलाषा एवं उनका आदेश था।

वे स्वयं अपने युग की आगम ज्योति कहलाते थे और मेरे से वे अपेक्षा

रखते थे कि मैं भी आगमज्ञान को आत्मसात् करूँ। उनके अनुरूप बनने की मेरी अभिलाषा तो जरूर है पर आशा नहीं, फिर भी उनके ज्ञानालोक में से प्रकाश की कुछ रश्मियाँ मेरे पल्ले भी आए और आगमों के आंशिक ज्ञान को उपलब्ध करूँ, बस इसी भावना को मूर्तरूप देते हुए इस विषय का चुनाव किया और आत्मतोष है कि अपेक्षित ज्ञानार्जन यद्यपि नहीं हुआ फिर भी 'कुछ' कदम अवश्य बढ़े।

विषय का पंजीकरण होने के बाद कुछ संयमी जीवन से जुड़ी व्यस्तता होने के कारण कार्य में शिथिलता आ गयी थी, परंतु जब गतवर्ष की जन्मदिन की कविता में पूज्य, बड़े बंधु गणिवर्य श्री मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने अपने अंतर्मन में भरे स्नेह से लबालब "पी. एच. डी. करना ही है और वह भी शीघ्र" ये उद्गार व्यक्त किये तो मैं इस कार्य को आगे बढ़ाने में तत्पर बनी। जन्म-दिन की कविता का वह पद्यांश :

**“बो सूर्योदय जिस दिन होगा, मुझको यह संवाद मिलेगा।
बनोगी जब तुम “डॉक्टर” बहिना, मेरे मन का फूल खिलेगा।।
शोध ग्रंथ की निर्मिति में श्रम समय तुम्हें देना है सारा।
एक वर्ष में पूर्ण करूँगी, एक यही हो तेरा नारा।।**

उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त कर मैं अपने समर्पण को नहीं आँकना चाहती। क्योंकि वे सर्वतोभावेन मेरी श्रद्धा और स्नेह के केन्द्र हैं।

इसी क्रम में एक पूर्ण संकल्प के साथ मैं मालपुरा गुरुदेव श्री जिन कुशल सूरि के धाम पहुँची और दर्शन के प्रथम क्षण में ही मैंने गुरुदेव की चरण पादुका के समक्ष आत्मनिवेदन किया “मुझे इस स्थान पर अपना अध्ययन करना ही है जो तेरे आशीर्वाद बिना असंभव है। “प्रयत्न मेरा व कृपा तेरी”। मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ— मेरे इस निवेदन को गुरुदेव ने सुना ही नहीं, पूर्ण आशीर्वाद भी दिया और इसी कारण यह शोध प्रबंध कुछ ही माह में संपूर्ण तैयार हो गया। मैं अभिभूत हूँ, गुरुदेव की इस कृपामयी अमीवृष्टि पर!

मैं समग्र भावेन सादर सविनय नतमस्तक हूँ, दिव्याशीष— प्रदातृ, मेरे

अंतर्मन में आसीन, रग-2 में बसी आगमज्योति अध्यात्मयोगिनी, अनेकों ग्रंथों की निर्मात्री अपनी गुरुवर्या प्रवर्त्तनीजी श्री प्रमोद श्री जी.म.सा. के श्री चरणों में, जिनके नाम से जुड़ने का सौभाग्य मैंने उपलब्ध किया।

मैं इन क्षणों में अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त किये बिना नहीं रह सकती - मेरे पितातुल्य अभिभावक एवं प्रारंभिक शिक्षा से आज तक की शिक्षायत्रा से जुड़े मेरे प्रेरणादीप श्री आर.एम. कोठारी आई.ए.एस. जोधपुर के प्रति! यद्यपि अभिव्यक्ति की एक सीमा है और वह मात्र चार पंक्तियों में सिमट गयी है पर मेरे भावों में उनके प्रति असीम आस्था के स्वर गूँज रहे हैं। क्योंकि अगर वे मुझे अध्ययन से जुड़े रहने की निरंतर निःस्वार्थ प्रेरणा नहीं देते तो संभवतः यह यात्रा अधूरी रह सकती थी। उन्होंने साध्वी के रूप में मुझे सम्मान तो दिया ही, उससे भी अधिक पिता बनकर स्नेहभीगी प्रेरणा भी दी।

मैं अपने मार्गदर्शक विद्वद्गुरु सरलता की प्रति मूर्ति श्री डॉ. वाई. एस. शास्त्री आचार्य, एम.ए.पी.एच.डी. (Reader in Philosophy) की हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे अध्यायों को अन्यायन्य अध्ययन अध्यापन की व्यस्तता के बावजूद देखा, जांचा, परखा एवं अविलंब मुझे लौटा दिया। मेरी अनुकूलता को उन्होंने प्रमुखता दी। अगर उनका अपेक्षित सानुग्रह सहयोग नहीं मिलता तो प्रस्तुति की अवधि और भी बढ़ सकती थी।

मैं डॉ. नरेन्द्र भानावत के अगाध ज्ञानप्रेम को भी विस्मृत नहीं कर पा रही हूँ। वे मेरे अनुरोध को स्वीकार कर अपनी धर्मपत्नी डॉ. शान्ता भानावत के साथ मालपुरा पधारे एवं मुझे विषय से संबन्धित मार्गदर्शन दिया। आज इस ग्रन्थ के प्रकाशन की वेला में उनकी अनुपस्थिति मुझे व्यथित कर रही है। मैं आत्म प्रिय स्व. डॉ. श्रीमती शान्ता भानावत एवं स्व. डॉ. नरेन्द्र भानावत की पवित्रात्मा को विनम्र प्रणाम करती हूँ।

पांडुलिपि देखने में मुझे श्री मिलापचंदजी जैन पूर्व परीक्षा नियंत्रक राजस्थान विश्वविद्यालय का सहयोग मिला। मैं उनके सहयोगी व्यक्तित्व के प्रति शुभकामनाएँ समर्पित करती हूँ।

बोर्ड से लेकर एम.ए. तक की शिक्षा यात्रा में समग्रभावेन सहयोगी बने डॉ. ए.एल. गांधी, डॉ. पी. मिश्रा, डॉ. एम.एल. शर्मा, डॉ. एम.एम. कोठारी,, डॉ. विमला भंडारी, मि. आसोपा जौधपुर एवं श्री भूरचंदजी शाह, बाड़मेर आदि सभी की मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

शोधयात्रा की प्रस्तुति का सपना सार्थक करने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा- डॉ. कमलचंदजी सोगानी, जयपुर का। उन्होंने पूर्ण अनुग्रह के साथ मेरे संकोच को तोड़कर मेरी शोध क्षमता को अनावृत्त किया। यद्यपि मेरे द्वारा लिखित अध्यायों में उन्होंने परिवर्तन सामान्य सा ही किया पर ग्रन्थ की पुष्टि उन्होंने ही की। निःसंदेह ग्रन्थ प्रस्तुति के निर्माण का श्रेय उन्हीं को जाता है। मैं विनम्रभाव से उनकी कृतज्ञता को शब्दों में बांधने का असफल प्रयास करती हूँ।

शोध निमित्त जयपुर प्रवास के दौरान जिनकी आत्मीय स्निग्धता ने अपरिचित परिवेश में भी मेरे श्रमशील मस्तिष्क को ऊर्जा व तरलता दी वे सी.डी. देवल I.A.S., शमीम दीदी अख्तर R.A.S. दुलीचंदजी टांक, महोपाध्याय विनयसागरजी, (स्व.) महावीर प्रसादजी, श्रीमाल, कनक श्रीमाल बाबूलाल डोसी, जतनकुँवर गोलेच्छा, सौ. मेम बाई सुराणा आदि की भी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मैं श्री जिनकान्तिसागरसूरि स्मारक ट्रस्ट, मांडवला के अध्यक्ष श्री द्वारकादास डोसी, बाड़मेर को भी विस्मृत नहीं कर सकती। उनके प्रयासों से मुझे विषय से संबंधित सामग्री प्राप्त होती रही।

मैं अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ महासंघ के अध्यक्ष पितृहृदय निश्छलमना भाईजी श्री हरखचंदजी नाहटा के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके प्रयासों से मेरा वाय-वा जोधपुर में व्यवस्थित रूप से संपन्न हो गया।

मैं पूज्या समतामूर्ति, तपस्विनी प्रकाश श्री जी.म.सा., माताजी म. श्री रतनमाला श्री जी.म.सा. के चरणों में विनम्रभावेन वंदनाएँ अर्पित करती हूँ जिनकी सान्निध्यता में मैं अपनी संयम और स्वाध्याय की यात्रा निर्विघ्न

चला रही हैं। मैं अपनी सुयोग्य शिष्या साध्वी दीप्तिप्रज्ञा को विस्मृत नहीं कर पाऊँगी, जिसका सौम्य एवं सेवामय स्वभाव शोधनिमित्त जयपुर प्रवास के दौरान अध्ययन में पूर्णरूपेण उपयोगी बना।

अंत में मैं अपनी सुयोग्य प्रतिभाशालिनी सुशिक्षित आर्यावर्ग साध्वी शासनप्रभा M.A., स्वर्ण पदक प्राप्त साध्वी नीलांजना M.A. प्रज्ञांजना, दीप्ति प्रज्ञा, नीतिप्रज्ञा एवं विभांजना की भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे अध्ययन के लिये शान्त और नीरव परिवेश के निर्माण में अपना संपूर्ण योगदान दिया, अपनी समस्त संवेदनाओं को समाप्त कर मेरे अध्ययन की भूमिका का निर्माण किया, समस्त उत्तरदायित्वों से मुक्त कर मुझे निश्चित किया। शोध प्रबंध की प्रेस कॉपी साध्वी शासनप्रभा एवं नीलांजना ने तैयार की है। उन्हें मेरा हार्दिक आत्मीय मंगलमय आशीर्वाद है। वे निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होकर अक्षय आनंद को उपलब्ध करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन मात्र उपाधि हेतु नहीं किया गया है अपितु इसका मुख्य उद्देश्य ज्ञान की अपूर्व सम्पदा की प्राप्ति रहा है। इन षड्द्रव्यों का अध्ययन कर अपनी आत्मचेतना को शुद्ध और मुक्त बनाऊँ, इसी कामना के साथ मेरा यह प्रयास हुआ है।

इस मंजिल की प्राप्ति में प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष सहयोगी वृन्द के प्रति हार्दिक शुभकामनाएँ व्यक्त करती हुई विद्वज्जनों की निष्पक्ष आलोचना सादर आमंत्रित करती हूँ।

परमात्मा महावीर की अमृतवाणी को अगणित वंदना।

सादर
साध्वी विद्युत्प्रभा श्री

भूमिका

ऐसे संकटापन्न क्षणों में जबकि भूत-विज्ञान परमाणु को ले कर नित-नये प्रयोग कर रहा है, साध्वीश्री विद्युत्प्रभाजी का 'द्रव्य-विज्ञान' शीर्षक यह प्रबन्ध एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। सब जानते हैं कि दर्शन तर्क की आधार-भूमि पर खड़ा होता है, और विज्ञान प्रयोग की बुनियाद पर। विज्ञान का सारा कारोबार प्रयोगशालाओं में सम्पन्न होता है। जैनदर्शन की प्रयोगशाला कैवल्य है; वहाँ जो सम्मुख है, वह शाश्वत सत्य है। उसमें कोई ननुनच नहीं है। यह अन्धविश्वास नहीं है, ज्ञान का वैभव है, उसका सर्वोच्च शिखर है।

विज्ञान के रास्ते बदले हैं, जैनदर्शन का रास्ता वही है। जो पहले था, वही आज है, वही कल रहेगा। इसमें फेर-बदल की कोई गुंजाइश नहीं है। फर्क सिर्फ एक है। विज्ञान की डगर पार्थिव है, जैनदर्शन की अपार्थिव/आध्यात्मिक। वह मुक्ति की ओर है, बन्धन की दिशा में नहीं है। बन्धन-मुक्ति जैन धर्म/दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

द्रव्यों से लोक बना है। जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल हैं – लोकाकाश है; तदनन्तर अलोकाकाश है।

सत् द्रव्य का लक्षण है। वह 'है', उसका 'होना' ही उसकी निशानी है। जब लगता है कि 'वह नहीं है', तब मात्र वैसा लगता है, होता असल में वैसा नहीं है। वैसा होना संभव भी नहीं है। पर्यायान्तरण की वजह से भ्रम हो सकता है; किन्तु ध्यान रहे, जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ संशय अथवा आभास के लिए कोई स्थान नहीं है।

द्रव्य की इवारत है – 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' (त.सू. ३८)। द्रव्य, कोई भी वह हो, गुण और पर्यायवान् है। 'वह है, वह नहीं है' – इसकी व्याख्या गुण और पर्याय शब्दों में धड़क रही है। गुण-की-अपेक्षा वह है, पर्याय-की-अपेक्षा उसका व्यय और उत्पाद है; लोप और आगम है। जानें, लोक का ज़र्रा-ज़र्रा सापेक्ष है।

द्रव्य छह हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल; क्रमशः चेतन, अचेतन, गति, स्थिति, अवकाश और वर्तन।

तमाम द्रव्यों की अपनी-अपनी अस्मिताएँ हैं। वे स्वाधीन हैं। आत्मनिर्भर हैं। अपने पाँव पर अवस्थित हैं। एक-दूसरे के अस्तित्व में एक-दूसरे का कोई

हस्तक्षेप नहीं है। संपूर्ण लोक-यातायात अविच्छिन्न और निर्विघ्न है। द्रव्य अनादि है। इनका कोई सिरा नहीं है।

द्रव्य की सत्ता को समझने के लिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रयी को गहराई में उतर कर समझना बहुत जरूरी है। द्रव्य 'है', उसका 'था' और 'गा' पर्यटक है। 'है' ही रहता है, 'गा' और 'था' उखड़ जाते हैं। द्रव्य की यह सत्यकथा अनादि है। उत्पाद और व्यय की प्रक्रिया को पर्यायान्तरण में-से समझना चाहिये।

आत्मा है; शरीर 'था' 'गा' 'है' तीनों है। 'था' वह हुआ, 'गा' वह होगा, 'है' वह है; किन्तु आत्मा के साथ ऐसा नहीं है। वहाँ सिर्फ 'है' है। शुद्धावस्था में यद्यपि 'गा' 'था' 'है' की त्रयी है तथापि वह शुद्धावस्थापरक है। द्रव्य के इस मौलिक व्याकरण को जाने बगैर लोक-रचना के रहस्य को जानना संभव नहीं है।

जैनधर्म/दर्शन का मुख्य लक्ष्य स्वभावोपलब्धि है। भेद-विज्ञान इसका अचूक माध्यम है। इसके द्वारा हम द्रव्यों की स्वाधीन सत्ताओं का बोधामृत पाते, पीते हैं। आत्मा आत्मा है, देह देह है। आत्मा न कभी देह हुआ है, न था, न होगा। इसी तरह देह न कभी आत्मा था, न होगा, न है। इस पार्थक्य को हम भेद-विज्ञान में-से हो-गुजर कर ही जान पाते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध साध्वीश्री की ज्ञान-साधना की श्रमसाध्य परिणति है। उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा द्रव्यों की विस्तृत/सर्वांग विवेचना की है। मुझे विश्वास है इसे व्यापक रूप में पढ़ा जाएगा।

साध्वीजी से निवेदन है कि वे अपनी अध्ययन-अनुसंधान-वृत्ति को अनवरत रखें और यदि संभव हो तो इसके एक सरल जेबी संस्करण से सामान्य जैन को भी उपकृत करें। क्या हम गंभीर अध्ययनों को कॉमन जैन तक पहुँचाने का तुरन्त कोई उपाय नहीं करेंगे? मेरी समझ में यदि हम प्रयत्न करें तो जो ज्ञानामृत साधु-जन, विद्वज्जन खोजते-पाते हैं, उसमें एक सामान्य श्रावक की सहभागिता अवश्य बना सकते हैं?

इन्दौर, म.प्र.

१४ नवम्बर १९९४

—डॉ. नेमीचन्द जैन

संपादक 'तीर्थकर' 'शाकाहार-क्रान्ति'

1

भारतीय दर्शनों के संदर्भ में जैन दर्शन की द्रव्य-अवधारणा

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस कल्पार्द्ध के जैन शासन के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं। वर्तमान समय में चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जिनशासन प्रवर्तित हो रहा है। जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है- उसकी अनेकान्तमयी उदार दृष्टि। जहाँ सभी दर्शन अपने वाद की स्थापना के लिये संपूर्ण शक्ति लगाते हैं, वहीं जैन दर्शन उन दर्शनों में कथञ्चित् सत्य पक्ष ढूँढ़ता है। जैन दर्शन की सबसे बड़ी मौलिक देन है, स्याद्वाद और अनेकांतवाद एवं आचार की पवित्रता।

अनेकान्तवाद की स्थापना की गहराई में भी इसी अहिंसा के दर्शन होते हैं। जैन तीर्थंकरों की अहिंसा मात्र कायिक ही नहीं, अपितु मानसिक और वैचारिक भी है। मन से किसी का अहित चिंतन या शब्दों में किसी को अनुचित एवं कटु कहना भी हिंसा ही है।

जैन दर्शन की उत्कृष्टता का एक अन्य कारण यह भी है कि यह किसी एक आत्मा विशेष को परमात्मा की संज्ञा देकर कर्तृत्व से नहीं जोड़ता, अपितु समस्त आत्माओं को परमात्मा की तुल्यता प्रदान करता है। आत्मा और परमात्मा का अंतर यही है कि एक की शक्ति प्रकट है और दूसरे की अप्रकट। जिसकी शक्ति प्रकट हो चुकी है वह परमात्मा है, जिसकी शक्ति प्रकट नहीं हुई है वह भी उसी शक्ति का स्वामी है और प्रबल पुरुषार्थ द्वारा उसे प्रकट कर वह भी परमात्मा बन सकता है।

उस परमात्मा द्वारा प्ररूपित जैन विचार धर्म भी है और दर्शन भी। आचार की सूक्ष्मतम व्याख्या के कारण यह धर्म है और अन्य विचार पद्धति

का विरोध किये बिना आत्मानुभूत सत्य-तथ्यों के क्रमबद्ध और युक्तियुक्त विश्लेषण के कारण दर्शन भी है।

जैन दर्शन का चरम लक्ष्य आत्मानन्द की उपलब्धि है और वह आत्मानन्द मानसिक, वाचिक और कायिक शुद्धता द्वारा ही उपलब्ध होता है। विचारों की उदारता और आचार की पवित्रता ही वास्तविक अहिंसा है; और इसी नींव पर जैन दर्शन का भव्य प्रासाद शोभायमान है। सहिष्णुता एवं आचार की अहिंसा सृष्टि के लिए उदाहरण स्वरूप है। भाषा, रस्मोरिवाज, जीवन पद्धति और आचारपद्धति की विभिन्नता भी यहाँ के जन मानस को 'भारतीय' एकता में बांधे हुए है।

भारत में तत्त्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है। सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने स्तर पर अनेक विषयों पर चिंतन किया। ईश्वर जैसे विषय पर भी मुक्त चिंतन हुआ। बौद्ध और जैन संप्रदायों ने ईश्वर को कर्त्ता या सृष्टि के हेतु-भूत मानने में अस्वीकृति देते हुए कतई संकोच नहीं किया। भौतिकवादी चार्वाक ने तो ईश्वर को नकार ही दिया। विचारों के विकास एवं अभिव्यक्ति में भारतीय तत्त्वज्ञान जितना उदार रहा है, अन्य देशों में शायद ही इसकी कल्पना की जा सकती है।¹

भारतीय दर्शन पद्धति की विशेषता:—भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी कोई मंजिल है। यद्यपि भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का आरोप लगाया जाता है, परंतु यह भ्रम मात्र है, क्योंकि भारतीय दर्शन दुःखों का विवेचन मात्र करके ही नहीं रह जाता, अपितु दुःखमुक्ति का मार्ग भी बताता है। भारतीय दर्शन पद्धति जनता की आवश्यकता की पूर्ति करती है। आधि, व्याधि पूरित दैनिक जीवन से हटकर मात्र कल्पनाओं की दुनिया में विचरण करना, भारतीय दार्शनिक परम्परा को अस्वीकार्य है। राग द्वेष रहित इस प्रकार का जीवन जीना जिससे स्थायी और अक्षय सुख उपलब्ध हो, यहाँ के दार्शनिकों की पहचान है। व्यास एवं विज्ञानभिक्षु का यह कथन सत्य है कि जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगनिदान, आरोग्य तथा भेषज्य, इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण की प्रवृत्ति अपनाता है उसी प्रकार आध्यात्मशास्त्र दुःख, दुःखहेतु, मोक्ष एवं मोक्ष के उपाय को बताता है।²

1. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय पृ. 11

2. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्-रोगी, रोगहेतुः आरोग्यं भेषजमिति। तदिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद यथा-संसारः संसारहेतुः मोक्षः मोक्षोपायः इति। व्यासभाष्य 2.15 सांख्यप्रवचन भाष्य पृ. 6

भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में एकता एवं सामंजस्य:-स्वयं के एवं सृष्टि के स्वरूप को समझने के लिए भारतीय उर्वरा भूमि पर विभिन्न विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ। विभिन्न विचारधाराओं के मध्य भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो एकता की अनुगूँज को प्रखर करते हैं। स्वयं मेक्समूलर ने विभिन्न दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि 'दर्शन की परस्पर भिन्नता की पृष्ठभूमि में एक ऐसे दार्शनिक ज्ञान का भंडार है जिसे हम राष्ट्रीय या सर्वमान्य दर्शन कह सकते हैं; एवं जिसकी तुलना हम उस मान सरोवर से कर सकते हैं जो यद्यपि सुदूर प्राचीन काल रूपी दिशा में अवस्थित था, तो भी उसमें से प्रत्येक विचार को अपने उपयोग के लिए सामग्री प्राप्त हो जाती थी।' जैन दार्शनिकों के अनुसार एकांतवादी समस्त विचारधाराएँ असत्य और मिथ्या हैं परंतु जब वही सापेक्ष रूप से प्रतिपादित की जाती हैं तो सत्य बन जाती हैं। इसे ही उन्होंने स्याद्वाद कहा है।² इस प्रकार से स्याद्वाद रूपी सिद्धांत द्वारा जैन दार्शनिकों ने समस्त दर्शनों की ग्राह्यता एवं उपयोगिता स्पष्ट की है। इस देश के विचारकों की उत्कृष्टता के कारण ही मनु ने कहा कि संपूर्ण संसार ने इस भारतीय धरा पर अवतरित चारित्रिकों से चरित्र की शिक्षा ली।³

मूलरूप से छह विचारधाराओं का अस्तित्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्वीकार किया है- 'बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक, एवं मीमांसका'⁴ डा. राधाकृष्णन् अपने 'भारतीय दर्शन' में इन छह दर्शनों को स्वीकार करते हैं- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा।⁵ भारतीय विचारक यद्यपि प्रवृत्त होता है संसार की दुःखमय प्रवृत्ति देखकर ही, परंतु वह निराशा या कुण्ठा से हताश होकर चुपचाप तो नहीं बैठ जाता, प्रत्युत आगे बढ़ता है। सांख्यकारिका के आरंभ में विचारशास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बताया है।⁶ जैन दर्शन ने द्रव्यों का विवेचन एवं उन्हें समझने का कारण इसी दुःख-निवृत्ति को बताया है।⁷ अतः हम निःसंकोच कह सकते हैं कि दर्शन की

1. मेक्समूलर-सिक्स सिस्टम् ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी पृष्ठ 17

2. सर्वदर्शनसंमत... समीचीनामंचति" षड्दर्शन. टीका 1.4, स्याद्वाद:.... हेयादेय विशेषकः, आ.मी. 10.104, त. शयो. पृष्ठ 136, न्याय कुसु. पृ. 3 एवं रत्नकराव पृ. 15

3. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादप्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" मनुस्मृति 2.10

4. बौद्धनैयायिक... ममून्यही" षड्दर्शन. 3

5. भारतीय दर्शन 2 पृष्ठ 17

6. "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ" सा.का.का. 1.

7. एवं पचयणसारं, पंचस्थियसंगहं वियाणित्ता। जो मुयदि रारेसि, सो गार्हाद दुक्खपरिमोक्खं प.का. 103.

उपयोगिता मात्र वर्णनात्मक ही नहीं, अपितु आचारात्मक भी है, क्योंकि मात्र ज्ञान के द्वारा ही दुःख से मुक्ति नहीं होती, अपितु उसके लिए रत्नत्रयरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य, तीनों ही आवश्यक हैं।¹ यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि भारत में दर्शन और धर्म अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। दर्शनशास्त्र की कसौटी पर कसा जाने वाला तत्त्व धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होता है। इसी कारण भारतीय दर्शन में आत्मा मुख्य तत्त्व बना, क्योंकि हेय और उपादेय का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आत्मा में ही पायी जाती है।² बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा को सर्वप्रिय तत्त्व कहा गया है।³ तैत्तिरीय उपनिषद् में तो आत्मा को ब्रह्म ही कह दिया गया है।⁴ मुण्डकोपनिषद् में उस विद्या को श्रेष्ठतम बताया गया है जो ब्रह्मविद्या से अनुप्राणित हो।⁵ युद्ध क्षेत्र में अर्जुन को अपनी विभूतियों के विराद स्वरूप के बारे में बताते हुए श्री कृष्ण ने समस्त विद्याओं में अध्यात्मविद्या को उत्कृष्टतम विद्या बताया है।⁶

भारत में दर्शनशास्त्र लोकप्रिय रहा है, और उसकी लोकप्रियता का कारण यदि आचार और विचार दोनों से इसका अनुस्यूत होना कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यदि भारतीय दर्शन ने मात्र दुःखों का विवेचन ही किया होता तो हम कह सकते थे कि यह एक निराशावादी विचारपद्धति है, परंतु इसने तो पूर्ण समाधान का मार्ग भी प्रशस्त किया है; और यही नहीं कि मात्र कुछ आत्माएँ ही स्थायी सुख शांति उपलब्ध कर सकती हैं, अपितु जो भी आत्मा ज्ञान, दर्शन और संयममय होती है, वह निर्वाण या मोक्ष के असीम और अक्षय आनंद को प्राप्त कर सकती है।⁷

धार्मिक एवं दार्शनिक उदारता के कारण ही भारतीय दर्शन निरंतर पनपता रहा। और यही वैचारिक उदारता एवं आचार द्वारा लक्ष्यप्राप्ति का आश्वासन इसकी विशेषता एवं महत्ता को प्रतिपादित करती है।

1. सम्यग्दर्शनज्ञानंचारित्राणि मोक्षमार्गः” त.सू. 1.1.
2. यस्यैवामूर्तस्यात्मनः... विषयात्मकेन निरंतरं ध्यातव्यः वृ.उ.सं.
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.1.5
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.5
5. “स ब्रह्मविद्यां सर्वविधाप्रतिष्ठांमथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय आह” मु.उ. 1.1
6. अध्यात्मविद्या विद्यानां... प्रवदतामहम्. गीता 10.32.
7. संपज्जदि णिव्वाणं..... दंसणणाणप्पहाणादी। प्र.सा. 6.

जहाँ भारतीय दर्शन संसार से मुक्ति या दुःख से मुक्ति के विचार और पद्धति पर प्रतिष्ठित है वहीं पाश्चात्य विचारपद्धति के विकास के दूसरे कारण हैं।

पाश्चात्य दर्शन की विशेषता एवं पद्धति:—लिटी की यह सर्वप्रसिद्ध उक्ति है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से होता है।¹ पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में यह बात स्पष्ट झलकती है कि उनके जीवन का लक्ष्य नाम के आधार पर प्रज्ञावान् या बुद्धिमान् होना ही है। कुछ ही अपवाद मिल सकते हैं जिन्होंने आचरण शुद्धि तथा मन की परिशुद्धता के आधार पर परम सत्ता के साक्षात्कार को अपना उद्देश्य और आदर्श माना है; और यह आदर्श भी प्राच्य है न कि पाश्चात्य।² पाश्चात्य विद्वान् तो आचरण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक जोर देते हैं।³

ब्रिटेन के विश्वविख्यात रसेल के अनुसार दर्शन का अपना कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है; वह धर्म एवं विज्ञान के महत्व की वस्तु है।⁴ रसेल के अनुसार विज्ञान एवं धर्मशास्त्र के अधिकार क्षेत्र के मध्य एक ऐसी अनाथ अथवा विवादास्पद भूमि (No man's Land) होती है जिसके ऊपर नित्य ही दोनों ओर से आक्रमण होते रहते हैं; यही विवादास्पद भूमि दर्शनशास्त्र है।⁵

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसका अर्थ:—‘दर्शन’ शब्द के तीन अर्थ सभी दर्शनों में प्रसिद्ध हैं- (1) व्यवहारभाषा में घटदर्शन आदि, अर्थात् चाक्षुषज्ञान के अर्थ में, (2) आत्मा इत्यादि तत्त्वों के साक्षात्कार के अर्थ में (3) एवं न्याय, सांख्य आदि निश्चित विचारसारणी के अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है। परंतु जैन दर्शन में ‘दर्शन’ शब्द का जो प्रचलित अर्थ है वह अन्य स्थानों पर उपलब्ध नहीं होता। जैन परम्परा में श्रद्धा के अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।⁶ इसी तरह वस्तु के निर्विशेष सत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है।⁷ दर्शन चाहे चाक्षुष हो, अचाक्षुष हो या आवधिक, दर्शन मात्र दर्शन होता है, वह न सम्यग् होता है और न मिथ्या।

1. "फिलॉसोफी त्रिगिन्स इन बंडर" भारतीय दर्शन भाग 2 (डा. राधाकृष्णन्) पृ. 9 से उद्धृत
2. पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या का विषय प्रवेश पृ. 1 याकूब मसीह.
3. वही
4. बट्रेण्ड रसेल : हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी इन्ट्रोडक्शन पृ. 10.
5. जगदीश सहाय श्रीवास्तव : ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास 1.1
6. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" त.सू. 1.2
7. "विषयविषयिसन्निपातान्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शान्त. प्रमाणनय. 2.7

इसे सिद्धसेन ने सूचित भी किया है।¹ श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों ही संप्रदाय दर्शन को तार्किक रूप से प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। माणिक्य नंदी ने न केवल दर्शन को प्रमाणबाह्य कहा, अपितु उसे प्रमाणाभास भी कहा है।² वादिदेव सूरि ने अपने प्रमाणनयतत्वा. ग्रन्थ में भी यही बात कही है।³

यद्यपि अभयदेव ने दर्शन को प्रमाण कहा है, परंतु उसे तार्किक दृष्टिकोण से नहीं, अपितु आगमिक दृष्टि की मुख्यता को दृष्टिगत रखते हुए सम्यग्दर्शन के अर्थ में कहा है।⁴

पंडित सुखलालजी ने दर्शन का अर्थ साक्षात्कार की अपेक्षा “सबल प्रतीति” अर्थ पर बल दिया है। क्योंकि अगर साक्षात्कार अर्थ करे तो विभिन्न दार्शनिकों के मतभेद नहीं होने चाहिए। साक्षात्कार के योग्य पुनर्जन्म, उसका कारण, पुनर्जन्म ग्राही कोई तत्व एवं पुनर्जन्म के कारणों का उच्छेद, ये चार प्रमेय ही साक्षात्कार के विषय माने जा सकते हैं। इन प्रमुख प्रमेय तत्वों के विशेष स्वरूप के विषय में एवं इनके विस्तृत मंथन चिंतन में प्रमुख दर्शनों का कभी तो इतना विरोध और मतभेद देखा जाता है कि तटस्थ तत्वान्वेषी असमंजस में पड़ जाता है। इस प्रवृत्ति को देखते हुए इसका अधिक उपयुक्त अर्थ ‘सबल प्रतीति’ है।⁵

जैन दर्शन में इसका दूसरा अर्थ है सामान्यबोध, जिसे अनाकार उपयोग भी कहते हैं। श्वेताम्बर- दिगंबर दोनों मान्यताओं में “अनाकार” शब्द ज्यादा प्रचलित है। लिङ्ग सापेक्ष उपयोग या बोध तो ज्ञान है और लिङ्गनिरपेक्ष साक्षात् होने वाला बोध अनाकार या दर्शन है। यह तो एक मत है, दूसरा मत यह भी है कि जो मात्र वर्तमान ग्राही बोध है वह दर्शन है और जो त्रिकालग्राही बोध है वह ज्ञान है।⁶

प्रचलित भाषाव्यहार में दर्शन, दार्शनिक, दर्शनसाहित्य आदि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे तत्वविद्या से संबंधित हैं।

1. अत्र च यथा सांकाराद्वायां सम्यग्भिष्यादृष्टयोर्विशेषः, नैवमस्तिदर्शने, अनाकारत्वे उभयोरपि तुल्यत्वादित्यर्थः'- तत्त्वार्थभा. टीका 2.9
2. परीक्षामुल्ल 6.2
3. अज्ञानात्मकानात्म..... यथा सन्निकर्षा..... ध्यवसाया इति. प्रमाण 6.24, 25
4. सन्मतिटी. पृ. 457
5. पं. सुखलालजी : दर्शन और चिंतन पृ. 67, 68
6. तत्त्वार्थ भाष्य टीका 2.9

‘दर्शन’ शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है- ‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’, वस्तु के सत्य स्वरूप का जहाँ अवलोकन ही चिंतन हो वह दर्शन है। हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं और हमारा क्या लक्ष्य है, यह चिंतन जगत की ही देन है। दर्शन के इन चिंतन बिन्दुओं के बीज प्राचीनतम शास्त्र आचारांग में स्पष्टतया प्राप्त होते हैं।¹

दर्शन शब्द की फिलोसोफी से तुलना:—पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा ‘फिलोसोफी’ है। यह शब्द दो शब्दों के मिश्रण से बना है—‘फिलास’ अर्थात् प्रेम या अनुराग और ‘सोफिया’ अर्थात् विद्या। इस शब्द का प्रचलन सर्वप्रथम ग्रीक देश में हुआ। इस संयुक्त शब्द के अर्थ से हमें पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझने में सरलता आती है। पाश्चात्य दार्शनिक विद्यानुरागी या प्रज्ञावान् बनना चाहता है। प्रत्येक वस्तु में छानबीन करके मनमानी कल्पना करने के लिए पश्चिम जगत् विख्यात है। पश्चिम का दार्शनिक उस नाविक के समान है जो बिना किसी गंतव्य स्थल का निर्धारण किये अपनी नौका विचार सागर में तैरने के लिए छोड़ देता है। अगर नाव घाट पर लग जाये तो भी आनंद और न लगे तो भी आनंद।²

भारतीय दार्शनिक लक्ष्य का निर्धारण करके चिंतन के सागर में उतरता है, और इसके फलस्वरूप मुक्ति मंजिल स्वरूप आत्मशुद्धि का मोती उसे अवश्य हाथ लगता है।³

पश्चिम में धर्म से भिन्न दर्शन छठी शताब्दी पूर्व यूनान में प्रारंभ हुआ। एक हजार वर्ष तक लगभग विचरण करता हुआ दर्शन एक बार फिर ईसाई धर्म में निमग्न हुआ। पाँचवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का समय दर्शन का अंधकारमय युग कहलाता है, क्योंकि दर्शन इस समय ईसाई धर्म का दास रहा।⁴

भारत में इस प्रकार की हठधर्मिता कभी नहीं रही। श्री हैपल के अनुसार “भारत में धर्म की रूढ़ि या हठधर्मिता का स्वरूप कभी प्राप्त नहीं रहा वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक

1. आचारांग 1.1.2

2. बलदेव उपाध्याय- भारतीय दर्शन उपोद्धात पृ. 5

3. प्रवचनभक्ति श्रुतसंपदधर्मा... जनकानि प्रशमरति 141

4. ग्रीक एवं मध्ययु. दर्शनों का वै. चिंतन जगदीश. 1.2

विकास की विभिन्न स्थितियों में और अवस्थाओं में अपने आपको अनुकूल बना देती है।”

दार्शनिक के मापदंड एवं उसकी विशेषताएँ:—सत्यान्वेषी को अपना अन्वेषण प्रारंभ करने से पूर्व अपेक्षित योग्यता को अवश्य अर्जित करना पड़ता है। (i) सत्यान्वेषी में जिज्ञासु प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए। जिससे वह प्रकट रूप में असंबद्ध सामग्री के समूह से सत्य स्वरूप को ढूँढकर निकाल सके। (ii) वह एकाग्रता से किसी विषय से जुड़कर अविचलित मन से विषय की तह में जावे। (iii) कर्मफल की आकांक्षा रहित प्रवृत्ति। उसका लक्ष्य फल प्राप्ति नहीं होना चाहिए, अपितु उसका एकमात्र लक्ष्य अन्वेषण ही होना चाहिए। (iv) उसकी दृष्टि पूर्वाग्रह रहित एवं तटस्थ होनी चाहिए। (v) उसका अपना अंतर्मन पूर्ण रूपेण प्रशिक्षित होना चाहिए। उसमें शांति, धैर्य, आत्मसंयम, त्याग, श्रद्धा का होना अनिवार्य है। सांसारिक आकर्षण एवं प्रलोभनों से अविचलित रहना चाहिए। (vi) उसमें मुमुक्षुवृत्ति अर्थात् एक ऐसी प्रवृत्ति के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव जो आध्यात्मिक शक्ति के नाम से पुकारी जाती है, होनी चाहिए। (vii) लक्ष्य प्राप्ति और उसके समीप पहुँचने की प्रबल आकांक्षा मात्र ही अवशेष रहना।² ऐसे दार्शनिक ही भारतीय जनमन के श्रद्धास्पद एवं विशिष्ट सम्माननीय बन सकते हैं। भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का कारण यही है कि इन दार्शनिकों का संपूर्ण चिंतन उपदेशों के रूप में परहित के लिए सदैव बरसता रहा।

आस्तिक एवं नास्तिक दो प्रकार की विचार पद्धति:—हम पूर्व में ही स्पष्ट कर आये हैं कि भारतीय विचारपद्धति उदार एवं सहिष्णु रही है। मुख्य रूप से यहाँ दार्शनिक जगत में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं, आस्तिक एवं नास्तिक। साधारण बोलचाल की भाषा में ईश्वर में श्रद्धा, आस्था रखने वाले दर्शन को आस्तिक एवं श्रद्धा न रखने वाले को नास्तिक कहते हैं।

पाणिनि ने इसकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में इस प्रकार की है। “अस्ति परलोके मतिर्यस्य स आस्तिकः।” अर्थात् आस्तिक वह है जिसकी परलोक में आस्था हो। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दों की सिद्धि “अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः” (4.4.60) सूत्र से ठक् प्रत्यय द्वारा हुई। पाणिनि की

1. डॉ. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन भाग 1, पृ. 21 से उद्धृत

2. वेदान्त : शंकरभाष्य 1.1

व्याख्या के अनुसार जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

परंतु मनु ने आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या अलग प्रकार से की है। मनु के अनुसार आस्तिक वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे और नास्तिक वह है जो वेद में विश्वास न करे।

परंतु निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से देखा जाये तो मात्र चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन की कोटि में आता है। जैन दर्शन लोक-परलोक एवं ईश्वर जिसे वह परमात्मा या अर्हत् भी कहता है, को मानता है। अतः जैन दर्शन को नास्तिक कहना युक्ति विरुद्ध है। इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

जैसा कि हम पहले ही लिख आये हैं कि भारत में छः मुख्य दर्शन हैं और उनमें जैन दर्शन की भी परिगणना होती है। अब भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में जैन दर्शन का क्या स्थान है, इसकी विवेचना करेंगे।

भारतीय दर्शन में जैन दर्शन की प्राचीनता:—कुछ समय पूर्व तक जैन दर्शन के बारे में इस प्रकार की धारणा व्याप्त रही है कि यह स्वतंत्र दर्शन न होकर बौद्ध दर्शन की शाखा मात्र है। कुछ ने इसे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत बताया, परंतु तटस्थ अनुसंधान के कारण अब यह धारणा खंड-खंड हो गयी है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि भगवान महावीर या पार्श्व इसके संस्थापक नहीं हैं, अपितु यह सिद्धान्त तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित है। डॉ. याकोवी के अनुसार “पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। जैन परम्परा ऋषभदेव को इस धर्म का प्रवर्तक मानती है और इसके प्रमाण भी हैं।”

डॉ. सर राधाकृष्णन् इसे और अधिक पुष्ट करते हैं। उनके अनुसार जैन परम्परा ऋषभदेव से अपनी उत्पत्ति होने का कथन करती है जो बहुत शताब्दियों पूर्व हुए थे। इस बात के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन धर्म पार्श्वनाथ और महावीर से पूर्व भी प्रचलित

1. There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder), there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara. Indian Antiquary Vol. IX P. 163.

था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि के नाम उपलब्ध होते हैं। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे। "There is evidence to show that so far back as the first century B. C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or parshvanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism. Indian Philosophy" Vol. I.P. 287.

इन अनुसंधानपरक तथ्यों द्वारा यह प्रमाणित होने के कारण आज विश्व के क्षितिज पर जैन दर्शन की अपनी प्राचीनता में कोई संदेह नहीं करता। साथ ही जैन दर्शन विज्ञानसम्मत नियमनिर्धारण के कारण विश्व धर्म बनने की क्षमता से ओतप्रोत है। जैन दर्शन की समस्त धारणाएँ वैज्ञानिक हैं, इसे हम अगले अध्यायों में विवेचित करेंगे।

जैन दर्शन में स्वीकृत द्रव्यः—दर्शन आदि की आंशिक परंतु अनिवार्य भूमिका स्पष्ट करने के पश्चात् हम अपने मूल विषय पर दृष्टिपात करते हैं। मेरा विवेच्य है "द्रव्य एवं उसका स्वरूप"। सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दर्शन में 'द्रव्य' शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त में हुआ है।

प्राकृत का 'द्व्य', पालि का 'दब्ब' और संस्कृत का 'द्रव्य' शब्द अत्यंत प्राचीन है। यद्यपि लोकव्यवहार में तथा काव्य, व्याकरण दर्शन आदि शास्त्रों में भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन एवं बहुत रूढ़ जान पड़ता है तथापि जैन परिपाटी में 'द्रव्य' शब्द अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अनेक अर्थों में भिन्न भी प्रतीत होता है।¹ नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन निक्षेपों के प्रसंग में²; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रसंग में³; द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय के विषय में⁴; द्रव्याचार्य एवं भावाचार्य⁵ में एवं द्रव्यकर्म और भावकर्म के प्रसंग में⁶ आने वाला द्रव्य शब्द विशिष्ट अर्थयुक्त है।

1. पं. सुखलालजी :- दर्शन और चिंतन पृ. 143
2. नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्यास :-" त.सू. 1.5
3. "दब्बाइं, सेतओण..... भावओ वण्णमंताइं भ. 2.1.4
4. द्रव्यास्तिकं..... पर्यायास्तिकम्" तत्त्वार्थभा. 5.31
5. पंचाशक- 6
6. द्रव्यकर्मण एवं कर्ता'..... भावकर्मणः" प्र.सा.ता.वृ. 122

विश्व के मौलिक पदार्थों के अर्थ में भी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह तत्व जो स्वभाव का त्याग किये बिना उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हो, जैन दर्शन का द्रव्य है। जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों में भी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में 'द्रव्य' शब्द गुणकर्माधार अर्थ में प्रसिद्ध है।² पृथ्वी, जल, तेज आदि नौ द्रव्य हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर द्रव्य शब्द के अर्थ की चर्चा की है। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि घड़े को तोड़कर कुण्डी और कुण्डी को तोड़कर घड़ा बनाया जाता है। भिन्न-भिन्न अलंकारों को तोड़कर भिन्न-भिन्न अलंकार बनाये जाते हैं, परंतु उसमें रहने वाला सुवर्ण तत्व नित्य रहता है। भिन्न-भिन्न आकृतियों में स्थिर रहने वाला यह तत्व ही द्रव्य शब्द से अभिहित किया जाता है।³ 'योगसूत्र' के व्यासभाष्य में द्रव्य की यह परिभाषा ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है।⁴

मीमांसक कुमारिल ने भी द्रव्य शब्द की यही व्याख्या की है।⁵ पतंजलि ने दूसरी जगह गुणसमुदाय या गुण सन्दाव को द्रव्य कहा है।⁶

महाभाष्यप्रसिद्ध एवं बाद में व्यास आदि द्वारा समर्थित ये सारी व्याख्याएँ जैन दार्शनिक उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र में उपलब्ध होती हैं।⁷

द्रव्य का निरुक्तिलभ्य अर्थ:—व्याकरण की दृष्टि से परम्परा में प्रयुक्त पारिभाषिक द्रव्य शब्द का विशेष अर्थ एवं उसकी व्याख्या को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:—

जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार:—द्रव्य शब्द को इवार्थक निपात मानना चाहिये। "द्रव्यं भव्ये" (4.1.158) इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार द्रु की तरह जो हो वह द्रव्य समझना। जिस प्रकार बिना गौँठ की लकड़ी बढई आदि के

1. अपरिच्यत.... दव्वंति वुच्चंति स.सा. 95

2. वै.सू. 1.1.15

3. द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या... सुवर्णं कदाचिदाकृत्या.... पिण्डाकृतिमुपमर्द्धं रुचकाः क्रियन्ते.... आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते पातं. महा. 1.1

4. योगभाष्य 4.13

5. वधमानकमङ्गे च.... हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं न नाशोर्न विकीर्णं सामान्यनित्यता मी. श्लो. वा 21.23

6. पातं. महा. 4.1.3, 5.1.119

7. त.सू. 5.29, 30.37

निमित्त से टेबल कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी ब्राह्म व आभ्यंतर कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, जैसे पाषाण खोदने से पानी निकलता है। यहाँ अविभक्त कर्तृकरण है उसी प्रकार द्रव्य और पर्याय में भी समझना चाहिये।¹

पंचास्तिकाय के अनुसार:- उन-उन सद्राव पर्यायों को जो तत्त्व द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, जो सत्ता से अनन्य भूत है।²

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार:- (1) जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था; या जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होगा, उसे द्रव्य कहते हैं।³

(2) जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं।⁴ पंचास्तिकाय का अनुसरण करती व्याख्या राजवार्तिक में भी उपलब्ध होती है।⁵

अनेक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अभिहित द्रव्य:- उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाव मय नित्य परिणमनशील अर्थ में प्रयुक्त होने वाले इस 'द्रव्य' शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं। सत्ता, सत् अथवा सत्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि, ये नौ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्यरूप अर्थ के ही वाचक हैं।⁶

द्रव्य के अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति हैं।⁷ परंतु अधिक प्रचलित अर्थ द्रव्य, सत्, अथवा भाव है।

द्रव्य की परिकल्पना का कारण:- हमें यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि द्रव्य की परिकल्पना क्यों की गयी? इसके समाधान में हमें यही तर्क प्राप्त होता है कि सृष्टि की व्याख्या को समझने के लिये 'द्रव्य' शब्द की

1. अथवा 'द्रव्य भव्ये व्यंजनेन्द्र व्याकरण (4.1.158) इत्यनेन निपातितो.... तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते' रा.वा. 5.2.2.436.26
2. "दवियदि गच्छदि ताई ताई सव्भावपज्जयाई जं: दपियं तं भण्णंते, अण्णभूदंतु सत्तादी" पं. का. 9
3. "गुणैर्गुणान्वा दृतं गतं गुणैर्द्रौष्यते, गुणान्द्रौष्यतीति वा द्रव्यम्" 1.5.17.5
4. यथास्वं पर्यायैर्द्रव्येणो डपंति वा तानि इति द्रव्याणि 5.2.266.10
5. रा. वा. 1.33.1.95.4
6. सत्ता सत्वं सद्रा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थोविधिरविशेषा एकार्थवाचका अमी शब्दाः" पं. ध.पु. 143
7. "द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गं अनुवृत्तिरित्यर्थः" स.सि. 1.33.241

कल्पना हुई होगी। सृष्टि “द्रव्यमय है”; हमारे सामने जड़ चेतन चेतन जो कुछ है, वह सब कुछ द्रव्य है।

अन्य भारतीय दर्शनों में भी ‘द्रव्य’ शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन आगे के पृष्ठों में है। जैन दर्शन का द्रव्य ही उपनिषद् का सत् है, एवं जैन दर्शन में भी ‘सत्’ और ‘द्रव्य’ पर्यायवाची हैं। सांख्य पुरुष-प्रकृति के अर्थ में, चार्वाक भूतचतुष्टय के अर्थ में और न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद के अर्थ में ‘द्रव्य’ शब्द को ग्रहण करते हैं।

भारतीय दार्शनिकों के विभिन्न मतः—विविधता और विशिष्टता से भरपूर यह रंगबिरंगी सृष्टि अनेक दार्शनिकों के चिंतन का विषय रही है। उनके लक्ष्य एवं उद्देश्य में भिन्नता हो सकती है। उनके जैसे तत्वज्ञ संत इस सृष्टि की तह में इसलिये जाना चाहते हैं ताकि इसका असली स्वरूप पहचानकर उसके प्रति विरक्त बनें एवं अन्य को भी निवृत्ति का मार्ग प्ररूपित कर सकें।

दार्शनिक मात्र अपनी अन्तरनदी में उफनती जिज्ञासाओं को समाहित करने हेतु इसे जानना चाहता है। मतों की इस भिन्नता ने जहाँ एक ओर उदारवाद का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न बनती गईं। सृष्टि के प्रश्न पर भी अनेक अवधारणाएँ बनीं। आगे के कुछ अनुच्छेदों में द्रव्य एवं सृष्टि के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपनिषद् के अनुसार द्रव्य एवं सृष्टिः—सर्वप्रथम यहाँ असत् था, इस असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।¹ कुछ ऋषियों के मत में असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम सत् ही था, उसने सोचा “मैं अनेक होऊँ” और सत् की इसी कल्पना से सृष्टि का निर्माण हुआ।² उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न मानता है। “यह सब ब्रह्म ही है और आत्मा ही ब्रह्म है।”³ चंद्रमा और सूर्य ब्रह्म की आँखें, अंतरिक्ष और दिशाएँ श्रोत्र और वायु इसका उच्छ्वास है।⁴

1. “असतः सदजायत” छान्दोग्य. 6.2.1

2. “कुतस्तु खलु सौम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति” सत्वेव सोम्येदमणु आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत ब्रह्मस्य प्रजायेयेति।” छान्दोग्य. 6.2.2

3. “सर्वं हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म” माण्डूक्य....

4. मुण्डोक्तपनि. 1.1

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की व्याख्या इस प्रकार बनायी गयी है “वह जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई और उत्पन्न होने के पश्चात् जीवन को धारण करते हैं, मृत्यु के बाद वे सारे ब्रह्म में ही समा जाते हैं।’ एक मत यह भी है कि जिस प्रकार बढ़ई मकान आदि बनाता है, ब्रह्मा ने भी उसी प्रकार से सृष्टि बनायी है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब ब्रह्म ने संसार बनाया तो बनाने की सामग्री उसे कहाँ से उपलब्ध हुई? इसका उत्तर आगे जाकर यह दिया गया कि ब्रह्म ही वहवृक्ष एवं काष्ठ है जिससे द्युलोक एवं पृथ्वी का निर्माण हुआ।²

इस प्रकार सृष्टि के संबंध में उपनिषदों में स्पष्ट विचारधारा मिलती है कि संपूर्ण चेतन-अचेतन ईश्वर-द्वारा सर्जित है एवं व्यय या विनाश होकर उसी में विलीन हो जाता है।

बौद्ध मत में द्रव्य एवं सृष्टि:—बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध से जब इस प्रकार के जीव, जगत विषयक प्रश्न किये जाते थे³, तब वे इन्हें अव्याकृत कहकर मौन ही रहते थे।

बुद्ध कहते थे ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं न ही धर्मयुक्त। इनका ज्ञान न तो ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है और न निर्वेद के लिए; इनसे न विराग होता है; न दुःखनिरोध; न शान्ति न अभिज्ञा; न संबोधि प्राप्त होती है और न निर्वाण, अतः इन्हें अव्याकृत कहा है।⁴

तथागत आगे कहते हैं “कुछ श्रमण और ब्राह्मण शाश्वतवाद को मानते हैं, कुछ उच्छेदवाद को, कुछ अंशतः दोनों को मानते हैं। ये सब इन्हीं प्रश्नों में उलझकर रह जाते हैं। मैं भी इनको जानता हूँ, प्रत्युत ज्यादा जानता हूँ, परंतु जानने का अभिमान नहीं करता, अतः तथागत निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं।”⁵

बुद्ध ने आगे यह भी कहा कि जो लोक (संसार) आदि का विवेचन

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 3.16 तैत्तिरीय ब्राह्मण 10.31.7
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण....
3. दीघनिकाय पोद्दठपादसुत्त 9
4. दीघनिकाय पोद्दठपादसुत्त 9
5. दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त 1

करते हैं क्या उन्होंने उस लोक का साक्षात्कार किया है? अगर नहीं, तो क्या उनका वचन अप्रामाणिक नहीं होगा?¹

बुद्ध ने तो यहाँ तक कहा कि जो इन अब्याकृत प्रश्नों में उलझकर रह जाता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।²

नागार्जुन समग्र व्यावहारिक धारणाओं की परीक्षा करके यही निर्णय लेते हैं कि यह सब कुछ असत्य है, मात्र शून्यता ही सत्य है।³

सांख्य के अनुसार द्रव्य एवं सृष्टि:—सांख्य द्वैतवादी है, क्योंकि यह पुरुष और प्रकृति दोनों की सत्ता स्वीकार करता है। इसके अनुसार कार्य कारण में विद्यमान होता है। कारण की परिभाषा करते हुए सांख्य कहता है कि कारण वह सत्ता है जिसके अंदर कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसके लिए वह कतिपय उक्तियाँ भी प्रस्तुत करता है।⁴ अभावात्मक पदार्थ किसी भी क्रिया का कारण नहीं हो सकता; असत् को सत् नहीं बनाया जा सकता। नीले को हजारों कलाकार भी पीला नहीं कर सकते।⁵ सांख्य इस सृष्टि को किसी बुद्धिमान् की रचना नहीं मानता, अपितु वह स्पष्ट कहता है कि प्रकृति का कार्यकलाप किसी सचेतन चिंतन का परिणाम नहीं है।⁶

बुद्धि रहित प्रकृति के बारे में कहा जाता है कि वह वैसे ही कार्य करती है जैसे वृक्ष फलों को उत्पन्न करते हैं।⁷ पुरुष स्वयं रचनात्मक शक्ति नहीं है, परंतु प्रकृति जो 'अनेकरूप विश्व' को उत्पन्न करती है वह पुरुष के मार्गदर्शन एवं संपर्क के कारण ही करती है। इस सिद्धांत को लंगड़े और अंधे के उदाहरण द्वारा समझाया है।⁸

सांख्य के अनुसार सृष्टि न यथार्थ है न अयथार्थ, फिर भी वर्णनीय है, क्योंकि अवर्णनीय की सत्ता नहीं है।⁹ सांख्य मतानुसार उसका न तो अस्तित्व

1. दीघनिकाय पोद्धपादसुत्त
2. मज्झिमनिकाय 63 चूलभालुक्यसुत्त 64, दीघनिकाय 9
3. न स्वती नाति परती.... भावा स्वचन केचन.मा.का. 11
4. असदकरणादुपादान.... सत्कार्यम्। सांख्यका.9
5. नहि नीलं शिल्पीसहस्रेण पीतं कर्तुं शक्यते" तत्व. कौमुदी- 2-9
6. सांख्यप्रवचन सूत्र 3.31
7. सांख्यप्रवचनसूत्र वृत्ति 2.1
8. पुरुषस्य दर्शनार्थं केवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। सांख्यका. 21
9. सांख्यप्रवचनसूत्र 5.54

है¹ और न ही मात्र वैचारिक सत्ता² यह जगत् प्रकृति के नित्य रूप में विद्यमान रहता है और अपने अस्थायी परिवर्तित रूपों में विलुप्त हो जाता है³ यह विकास और विलय का चक्र अनादि-अनंत है। प्रकृति का यह नृत्य मुक्ति तक चालू रहता है।⁴

सांख्य का सृष्टि क्रम इस प्रकार स्पष्ट है—प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से मन, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचकर्मेन्द्रियाँ पंचतन्मात्रा, एवं पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं⁵ ये चौबीस तत्व अचेतन हैं, फिर भी चेतन पुरुषके प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होते हैं। पुरुष सृष्टिव्यापार से अलिप्त है; न यह विकृति है न प्रकृति। मूल प्रकृति प्रकृति है; महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ, ये प्रकृति विकृति दोनों हैं। मन, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचकर्मेन्द्रियाँ और पंचमहाभूत, ये सोलह तत्व मात्र विकृति हैं।⁶

रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द, ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। इन पाँच तन्मात्राओं से अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश रूप पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है।⁷

न्यायवैशेषिक में द्रव्य व सृष्टि:—न्याय और वैशेषिक समान तंत्र माने जाते हैं। न्याय के अनुसार जगत् की सृष्टि तथा संहार को करने वाला व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ तथा नित्यज्ञानयुक्त शिव है।⁸

पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र आदि सभी किसी बुद्धिमान द्वारा निर्मित हैं, क्योंकि ये घट-पट की तरह कार्य हैं; और जितने भी कार्य हैं, वे सारे किसी न किसी की निर्मित हैं।⁹

न्याय और वैशेषिक असत्कार्यवादी माने जाते हैं। वैशेषिक परमाणु को जगत् का कारण मानते हैं। इस जगत में सारे पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील

1. सांख्यप्र. सू. 5.55

2. सा.प्र.सू. 1.42

3. सदसत्ख्यातिबधिबाधात् सा.प्र.सू. 5.56

4. सा.प्र.सू. 3.36

5. "प्रकृतेर्महांस्ततो.... पंच भूतानि" सा.का. 33

6. मूलप्रकृतिरविकृति.....विकृतिः पुरुषः" सा.का. 3

7. षड्दर्शनसमुच्चय 40, सा.का. माठर. पृ. 37

8. अक्षपादमते समाश्रयः" षड्दर्शनसमुच्चय 16

9. यद् यद् कार्यं तत्तद् बोधाधारकारणम्... तस्मात् बोधाधारकारणम्" प्रश. भा. पृ. 302

हैं; नित्य परमाणुओं के विभिन्न संयोगों से बनते हैं और वियोग से विनष्ट होते हैं। भौतिक पदार्थों के अवयवों का विभाग भी किया जाता है और इन अवयवों को पुनः अन्य अवयवों में विभक्त किया जा सकता है, इस अनवस्था से बचने के लिये अंतिम अवयव को अविभाज्य और निरवयव मानना होगा, और ऐसा अतीन्द्रिय नित्य अविभाज्य भौतिकद्रव्य परमाणु है।¹

परमाणु चार प्रकार के हैं। पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। आकाश एक और नित्य है।

प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में इन परमाणुओं से जगदुत्पत्ति का सुंदर विवेचन किया है।² अणुपरिमाण विशिष्ट परमाणुओं से द्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। द्र्यणुक कार्य होने से अनित्य है यद्यपि वह भी अणुपरमाणुक होता है। तीन द्र्यणुकों से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वह महत्परिमाणवाला होता है। यही इन्द्रियगोचर होता है। परमाणु की व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—छत के छेद से सूर्य की किरणों में जो छोटे कण नजर आते हैं वे त्रसरेणु हैं और उस त्रसरेणु का छठा भाग परमाणु है।³

परमाणु शांत और निस्पंद रहते हैं फिर उनमें स्पंद कैसे होता है? वैशेषिक इसका कारण धर्माधर्मरूप अदृष्ट को बताते हैं। जैसे सुई की अयस्कांतमणि में गति⁴, वृक्षों में रस का नीचे से ऊपर की ओर बढ़ना⁵ होता है, वैसे ही मन तथा परमाणुओं की पहली क्रिया अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में स्पंदन, और फिर उससे सृष्टि क्रिया मानी गयी है।⁶

चार्वाक के मत में द्रव्य एवं सृष्टि:—भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन का उल्लेख नास्तिक दर्शन में होता है। वह इस सृष्टि की रचना को किसी व्यक्ति विशेष की उपलब्धि न मानकर इसे पृथ्वी, जल, तेज और वायु के ही तत्त्वचतुष्टय के द्वारा उत्पन्न बताता है।⁷ जिस प्रकार महुआ आदि मादक सामग्री संयोग

1. न्यायभाष्य 4.2.17-25.7. प्रशस्तपादभाष्य पृ. 19-22

2. प्रशस्तपादभाष्य पृ. 19-22

3. जालान्तरगते भानी. यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणु सः उच्यते" उद्धृत आप्तमीमांसा पृष्ठ 20 से.

4. "मणिगमनसूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्" वै.सू. 5.1.15

5. "वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्" वै.सू. 5.2.7

6. प्रशस्त. भा. पृ. 20

7. पृथ्वी जल तथा.... चतुष्टयम्" षड्दर्शन. 43 "शरीरेन्द्रियविषय संज्ञेभ्यः..." प्रमेयकमल. पृ. 115

से विशिष्ट मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी तरह भूत चतुष्टय के विशिष्ट संयोग से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है।

भूत और भविष्य में इनका विश्वास नहीं है। इनकी प्रसिद्ध उक्ति है-
 “यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।”

इस प्रकार लोक (सृष्टि) के संबंध में अनेकों मत हैं। इसके विस्तृत विवेचन के लिये हमें हरिभद्रसूरि कृत ‘लोकतत्व निरूपण’ ग्रन्थ देखना चाहिये। अब हम जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि के संबंध में विवेचन पर दृष्टिपात करें।

द्रव्य व सृष्टि के संबंध में जैन दर्शन की मान्यता:—जैन दार्शनिकों ने जीवन से संबंधित समस्त पहलुओं पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। चूँकि मानव अपनी समस्त क्रियाएँ संसार में ही सम्पन्न करता है तो इस विषय पर जैन दार्शनिक मूक कैसे रह सकते हैं। भगवान महावीर के परम विनम्र शिष्य, “रोह” ने समाधान की प्रार्थना करते हुए महावीर से निवेदन किया कि “पहले लोक हुआ अथवा अलोक।”

भगवान ने उसकी जिज्ञासा को उपशांत करते हुए कहा-रोह! लोक और अलोक, ये दोनों अनादि हैं; इनमें पौर्वापर्य संबंध संभव नहीं है। इसके लिए उन्होंने अण्डे और मुर्गी का उदाहरण भी दिया। जहाँ पर हम रहते हैं वह लोक है। लोक में आकाश, धर्म, अधर्म, काल पुद्गल और जीव की सहस्थिति ही है।²

द्रव्य से परिपूर्ण इस सृष्टि को जैन दर्शन में लोक कहा जाता है। महावीर ने इस संपूर्ण सृष्टि को छः द्रव्यों से परिव्याप्त बताया है। जैन सिद्धांतों के प्रकाश में अभेदात्मक अपेक्षा से इस सृष्टि को द्रव्यमय एवं भेदात्मक दृष्टिकोण से षड्द्रव्यमय कहा जा सकता है।³

यह विश्व इस अनंतानंत “सत्” का विराट् आगर है और अकृत्रिम है; ⁴ किसी व्यक्तिविशेष या ईश्वर द्वारा रचित नहीं है। माध्यमिकों के अनुसार,

1. भगवती 1.6
2. जीवा चैव अजीवाय, अस्मि लोके वियहिए” उत्तरा. 36.2
3. धर्माधर्माकाश... दित्यादिर्यथा। प्रमाणन. 7.20
4. लोगो अकिट्टिमो खलु” मूलाधार 712

“पदार्थ न एक है और न अनेक। एक इसीलिये नहीं क्योंकि पदार्थों में विविधता है और उस विविधता को सिद्ध करने वाला प्रमाण न होने के कारण ‘अभावैकान्त’ कहना ठीक है।”

जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि अनंत है, उसमें न तो नया उत्पाद है और न प्राप्त सत् का विनाश है। वह मात्र पर्यायपरिवर्तन करता रहता है।

न तो असत् से सत् उत्पन्न होते हैं और न सत् का कभी विनाश होता है। समस्त साधन की उपलब्धता में भी मृत्पिंड के अभाव में घड़े का उत्पाद नहीं होता।² भाव (द्रव्य) मात्र गुण और पर्याय में परिवर्तन करते हैं, परंतु सत् का उत्पाद या विनाश कभी नहीं होता।³ हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में भी इसी व्याख्या की पुष्टि की है।⁴

जैन दर्शन ने द्रव्य छह माने हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं काल।⁵ तत्वार्थ सूत्र में यद्यपि ‘काल’ द्रव्य का वर्णन उपर्युक्त पाँच अस्तिकाय द्रव्यों के वर्णन के साथ तो नहीं उपलब्ध होता, परंतु इसी (पाँचवें) अध्याय के पैतीसवें सूत्र में काल को द्रव्य के रूप में लिया है।⁶ राजवार्तिक में द्रव्य की संख्या उपलब्ध होती है।⁷ कुंदकुंदाचार्य ने धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव, इनके लिये अस्तिकाय एवं काल को परिवर्तनलिंग युक्त कहकर द्रव्य की संख्या स्वीकार की है।⁸ वे सभी द्रव्य परस्पर मिश्रित रहकर एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं फिर भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते।⁹

वैशेषिक छह पदार्थ मानते हैं।¹⁰ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय

1. “भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्वतः। यस्मोदकमनेकं च, रूपं तेषां न विद्यते” प्रमाणवार्तिका. 2.360
2. शास्त्रवार्ता समुच्चय 6.28
3. भावस्स णत्थि णासो.... पुक्खंति पं. का. 15
4. शास्त्र. 6.37, एवं 11.5
5. त.सू. 1.3
6. त.सू. 5.35
7. रा.वा. 5.3.442
8. पं. का. 2.6
9. अण्णोण्णं पविसंता.... विजंहति प. का. न.
10. स्याद्वादमंजरी 8.48

वैशेषिकमत में द्रव्य का लक्षण है— जिसमें गुण और क्रिया पाये जायें तथा जो कार्य का समवायी कारण हो।¹ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश,, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य हैं।² एक अपेक्षा से अद्रव्यत्व और अनेकद्रव्यत्व भी द्रव्य का लक्षण है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व हैं, ये न किसी से उत्पन्न हैं और न किसी के उत्पादक हैं। अवशिष्ट पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये अनेक द्रव्यत्व हैं, क्योंकि ये अनेक द्रव्यों से उत्पन्न भी हैं और अनेकों के उत्पादक भी³ वैशेषिक दर्शन ने गुण को भी नितांत भिन्न माना है। जो एक द्रव्याश्रित हो गुणरहित एवं संयोग विभाग का सापेक्ष कारण हो, वह गुण है।⁴ रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न द्रवत्व, गुरुत्व, संस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म, और शब्द, ये 24 गुण होते हैं।⁵

वैशेषिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन भी एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से संबंध स्वीकार नहीं करते। परतंत्रता नाम संबंध का है परंतु जो वस्तु सिद्ध हो गयी उसमें परतंत्रता का प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए किसी भी पदार्थ में कोई वास्तविक संबंध नहीं है।⁶

1. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्” वै.सू. 1.1.15

2. वैशेषिकदर्शन 1.1.15

3. द्रव्यं द्विधा अद्रव्यमनेकद्रव्यं च। न विद्यते द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तद्द्रव्यं द्रव्यम् यथाकाशकालादि। अनेकं द्रव्यं जन्यतया च जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्यं द्रव्यम्” स्याद्वाद. 4.49 से उद्धृत

4. द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्” वै.सू. 1.1.16

5. रूप रस गंध.... प्रयत्नश्च” वै.सू. 1.1.6

6. पारतंत्र्यं हि संबंधः सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात् सर्वस्वभावस्य संबंधो नास्ति तत्त्वतः” “संबंधपरीक्षा” उद्धृतैयम् आ.मी. 1.11.123

जैन परम्परा मान्य द्रव्य का लक्षण

भूत और भविष्य को जोड़ने वाला वर्तमान है। अगर वर्तमान न हो तो भूत और भविष्य दोनों महत्वहीन हैं। जिसका हम आज अस्तित्व स्वीकार करते हैं, निःसंदेह अतीत में भी उसका अस्तित्व रहा है और भविष्य में भी रहेगा। अवस्था में परिणमन तो अनिवार्य है, परंतु परिणमन के मध्य कुछ ऐसा अप्रकंप तत्व है जो सर्वदा स्थायी है। दार्शनिक क्षेत्र में द्रव्य उसे ही कहते हैं जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में प्रतिपल परिणमन तो करे, परंतु अपने मौलिक स्वभाव की अपेक्षा नित्य रहे।¹ सत् और द्रव्य एक ही है; अथवा यह भी कह सकते हैं- जो सत् है, वही द्रव्य है।²

अवस्थाओं का परिणमन उसी में संभव है जो ध्रुव या नित्य रहे। नित्य की अनुपस्थिति में न तो पूर्ववर्ती अवस्था संभव है और न ही उत्तरवर्ती। नित्य का लक्षण उमास्वाति ने इस प्रकार बताया है- जो अपने भाव से कभी च्युत न हो, वह नित्य है।³

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की इस व्याख्या से युक्त परिणमन की परम्परा से युक्त होकर भी द्रव्य अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता। अतः इस सत् (द्रव्य) को त्रिलक्षण ही कहना चाहिये।⁴ द्रव्य में न तो मात्र उत्पाद संभव है और न ही मात्र व्यय, और ध्रौव्यता के अभाव में उत्पाद व्यय किसका आश्रित होगा।⁵ प्रतिपल उत्पाद व्यय की स्थिति के मध्य भी द्रव्य की अपनी स्वरूप हानि नहीं होती।⁶

1. "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" त. सू. 5.29.

2. "गोयमा सद्व्ययाए" भ. 8.9.55.

3. "तद्भावाव्ययं नित्यम्" त. सू. 5.30.

4. एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां...सत्वमनुमोदनीयम्" प्र.सा.त.प्र.वृ. 99.

5. ण भवो भंगविहीणो...विणा धोव्हेण अत्येण" प्र.सा. 100.

6. पादुब्भवादि य अण्णी...उप्यण्णं" प्र.सा. 103.

द्रव्य और सत्ता, इनमें मात्र शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि द्रव्य और सत्ता इन दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग मिलता है। द्रव्य और सत्ता के एकार्थक होने का कारण प्रवचन सार में इस प्रकार से प्राप्त होता है, “द्रव्य अगर सत् नहीं है तो असत् होगा; और असत् तो द्रव्य नहीं हो सकता, अतः द्रव्य स्वयं सत्ता है।¹

चेतन और अचेतन जितने भी हैं, वे सभी द्रव्य कहलाते हैं। चेतन और अचेतन द्रव्यों में उत्पाद व्यय वैसे ही होता है जिस प्रकार मृत्पिंड से घड़े का निर्माण और पिण्डावस्था का नाश। मिट्टी से जब घड़ा बना तब मृत्पिंडाकार का व्यय और घट की उत्पत्ति हुई, पर इन दोनों अवस्थाओं में मृत्तिका की स्थिति यथावत् (ध्रुव) रहती है।²

गुणरत्नसूरि ने ‘षड्दर्शन समुच्चय टीका’ में सत् की यही व्याख्या दी है- “समस्त वस्तुएँ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो उत्पाद व्यय युक्त नहीं हैं वे सत् नहीं हैं।³ सत् शब्द के लोकभाषा में विभिन्न अर्थ मिलते हैं, पर यहाँ सत् का अर्थ अस्तित्व है।⁴

स्वयं हरिभद्रसूरि ने “उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त को ही सत् के रूप में प्रतिष्ठित किया है।⁵

‘पंचास्तिकाय’ में कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य की व्याख्या इस प्रकार दी है, “जो सद्भाव पर्यायों को द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं, और ऐसा द्रव्य सत्ता से अनन्यभूत है।⁶

अगले ही श्लोक में उन्होंने द्रव्य के तीन लक्षण बताये- जो सत् लक्षण वाला हो, जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त हो एवं जो गुण पर्यायों का आश्रय हो, वही द्रव्य है।⁷

1. “ण हवदि जदि सह्वं...दब्बं सयं सत्ता” प्र.सा. 105.

2. चेतनस्य अचेतनस्य...घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमा...घटोत्पत्तौ पिण्डाकृते:” स.वा. 5.30. 494, 95.

3. सर्वं वस्तुत्पादव्यय...तत्सदपि न भवति” षड्दर्शन टी. 57.360.

4. तत्रेह विवक्षातः...वेदितव्यः स.वा. 5.30.495.

5. येनोत्पाद...तत्सदिष्यते षड्दर्शन. 57.

6. दवियदि गच्छदि...भूदंतु सत्तादी” पं. का. 9.

7. दब्बं सत्त्वस्सणयं...भण्णंति सब्बण्णु” पं. का. 10.

द्रव्य का लक्षण-गुण पर्याययुक्त है:—गुण और पर्याय युक्त को ही द्रव्य संज्ञा से अभिहित किया है।¹ नियम सार में भी द्रव्य की यही व्याख्या है।² इसी व्याख्या से मिलती जुलती व्याख्या प्रवचन सार एवं न्यायविन्दु में उपलब्ध होती है।³ गुण और पर्याय के साथ सत्, जिसे द्रव्य कहते हैं, का तन्मयत्व है।⁴

द्रव्य गुण और पर्याय ये तीनों एक साथ पाये जाते हैं, इन तीनों में सह अस्तित्व है। तीनों में से एक भी विभक्त नहीं होता। द्रव्य का अभाव गुण का भी अभाव कर देगा और गुण के अभाव में द्रव्य का भी अस्तित्व नहीं होगा; द्रव्य और गुण अव्यतिरिक्त हैं।⁵ इसी प्रकार से पर्याय के अभाव में द्रव्य नहीं हो सकता और द्रव्य के अभाव में पर्याय नहीं; द्रव्य और पर्याय भी अनन्यभूत है।⁶ जो अन्वयि हैं वे गुण हैं जो और व्यतिरेकी हैं, वे पर्याय हैं।⁷

गुण और पर्याय को और ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि द्रव्य में भेद करने वाले को गुण (अन्वयी) और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं।⁸

गुण और पर्याय को उदाहरण सहित इस प्रकार समझाया है, “ज्ञान आदि गुणों द्वारा ही जीव अजीव से भिन्न प्रतीत होता है। जीव में घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान आदि पाये जाते हैं। वे जीव द्रव्य की पर्यायें हैं।⁹

गुण और पर्याय युक्त समूह को तो द्रव्य सभी कहते हैं।¹⁰ परंतु कहीं-कहीं मात्र गुणों के समुदाय को भी द्रव्य कहते हैं; केवल इतने से भी कोई आचार्य द्रव्य का लक्षण कहते हैं।¹¹

सहभावी और क्रमभावी की अपेक्षा गुण-पर्यायः—द्रव्य में गुण सहवर्ती एवं

1. “गुणपर्यायवत् द्रव्यम्” त.सू. 5.38.
2. नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः नि.सा. 9.
3. प्र.सा. 95, न्यायबिं. 1.115. 428.
4. जेसि अत्थि...विविहहि” पं. का. 10.
5. दब्बेण विणा हवदि तम्हा पं. का. 13.
6. पज्जयविजुद... अणणभूदं पं. का. 12.
7. अन्वयिनोगुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः स. सि. 5.38.600.
8. गुण इदि दब्बविहाणं... अजुपदसिद्धं हवे णिच्च” सं. सि. पृ. 237 पर उद्धृत.
9. द्रव्यं द्रव्यांतराद् येन विशिष्यते स गुणः, ज्ञानादयो जीवस्य गुणाः... तेषां विकारा... घटज्ञानं, पटज्ञानं, क्रोधो... इत्येवमादयेः” स. सि. 5.38.600.
10. “गुणपर्यायसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः” प. ध. पृ. 72.
11. गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युच्यन्ति बुधाः प. ध. पू. 733. सहक्रम प्रवृत्तगुण पर्याय पं. का.टी.11.

पर्याय क्रमवर्ती कहलाते हैं।¹ सहभावी धर्म तत्व की स्थिति और क्रमभावी धर्म तत्व की गतिशीलता के सूचक होते हैं। पर्याय परिणमन प्रतिपल होता रहता है। जैसे चावल को पकाने के लिये बर्तन में डाला और उसे आग पर रखा। वह आधे घंटे में पके तो यह नहीं समझना चाहिये कि 29 या 29.5 मिनट में वह ज्यों का त्यों रहा और मात्र अंतिम क्षण में पक गया।

उसमें सूक्ष्मरूप से परिवर्तन प्रथम समय में ही प्रारंभ हो गया था। अगर प्रथम क्षण से परिवर्तन प्रारंभ नहीं होता तो दूसरे क्षण में परिवर्तन संभव ही नहीं है।²

वादीदेव सूरि ने पर्याय एवं गुण को विशेष के दो प्रकार बताये हैं एवं सहभावी धर्म को गुण की संज्ञा दी है। ज्ञान शक्ति आदि आत्मा के गुण हैं,² जिनका कभी नाश नहीं होता। अगर जीव का ज्ञानादि गुण समाप्त हो सकता तो वह अजीव हो जाता और इस प्रकार, द्रव्य की इस मूल व्याख्या का ही लोप हो जाता कि “द्रव्य से द्रव्यांतर” नहीं होता।

द्रव्य की उत्पादव्ययात्मक जो पर्यायें हैं, वे क्रमभावी हैं, जैसे- सुख, दुःख, हर्ष आदि।³

टीकाकार रत्नप्रभाचार्य ने गुण और पर्याय की इस भिन्नता का कारण काल को बताया है।⁴

न्यायविनिश्चय में भी द्रव्य में गुणों को सहभावी एवं पर्याय को क्रमभावी कहा है।⁵

स्वजाति का त्याग किये बिना द्रव्य में दो प्रकार के परिणमन होते हैं, अनादि एवं आदिमान। सुमेरु पर्वत आदि के आकार इत्यादि अनादि परिणाम हैं। आदिमान दो प्रकार का है, एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। स्वाभाविक को वैस्रसिक भी कहते हैं। कर्मों के उपशम होने के कारण जीव

1. यथा व्यावहारिकस्य... च न स्यादिति त. वा. 5.22.

2. “विशेषोपि द्विरूपो गुणः पर्यायश्चेति, गुणः सहभावी धर्मो यथात्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति” प्रमाण न. 5.6.7.

3. पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति” प्रमाण न. 5.8.

4. स्याद्वाद. म 5.8.736.

5. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ते सहक्रमप्रवृत्तयः” न्यायवि. भू. 1.115.428.

आदि जो भाव हैं; जिनमें पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, वे वैज्ञानिक में औपशमिक हैं और जो ज्ञान, शील आदि गुरु के निमित्त से होते हैं, वे प्रयोगज हैं। कुम्हार के द्वारा अचेतन मिट्टी को घट आदि का आकार देना प्रयोगज है। इन्द्रधनुष, बादल आदि स्वाभाविक हैं।¹

इन्हें क्रमशः स्वभाव पर्याय एवं विभाव पर्याय भी कहते हैं। अन्य के सहयोग के अभाव में होने वाले परिणमन को स्वभाव पर्याय एवं निमित्त से होने वाले परिणमन को विभाव पर्याय कहा जाता है। जीव की स्वभाव पर्यायें अनन्तज्ञान आदि हैं। इसी प्रकार पुद्गल की स्वभाव पर्यायें रूप आदि हैं।

स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों में पायी जाती है, परंतु विभावपर्याय मात्र जीव और पुद्गल में ही पायी जाती है। जीव की विभावपर्यायें नारकदेव आदि एवं पुद्गल की विभाव पर्यायें स्कंधरूप (स्थूल रूप) आदि हैं।²

जिस प्रकार द्रव्य में पर्याय अनिवार्य हैं, उसी प्रकार गुण भी उतने ही आवश्यक हैं। “द्रव्य रूप से तो द्रव्य सभी एक (समान) ही हैं। परंतु गुण भेद के कारण ही द्रव्यभेद है।³ पर्याय तो विनाशशील है, परंतु गुण ध्रुव है। जैसे अंगूठी, हार आदि बनने पर स्वर्ण में आकृति परिवर्तन तो हो गया, परंतु स्वर्ण का पीतगुण स्थायी ही रहा। इसे सदृश परिणमन भी कहते हैं।⁴

“अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, प्रदेशत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व, इस प्रकार से ये दस सामान्य गुण हैं। प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण पाये जाते हैं, जैसे जीव में मूर्तत्व और अचेतनत्व का अभाव है और पुद्गल में अमूर्तत्व एवं चेतनत्व का अभाव है।⁵

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहन हेतुत्व, वर्तनहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व और मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये सोलह द्रव्यों के विशेष गुण हैं। अंत के चार गुणों को स्वजाति की अपेक्षा सामान्य और विजाति की अपेक्षा विशेष गुण कहा जाता है।⁶

1. द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन... परिणामो वैज्ञानिक : त. वा. 5.22.
2. यः सर्वेषां द्रव्याणां जीवपुद्गलादीनां... उत्पादयतीति का. प्रे. टी. 216.
3. सव्वाणं द्रव्याणं... भिष्णाणि का. प्रे. 10.236.
4. मरिमो जो... गुणो मोहि का. प्रे. 10.241.
5. का. प्रे. टी. 241.
6. का. प्रे. टीका 10 : 241.

जो गुण सभी द्रव्यों में पाया जाये वह सामान्य और जो अमुक द्रव्य में ही पाया जाये वह विशेष गुण है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में शुभचंद्र ने छः सामान्य गुणों की व्याख्या इस प्रकार की है- जिससे द्रव्य का नाश न हो वह अस्तित्व, जिससे अर्थक्रिया हो वह वस्तुत्व, जिससे सदा परिणामन हो वह द्रव्यत्व, जिससे द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो वह प्रमेयत्व, जिससे द्रव्यांतर एवं गुणांतर न हो वह अगुरुलघुत्व, जिससे द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहे वह प्रदेशित्व गुण है।¹

गुण की व्याख्या करते हुए उमास्वाति ने कहा कि “गुण द्रव्य के आश्रित और स्वयं निर्गुण होते हैं।”²

प्रवचनसार की टीका में अमृतचंद्राचार्य ने गुण को सामान्य-विशेषात्मक कहा है। उन्होंने अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि को सामान्य; एवं गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, अवगाहनत्व, वर्तनाय तनुत्व, रूपादिमत्व एवं चेतनत्व को विशेष गुण कहा है।³

वस्तु अनंतधर्मात्मक है:—सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय होते हैं। प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है।⁴ सभी वस्तुओं में अगर हम पदार्थ में अनंतधर्मों को स्वीकार नहीं करते तो वस्तु की सिद्धि नहीं होती, अतः वस्तु अनंतधर्मात्मक ही माननी चाहिए।⁵

एक अन्य अपेक्षा से पर्याय के दो प्रकार हैं- अर्थपर्याय एवं व्यंजनपर्याय। भेदों की परंपरा में जितना सदृश परिणामप्रवाह किसी भी एक शब्द के लिए वाच्य बन कर प्रयुक्त होता है वह प्रवाह व्यंजनपर्याय कहलाता है। और उस परंपरा में जो भेद अंतिम और अविभाज्य है वह अर्थपर्याय कहलाता है। जैसे चेतन पदार्थ का सामान्य रूप जीवत्व है। काल कर्म आदि के कारण

1. वही.

2. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः त. सू. 5.41.

3. प्र. सा. ता. प्र. पृ. 95.

4. अनंतकालस्त्रिकालविषयत्वाद... तदनंतधर्मात्मकम्” स्याद्वादो 22.200.

5. अनंतधर्मात्मकमेव... सत्वमसूपपादम् अन्यययो. 22.

उसमें 'उपाधिकृत संसारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व, बालत्व आदि अनंत भेदोंवाली अनेक परंपराएँ हैं। उन परम्पराओं में निरंतर पुरुष रूप समान प्रतीति का विषय और एक 'पुरुष' शब्द का प्रतिपाद्य जो सदृश पर्याय प्रवाह है वह तो व्यंजन पर्याय और पुरुषरूप में सदृश प्रवाह के अंतर्गत दूसरे बाल, युवा आदि जो भेद हैं, वे अर्थपर्याय हैं।'

जन्म से मृत्यु पर्यंत पुरुष के लिए जो 'पुरुष' संबोधन दिया जाता है, वह व्यंजन पर्याय का उदाहरण है। उस पुरुष के बाल युवा आदि अंश अर्थपर्याय के उदाहरण हैं।² यहाँ अंश का अर्थ पर्याय है।

व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से देखने वाले को 'पुरुष' निर्विकल्प या अभिन्न रूप में दिखता है, और बचपन आदि विकल्प युक्त देखने पर वही (पुरुष) अर्थपर्याय के रूप में भिन्न-भिन्न (बाल, युवा आदि) दिखता है।³

व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय का अल्प विवेचन शुभचंद्र ने भी किया है। उनके अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अर्थपर्याय एवं जीव और पुद्गल में अर्थ और व्यंजन दोनों प्रकार की पर्यायें उपलब्ध होती हैं।⁴

जैन दर्शन का यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त 'सत्' सिद्धांत 'परिणामी नित्यत्ववाद' कहलाता है। इस सिद्धांत की तुलना 'रासायनिक विज्ञान' के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है। इस सिद्धांत की स्थापना Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने थी। इसके अनुसार विश्व में द्रव्य का परिणमन सदा होता है, परंतु न्यूनाधिकता नहीं होती। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश समझा जाता है वह उसका रूपांतर में परिणमन मात्र है, जैसे-कोयला जल कर राख हो जाता है। साधारण रूप से इसे नाश होना कहते हैं, परंतु वास्तव में तो वह वायुमंडल ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो गया है।

इसी प्रकार शक्कर या नमक भी पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, परंतु वे ठोस से द्रव में रूपांतरित हो जाते हैं। वस्तुतः नवीन वस्तु की उत्पत्ति

1. सन्मतिर्क 1.30 पर प. सुखलालजी एवं बेचरदास जी का विवेचन
2. पुरिसमि पुरिससही... बहुवियप्पा स. त. 1.32.
3. वंजणपज्जायस्स... अत्थपज्जाओ स. त. 1.34.
4. का. प्रे. टीका 10.220.

नहीं होती मात्र रूपांतर होता है।

प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, वे तो एक दूसरे में मात्र परिवर्तित होते हैं।¹

क्षण-क्षण में परिवर्तनशील पदार्थ यदि समाप्त होते तो आज सृष्टि का यह स्वरूप नहीं होता। परिवर्तन के अभाव में मात्र उत्पाद से सृष्टि का यह स्वरूप संभव नहीं था।²

‘सन्मति तर्क’ में इस उत्पाद-व्ययरूप परिणमन को प्रयत्नजन्य और अप्रयत्नजन्य दो प्रकार का कहा है। प्रयत्नजन्य वह है जो कि अपरिशुद्ध है। इसे समुदायवाद भी कहा जाता है।³

परिणमन अस्तित्व का ही स्वभाव है। ‘सद्’ का यह लक्षण ईश्वरवादियों की मान्यता का प्रतिरोध करता है। ईश्वरवादियों के अनुसार परिणमन ईश्वर द्वारा प्रेरित है। कहा भी है- ईश्वर से प्रेरित जीव ही स्वर्ग की ओर प्रस्थान करता है। ईश्वर के सहयोग बिना जीव सुख-दुःख को भी नहीं प्राप्त कर सकता।⁴ प्राणी के प्रयत्नों द्वारा होने वाले परिवर्तन को प्रयत्नजन्य और अन्य किसी द्रव्य के सहयोग बिना के प्रयत्न होने वाले को अप्रयत्नजन्य कहते हैं। वैशेषिक मात्र प्रयत्नजन्य परिणाम ही स्वीकार करते हैं।⁵

यह प्रयत्नजन्य और अप्रयत्नजन्य परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक, दो प्रकार का है। दूध में शक्कर मिलाने से दूध में होने वाली मधुरता की उत्पत्ति सामुदायिक प्रयत्नजन्य उत्पाद है।

अलग-अलग रहने वाले अवयवों को मिलाकर या जुड़े हुए अवयवों को अलग कर जो उत्पाद और विनाश किया जाता है, वह सामुदायिक उत्पाद एवं विनाश है; और एक ही द्रव्य के आश्रित न होने के कारण यह अपरिशुद्ध परिणमन है।

सामुदायिक उत्पाद और विनाश, स्कंध सापेक्ष होने के कारण और स्कंध

1. मुनि नथमलजी - जैन धर्म और दर्शन पृ. 330.

2. उत्पादध्रुवविनाशैः... दृश्यते द्रव्यानु. त. 9.2.

3. उष्णाओ दुवियाओ- अपरिशुद्धा स.त. 3.32

4. ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा। अन्योजंतुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः, महाभारत वनपर्व30.28

3. भित्वाद्यो बुद्धिमत्कृतकाः कार्यत्वाद् घटवदिति। उदधृतोयम् स्याद्वमः पृष्ठ 32

पुद्गलद्रव्य में ही सम्भव होने के कारण मूर्त द्रव्य में ही संभव हैं, अमूर्त में नहीं। घट-पट आदि जो भी मूर्त पदार्थ हैं, वे सभी प्रयत्नजन्य परिवर्तन हैं। बादल, पहाड़ आदि का सर्जन और विसर्जन क्रमशः वैश्वसिक/सामुदायिक उत्पाद एवं विनाश हैं।

बिना किसी अन्य द्रव्य से मिले अर्थात् एक स्वतंत्र द्रव्य में जो उत्पाद या विनाश होता है, वह एकत्विक अप्रयत्नजन्य उत्पाद एवं विनाश है। यह स्कंधश्रित न होने के कारण परिशुद्ध भी कहलाता है। इसका विषय मात्र अमूर्तद्रव्य और एक-एक (स्वतंत्र) द्रव्यरूप है। यह परिणमन आकाश, धर्म और अधर्म में ही संभव है। यह प्रयत्नजन्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये तीनों अस्तिकाय गति एवं क्रिया रहित हैं। अतः इसमें प्रयत्न का अभाव है।

प्रयत्नजन्य और अप्रयत्नजन्य, इन दोनों ही सामुदायिक विनाशों के समुदायविभागमात्र एवं अर्थांतरभावप्राप्ति नाम के दो दो प्रकार हैं। सामुदायिक प्रयत्नजन्य विनाश का उदाहरण है प्रयत्न पूर्वक बनाये गये मकान से ईंट आदि अवयवों का अलग हो जाना। सामुदायिक अप्रयत्नजन्य विनाश का उदाहरण है प्रकृतितः बने हुए बादलों का स्वतः ही बिखर जाना। अवयवों से अलग हुए बिना (उसी द्रव्य में) पूर्व आकार को छोड़ कर नए आकार को धारण करना प्रयत्नजन्य अर्थांतरभाव विनाश है, जैसे- कड़े से कुंडल बनना।¹ अप्रयत्नजन्य अर्थांतरभाव का उदाहरण है भौतिक संयोग से या ऋतु परिवर्तन से बरफ का पानी, और पानी का भाप बनना।²

उमास्वाति ने एक अन्य अपेक्षा से भी परिणमन की व्याख्या की है- किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक परिणमन 'पारिणामिक भाव' कहलाता है; एवं परमाणुओं के मिलने से जो परिणमन होता है, वह औदयिक भाव कहलाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में जो परिणमन होता है वह पारिणामिक है। पुद्गल द्रव्य में पारिणामिक एवं औदयिक, दोनों परिणमन होते हैं। परमाणु में पारिणामिक परिणमन होता है। स्कंधों में रूप, रस आदि में होने वाला औदयिक परिणमन है। जीव में सभी परिणमन होते हैं।³

1. सामाविओ वि समुदयकओ- पञ्चओणियमा सन्मतित. 3.33.

2. विगमस्स वि एस... भावगमणं च स. त. 3.34 एवं इसी पर संपादक युगल का विवेचना।

3. भावो धर्माधर्मास्वर- भावानुगा जीवाः प्रशमरति 209.

द्रव्य त्रैकालिक है:- अपने परिणामी स्वभाव के कारण द्रव्यों में प्रतिक्षण परिणमन होना अवश्यम्भावी है, वे किसी भी क्षण परिणमन शून्य नहीं रह सकते। परिणमन करने पर भी वे अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करते। वे तद्भाव परिणमन करते हैं।¹ अनादि काल के इस परिणमन प्रवाह में द्रव्य जितने थे, उतने ही हैं; न घटे हैं और न बढ़े हैं।

जीव द्रव्य अथवा अन्य कोई भी द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, मात्र पर्याय परिणमन होता है।² इससे यह स्पष्ट अवबोध होता है कि द्रव्य की सत्ता त्रैकालिक है।

द्रव्य में अतीत में अनंत पर्याय हो चुकी हैं। भविष्य में भी अनंत पर्यायें होगी, मात्र वर्तमान की अपेक्षा पर्याय एक है।³ पर्यायवाला ही द्रव्य होता है। इस प्रकार से, सूत्रकार के स्पष्टीकरण से तीनों कालों में द्रव्य का अस्तित्व निर्विवाद है।⁴

तीनों कालों को विषय करने वाले नयों और उपनयों के विषयभूत अनेक धर्मों के तादात्म्य संबंध को प्राप्त समुदाय का नाम द्रव्य है। वह द्रव्य एक (सामान्य की अपेक्षा) भी है और अनेक (विशेष की अपेक्षा) भी।⁵

पर्याय द्रव्य में ही होती है। अतः जब पर्यायों का त्रैकालिक अस्तित्व है, तो उसका आश्रयदाता द्रव्य तो स्वतः त्रैकालिक हो जाता है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोग व्य. में सत् का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा है कि प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और नाश होने वाले पदार्थों की स्थिति देखकर भी जो द्रव्य के उत्पाद और विनाश को नहीं मानते, इसमें उनकी कलुषित मानसिकता ही कारण हो सकती है।⁶

उत्पाद और विनाश दोनों का अधिकरण त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य ही है, जैसे चैत्र और मैत्र दोनों भाइयों का अधिकरण एक माता है।⁷

1. तद्भावः परिणामः त. सू. 5.42

2. मणुसत्तणेण- प.का. 17.18.19

3. का. प्रे. 10.221 एय दवियम्मि- ह्वइ दब्बं घ. 1.1.136. 199 क. पा. 1.1.14.108

4. पर्ययवद् द्रव्यमिति- द्रव्यमुक्तम् लो. वा. 2.1.5.63.269.

5. नयोपनय- द्रव्यमेकमनेकधा भा.मी. 10.107.

6. प्रतिक्षणोत्पाद--पिशाचकी वा. अन्ययो 21.

7. स्थिरमुत्पादविनाशयौ यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी स्यात् वही 21.197

आत्मा शब्द से अनंत पर्यायों में रहने वाले अनंत धर्मात्मिक नित्य द्रव्य का सूचन होता है।¹

आत्मसाधक श्रीमद् राजचंद्र के शब्दों में द्रव्य की नित्यता इस प्रकार स्पष्ट हुई है- “संपूर्ण रूप से द्रव्य का नाश तो होता ही नहीं, अगर द्रव्य का ही नाश हो जायेगा तो हे साधक! तू खोज कि वह किसमें मिश्रित होगा, अर्थात् तुझे समझ में आ ही जायेगा क्योंकि चेतन चेतनानंतर नहीं होता।”²

“बचपन, युवा एवं प्रौढ़ अवस्था में एक ही आत्मा द्रव्य है मात्र अवस्थागत परिवर्तन से आत्मा नहीं बदलता, वैसे ही पर्याय परिणमन तो होता है पर द्रव्य नित्य (अनाशवान) ही है।”³

द्रव्य के त्रैकालिक होने में कारण है, क्योंकि जिसका उत्पाद होता है विनाश भी उसी का होता है। द्रव्य तो न किसी का उत्पाद है और न उसका व्यय होता है।⁴ वही जन्मता और वही मरता है अर्थात् मात्र उसमें पर्याय परिणमन होता है, सर्वथा नाश नहीं। इस प्रकार का एकत्व तभी संभव है जब कोई उत्पत्ति और व्यय होते हुए भी ध्रुव हो।⁵

उत्पत्ति और विनाश में नित्य रहने वाला एकत्व भी दो प्रकार का है, मुख्य और उपचरित। आत्मा आदि में तो मुख्य एकत्व होता है जैसे जो आत्मा नरक में थी वही अब मनुष्य है; जो आत्मा बचपन में थी वही जवानी और बुढ़ापे में है इत्यादि में मुख्य एकत्व ज्ञान है और सादृश्य युक्त वस्तु में उपचरित एकत्व होता है, जैसे काटने के बाद पुनः उत्पन्न हुए नख और केश।⁶

परिणमन अस्तित्व की अनिवार्यता है:- परिणमन करना अस्तित्व का स्वभाव है। जिसमें प्रतिक्षण परिणमन की क्षमता नहीं होती वह अपनी सत्ता स्थायी नहीं रख सकता। यह अस्तित्व गत परिणमनशीलता आरोपित नहीं है। द्रव्य का स्वयं का स्वभाव है कि वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त हो।⁷ स्वभाव में स्थिति

1. अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि--द्रव्यं ध्वनितम् स्याद्वाद. 22.203

2. क्यारे कोई... केमां भले तपाम आत्मसिद्धि 70.

3. आत्मा द्रव्ये नित्ये एकने थाय आ. सि. 68.

4. आ. सि. 66.

5. सो चेव जादि-पज्जाओ प.का. 18.

6. द्विविधं (ह्येकत्वं) मुख्यमुपचरितं-सादृश्ये तदुपचरितमिति अष्टस. 161.

7. प्र.सा. 95.96.

का नाम ही सत् है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होना यह पदार्थ का स्वभाव है।¹

सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन के प्रवाह से गुजरते हैं। जो स्थिति प्रथम समय में थी वह दूसरे समय में नहीं होगी, परंतु परिणमन के कारण सर्वथा नवीनता भी नहीं आती।²

पर्याय दृष्टि से वस्तु की उत्पत्ति और विनाश देखे जाते हैं, क्योंकि पर्यायों का परिणमन निर्वाध रूप से हमारे अनुभव में आता है।³

उत्पादित को परस्पर निरपेक्ष ही मान लिया जाये तो उनकी कल्पना आकाशकुसुम की तरह थोथी होगी। अतः उत्पाद-व्यय रूप परिणमन सापेक्ष है। इस परिणमन का कोई अपवाद नहीं है, क्योंकि परिणमन के कारण ही पुण्य, पाप, परलोक गमन, सुखादिफल, बंध और मुक्ति संभव हैं।⁴

“जीव द्रव्य मनुष्य रूप से नष्ट हुआ और देव के रूप में पैदा हुआ”, यही परिणमन है। अगर परिणमन स्वभाव नहीं हो, तो क्या सृष्टि में परिवर्तन नजर आता? सृष्टि के परिवर्तन का कारण ही सत् का उत्पाद-व्यय रूप परिणमन है जिसे शास्त्रीय भाषा में अर्थक्रिया भी कहते हैं।

पर्याय परिणमन के कारण ही ऊर्जा में वृद्धि एवं हानि होती है।

सभी पदार्थों में नाना प्रकार की शक्ति है, और वे पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार परिणमन करते हैं और उनकी इस परिणमन की क्रिया में कोई बाधक नहीं बन सकता। जिस प्रकार भव्यत्व शक्ति से युक्त जीव काल लब्धि को प्राप्तकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है उसमें कोई बाधक नहीं बन सकता।⁶

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन के पहले यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति रूप में और शक्ति को द्रव्य रूप में नहीं बदला जा सकता, परंतु आइंस्टीन ने इस धारणा को खंडित कर दिया। यह माना जाने लगा कि

1. प्र.सा. 99.

2. सर्वव्यक्तिषु नियतं...व्यवस्थानात्...उद्धृतेयम्, अनेकांतवाद प्र.पृ. 51.

3. द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुन-पर्यायानुदसभावात्, षड्. समु. टी. 57.357

4. उत्पादः केवली प्रतिपत्तव्यौ अष्टस. पृ. 211. पुण्यपाप!न तेषां आ.मी. 3.40

5. मणुसत्तणेण-इदरो वा पं. का. 17.

6. “कामाद् लद्धिं जुत्ता-हवे काली” का.प्रे. 10.219

द्रव्य और शक्ति भिन्न-भिन्न नहीं हैं; एक ही वस्तु के रूपांतरण हैं। एक पौंड कोयले से शक्ति के रूप में दो किलोवाट की विद्युत शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

चूंकि वैज्ञानिक परीक्षण पुद्गल तक ही सीमित हैं, अतः पुद्गल की शक्ति को मापा जाता है, परंतु द्रव्य चाहे पुद्गल हो या जीव, सभी अनंत शक्ति संपन्न है और इसी कारण उसका त्रैकालिक अस्तित्व है।

परिणमन का अर्थ है अवस्थांतर होना। कोई व्यक्ति एक स्थान से प्रयाण कर अन्य स्थान पर पहुँचा। स्थान का परिवर्तन तो हुआ, परंतु व्यक्ति में परिवर्तन नहीं हुआ। द्रव्य का परिणमन भी ऐसा ही है। सर्वथा उत्पाद या विनाश न होकर मात्र अवस्था का परिवर्तन है।'

कूटस्थ नित्यवादियों की मान्यता है कि पदार्थ सर्वथा नित्य होते हैं, क्योंकि वे सत् हैं "सर्वं नित्यं सत्वात्"। उनके अनुसार क्षणिक पदार्थों में अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि क्षणिक पदार्थ एक क्षण के बाद दूसरे क्षण में स्थिर नहीं रहते। जबकि बौद्धों की मान्यता है कि "संपूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि वे सत् हैं—'सर्वं क्षणिकं सत्वात्।' नित्य पक्ष में अर्थक्रिया संभव नहीं है। अर्थक्रिया के लिये पूर्व स्वभाव का विनाश और उत्तरकालीन स्वभाव का पदार्थ के प्रयोजन भूत कार्य को धारण करना आवश्यक है जो कि नित्य तत्व में संभव नहीं है।²

जैन दर्शन इन दोनों मान्यताओं का खंडन करता है। उसके अनुसार "जो दोष नित्य एकांतवाद में है, वही दोष सर्वथा क्षणिकवाद में है।"³

सर्वथा नित्य एकांतवाद में सुख, दुःख, पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती।⁴

अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूप को नित्य कहते हैं। यदि आत्मा अपनी कारणसामग्री से सुख को छोड़कर दुःख का उपभोग करने लगे तो अपने नित्य और एक स्वभाव के त्याग के कारण आत्मा को अनित्य मानना

1. परिणामस्तद्विदामिष्टः उद्धृतेयम् स्याद्वाद. 239

2. स्याद्वादमं 26.233.34.

3. अन्ययोगव्य 26.

4. नैकांतवादे सुखदुःखभोगे...बंधमोक्षौ" अन्ययो. 27.

पड़ेगा।¹ अतः एकांतवाद में अर्थक्रिया संभव ही नहीं है। इसी प्रकार क्षणिकवाद में भी अर्थ क्रिया संभव नहीं, क्योंकि वहाँ हिंसा का संकल्प करने वाला अलग है, हिंसा करने वाला कोई दूसरा है और हिंसा का परिणाम भोगने वाला कोई तीसरा ही है।²

हम हिंसक किसे कहें? क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार हिंसा करने वाला हिंसक नहीं हो सकता। उसका अस्तित्व तो दूसरे क्षण ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों का निरन्वय विनाश मानने से एक को कर्ता और दूसरे को भोक्ता मानना पड़ेगा। इसका समाधान क्षणिकवादियों ने इस प्रकार किया है- “जिस प्रकार कपास के बीज में लाल रंग लगाने से बीज का रंग भी लाल हो जाता है उसी प्रकार अवस्था संतान में कर्मवासना का फल मिलता है।”³

परंतु जैन दर्शन इस मान्यता का खंडन करता है। एक क्षणवर्ती वस्तु को दूसरे क्षण से जोड़ने वाला कोई संबंध नहीं है। दोनों क्षणों को परस्पर जोड़ने वाले के अभाव में दोनों का संबंध संभव नहीं है। दोनों को जोड़ने वाली कड़ी चाहिये। जैन दर्शन में बौद्धों जैसा उत्पाद और विनाश भी है और साथ ही दोनों को जोड़ने वाली कड़ी जो ध्रुव कहलाती है, भी विद्यमान है।

जैन दर्शन के ‘ध्रुव’ की कूटस्थ नित्य ब्रह्मवादियों के नित्य से एवं बौद्धों के अनित्य से समानता है, परंतु यह समानता कथंचित् ही है सर्वथा नहीं, क्योंकि जैन दर्शन पदार्थ को कथंचित् नित्य एवं कथंचित् अनित्य मानता है। जैन दर्शन के अनुसार दीपक से लेकर आकाश तक के सारे पदार्थ नित्यानित्य स्वभाव युक्त हैं।⁴

वैशेषिक कुछ पदार्थों को नित्य और कुछ पदार्थों को अनित्य मानते हैं। अतः वे अर्ध बौद्ध भी कहे जाते हैं। शंकराचार्य ने अर्धबौद्ध कहकर संबोधित किया है।⁵

ऊर्ध्वता एवं तिर्यगंश की अपेक्षा द्रव्यः—अभेद दृष्टिकोण को सामान्य एवं

1. स्याद्वाद. 27.236

2. हिनस्यनभिसंधात्-चित्तं बद्धं न मुच्यते” आ.मी. 3.51

3. यस्मिन्नेव हि सन्ताने-रक्तता यथा। उदधृतेयम् स्याद्वाद 27.238

4. अन्ययोगव्य.5.

5. प्रो. ए.बी. ध्रुवः स्याद्वादमंजरी पृ. 54.

भेदग्राही दृष्टिकोण को विशेष कहते हैं, इन्हें नय की भाषा में क्रमशः द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक कहते हैं। जगत के सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं। सामान्य को अनुवृत्त एवं विशेष को व्यावृत्त भी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में सत् आदि रूप की समानता होने से अनुवृत्ति एवं विसदृशता होने के कारण व्यावृत्ति रूप ज्ञान का हेतु पाया जाता है।

पूर्व पर्याय का व्यय और नवीन पर्याय का उत्पाद, इन दोनों अवस्थाओं में द्रव्यत्व की स्थिति अविच्छिन्न रूप से रहने से इसे नित्य परिणामी कहते हैं, और इस स्वभाव में ही अर्थक्रिया संभव है।¹

सामान्य के दो भेद हैं- तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य एवं पूर्व व उत्तर पर्याय में रहने वाले को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं।²

ऊर्ध्वता सामान्य अपनी कालक्रम से होने वाली क्रमिक पर्यायों में ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहता है, साथ ही सहभावी गुणों को भी व्याप्त करता है। तिर्यक् सामान्य तिरछा चलता है। अनेक स्वतंत्रसत्ताक मनुष्यों में सादृश्यमूलक जाति की अपेक्षा मनुष्यत्व की सामान्य कल्पना तिर्यक् सामान्य कहलाती है।³

प्रवचनसार की टीका में भी लगभग इसी से मिलती-जुलती व्याख्या है। वस्तु ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य में, सहभावी विशेष स्वरूपगुणों में एवं क्रमभावी-विशेष स्वरूप पर्यायों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है।⁴

जितने भी पदार्थ इस सृष्टि में है, वे सब सामान्य समुदायात्मक (गुणसमुदायात्मक) और आयातसामान्य समुदायात्मक (पर्यायसमुदायात्मक) द्रव्य से रचित होने के कारण द्रव्यमय हैं।⁵

उत्पादादि भिन्न भी अभिन्न भी:—द्रव्य को हम त्रिलक्षणयुक्त सिद्ध कर आये

1. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेः अष्टस. पृ. 162.
2. सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोलवत् एवं परापरविवर्तयापि द्रव्यमूर्ध्वता मुदिव स्थासादिषु. अष्टस. पृ. 164
3. पं. महेन्द्रकुमारमजी: जैन दर्शन पृ. 481
4. वस्तु पुनरुर्ध्वतासामान्यलक्षणे...निर्वर्तितनिवृत्तिमच्च प्र.सा.त.प्र. 10.
5. इह खलु यः कश्चन परिच्छिद्यमान...निर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः प्र.सा.प्र. 93.

हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? दार्शनिकों ने इस प्रश्न की गंभीरता को समझा और अपनी पैनी प्रतिभा से इस प्रश्न को निम्न प्रकार से समाहित किया।

जैन दार्शनिक स्याद्वाद की नींव पर ही समस्त जिज्ञासाओं का समाधान खोजते हैं। उनके दृष्टिकोण में एकांतवाद मिथ्या है। अतः उन्होंने वस्तु के स्वरूप को भी कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न कहा है। सत् को त्रिलक्षणात्मक कहा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इनमें परस्पर भिन्नता है। परंतु ये एक वस्तु के उत्पाद-व्यय को दूसरी वस्तु में लेकर नहीं जा सकते, अतः अभिन्नता है। जैसे रूप, रस आदि के लक्षण अलग हैं, अतः इनमें भेद है, परंतु ये परस्पर में सापेक्ष है, अतः अभिन्न भी है।¹

न तो उत्पाद स्वतंत्र है और न पदार्थ। इस प्रकार एक ही द्रव्य में भेद और अभेद, दोनों पाये जाते हैं। जो गुण है वह उत्पाद नहीं, जो उत्पाद है वह पर्याय नहीं, इन तीनों का संयुक्त स्वरूप ही अस्तित्व का सूचक है और प्रमाण का विषय होने से भेद, अभेद दोनों ही वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। गौण और प्रधान की अपेक्षा से भेद और अभेद दोनों अविरोधी हैं।²

प्रख्यात दार्शनिक संत श्री कुंदकुंदाचार्य ने प्रवचन सार में “उत्पाद के अभाव में व्यय नहीं होता और व्यय के अभाव में उत्पाद नहीं होता है। उत्पाद और व्यय, दोनों ही ध्रौव्य के ही आश्रित हैं” कहकर भिन्नता और अभिन्नता स्वीकार की है।³

आगे इसी को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में और पर्यायों नियम से द्रव्याश्रित होती है।⁴

द्रव्य स्वयं ही गुणांतर रूप से परिणमित होता है। द्रव्य की सत्ता गुण-पर्यायों की सत्ता के साथ अभिन्न है, अतः गुणपर्याय ही द्रव्य है।⁵ टीकाकार अमृतचंद्राचार्य ने इसे वृक्ष के उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट किया है।

1. ननुत्पादादयः परस्परं भिद्यते-अन्योन्यापेक्षणामुत्पादादीनां वस्तूनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यं पद्द. समु.टी. 57-258
2. प्रमाणगोचरौ संतौ-गुणमुख्यविवक्षया आ.मी. 2.36
3. ण भदि भंगविहीणो...धोव्वेण अल्पेण प्र.सा. 100.
4. उष्पादद्विदिभंगा-दब्बं हवदि सब्बं प्र.सा. 101.
5. परिणमदि सयं दब्बं...दब्बमेवत्ति प्र.सा. 10.4 एवं गुणपर्याय वत् द्रव्यम् त.सु. 5.37

“जिस प्रकार अंशीवृक्ष के बीज, अंकुर, वृक्षत्व स्वरूप तीन अंश एक साथ दिखायी देते हैं, वैसे ही द्रव्य के व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य स्वरूप निजधर्मों के द्वारा अवलंबित एक साथ ही प्रतीत होते हैं। अगर द्रव्य को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से भिन्न माना जाये तो सर्वत्र विप्लव हो जायेगा।

यदि द्रव्य का व्यय ही मानें तो सारा संसार शून्य हो जायेगा। अगर द्रव्य का उत्पाद ही माने, तो द्रव्य में अनंतता आ जायेगी। अगर द्रव्य को ध्रौव्य ही माने तो भावों का अभाव होने से क्रमशः द्रव्य का अभाव हो जायेगा।¹

जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं है और जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं है।² अतः द्रव्य और गुण भिन्न है। उत्पाद व्यय रूप भेद पदार्थों का धर्म है, वह धर्म पदार्थों से कथंचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है। धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं पाया जाता।³

एक ही व्यक्ति में संबंधों की भिन्नता पायी जाती है, जैसे एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भानजा, और भाई आदि संबंधों से ज्ञापित होता है। संबंधों की भिन्नता ने व्यक्ति को भिन्न-भिन्न नहीं बनाया, उसी प्रकार इन्द्रियग्राह्य रूप, रस आदि पर्यायों में द्रव्य का एकत्व अवगत होता है।⁴ वैशेषिक द्रव्य और गुण को भिन्न पदार्थों के रूप में मान्यता देते हैं। भिन्न मान्यता में किन दोषों के आगमन का द्वार खुलता है, जैन दार्शनिक इसे स्पष्ट करते हैं।

यदि द्रव्य का लक्षण स्थिति और गुण का लक्षण उत्पत्ति का विनाश मान लें तो ये लक्षण क्रमशः द्रव्य एवं गुण में ही घटित होंगे न कि संपूर्ण सत् में। द्रव्य से भिन्न गुण या तो मूर्त होंगे या अमूर्त। अगर गुणों को इन्द्रियग्राह्य और मूर्त मानेंगे तो परमाणु नहीं रहेंगे, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होते हैं। अगर अमूर्त होंगे तो इन्द्रियग्राह्य नहीं रहेंगे।⁵

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि जब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों परस्पर भिन्न हैं तो इन्हें त्रयात्मक रूप वस्तु नहीं कहा जा सकता और अभिन्न

1. यथा किलाशिनः पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्व...द्रव्यस्याभावः प्र.सा.त.प्र.पृ. 1011

2. यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति...न द्रव्यं भवतीति प्र.सा.त. प्र.पृ. 130.

3. भेदो हि पदार्थानां धर्म...भिन्नोभिन्नश्च स्याद्वादरत्ना. 1.16.203.

4. पिउपुत्तणतुभव्वय...विसेसणं लहइ स.त. 3.17.18

5. दव्वस्स ठिई जम्म...अमुत्तेसु अगगहणं स.त. 3.23.24

हैं तो इन्हें तीन रूप न मानकर एक रूप मानना चाहिए।¹

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न होती है। इसे समंतभद्र ने इस प्रकार समझाया है—स्वर्ण घट का इच्छुक मानव स्वर्ण से मुकुट बनते समय दुःखी होता है और मुकुट का इच्छुक प्रसन्न; परंतु स्वर्णप्रिय तो दोनों ही स्थिति में तटस्थ रहता है।² दही नहीं खाने का संकल्प करने वाला दूध लेगा और जिसने दूध नहीं लेने का संकल्प लिया है वह दही लेगा; परंतु जिसने गोरस नहीं खाने का संकल्प लिया है वह न दूध लेगा और न दही।³

द्रव्य और पर्याय में कथंचित् अभेद है, क्योंकि उन दोनों में अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् भिन्न भी है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायों में परिणाम का भेद है। द्रव्य में अनादि और अनंत रूप से परिणमन का प्रवाह है जबकि पर्यायों का परिणमन सादि और सांत है। द्रव्य शक्तिमान् है। पर्याय शक्तिरूप एक की द्रव्य संज्ञा है दूसरे की पर्याय संज्ञा। द्रव्य एक है, पर्याय अनेक। द्रव्य का लक्षण अलग है, पर्याय का लक्षण अलग है। प्रयोजन भी दोनों के भिन्न हैं, क्योंकि द्रव्य अन्वयज्ञानादि कराता है जबकि पर्याय व्यतिरेक ज्ञान कराता है। द्रव्य त्रिकालगोचर है जबकि पर्याय वर्तमानगोचर। इन नाना कारणों और लक्षणों से द्रव्य की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी।⁴ द्रव्य गुण नहीं है और गुण द्रव्य नहीं।⁵

द्रव्य में ऐकांतिक प्रतिपादन के दूषणः—प्रख्यात दार्शनिक एवं तार्किक आचार्य समंतभद्र एकांतवाद में आने वाले दूषणों का आप्तमीमांसा में विशद विश्लेषण करते हैं।

बौद्ध दर्शन की शाखा शून्यवाद के अनुसार एक मात्र अभाव ही प्रमाण है। उनके अनुसार अभाव ही सत्य है, भाव तो स्वप्नज्ञान की तरह मिथ्या है। स्वप्न का ज्ञान अनेकों की अपेक्षा स्वप्नदर्शी को ही होता है और वह स्वप्न तक ही सीमित होता है। जगत का ज्ञान अनेकों को होता है, अधिक

1. यद्गुत्पादादयो...कथमेकं त्रयात्मकम् स्याद्वादस्य. में उद्धृत 21.199

2. घटमौलीसुवर्णार्थी...सहेतुकम् आ.मी. 3.56

3. पयोव्रती न दध्यति...त्रयात्मकम् 3.60

4. द्रव्यपर्याययोरेक्यं...नानात्वं न सर्वथा आ.मी. 4.71.72

5. प्र.सा. 108.

स्थायी होता है, पर है दोनों मिथ्या।

जैन दर्शन के अनुसार, भाव की सत्ता नहीं मानने वाले मत में इष्ट तत्व की सिद्धि नहीं होती है। न तो वहाँ बोध प्रमाण है न ही वाक्य। प्रमाण के अभाव में स्वमत की सिद्धि और परमत का खण्डन संभव नहीं है।¹

मीमांसक सर्वथा भावाभावात्मक रूप वस्तु को मानते हैं, परंतु यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि भाव और अभाव दोनों एकरूप हैं, तो या तो भाव रहेगा या अभाव।

सांख्य के मत में व्यक्त और अव्यक्त दोनों का तादात्म्य है। महत् आदि का प्रकृति में तिरोभाव हो जाता है फिर भी इनका सद्भाव बना रहता है। व्यक्त और अव्यक्त सर्वथा एकरूप हैं तो दोनों में एक ही शेष रहेगा।

बौद्ध तत्व को सर्वथा अवाच्य बताते हैं, परंतु अवाच्य कहने वाला अवाच्य का प्रयोक्ता नहीं हो सकता।² “स्याद्वादविरोधी मतों में भाव और अभाव का निरपेक्ष अस्तित्व संभव नहीं है, क्योंकि दोनों को एकात्म मानने में विरोध है। यहाँ तो अवाच्यैकांत भी नहीं बनता, क्योंकि “यह अवाच्य है” ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता।³

‘पदार्थों का सर्वथा सद्भाव ही है,’ अगर ऐसा मानें तो समस्त पदार्थ अनादि अनंत और स्वरूप रहित हो जायेंगे।⁴

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव। वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व को प्रागभाव कहते हैं। पदार्थ के नाश के बाद के अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सापेक्ष अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ में शाश्वत अभाव को अत्यंताभाव कहते हैं।

सांख्य पदार्थों का सर्वथा सद्भाव मानते हैं, प्रागभाव नहीं। और प्रागभाव न मानने से महत् आदि अनादि हो जायेंगे, फिर प्रकृति से महदादि की

1. भावैकांतपक्षेपि...साधनदूषणम् 1.12.

2. आप्तमी. तत्वदीपिका टीका 1.13.129.31.

3. विरोधान्नोभयै...युज्यते आ.मी. 1.13

4. भावैकान्ते पदार्थानां...मतापकम् आ.मी. 1.9

उत्पत्ति बताना व्यर्थ है, जबकि वे प्रकृति से ही उत्पत्ति बताते हैं।¹ सांख्य पुरुष और प्रकृति में अत्यन्तभाव नहीं मानते तब, तो प्रकृति और पुरुष में भेद² व्यर्थ हो जायेगा।

चार्वाक प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव, दोनों को नहीं मानता। वह भूतों से सर्वथा नवीन उत्पत्ति और उनके वियोग को सर्वथा विनाश मानता है।

मीमांसक भी शब्द को सर्वथा नित्य मानते हैं। यदि शब्द में प्रागभाव को न मानकर नित्य माना जाये तो पुरुष के तालु आदि प्रयत्न को क्या माना जायेगा?³

सांख्य के अनुसार पदार्थ एवं मीमांसक के अनुसार शब्द मात्र अभिव्यक्त होते हैं, उनकी उत्पत्ति नहीं होती; कारणों के द्वारा अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति होती है। किसी आवरण से ढकी हुई वस्तु के किसी अन्य कारण से प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं, जैसे अंधेरे में कोई वस्तु है पर दिखाई नहीं दे रही है, वही दीपक के प्रकाश से दिखने लगती है, यही अभिव्यक्ति है। परन्तु प्रागभाव का निराकरण करने के कारण घट आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे और प्रध्वंसाभाव को न मानने के कारण कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेंगे।⁴

धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानने पर “यह धर्मी है, ये इस धर्मी के धर्म हैं और यह धर्म और धर्मी में संबंध कराने वाला समवाय है” इस प्रकार तीन बातों का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यदि कहो कि समवाय संबंध से परस्पर भिन्न धर्म और धर्मी का संबंध होता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे धर्म और धर्मी का ज्ञान होता है वैसे समवाय का नहीं होता। अगर यह कहें कि एक समवाय को मुख्य मानकर समवाय में समवायत्व को गौण मानेंगे, तो यह काल्पनिक मात्र है तथा इसमें लोकविरोध भी है।⁵

कार्य की एकांत नित्यता में पुण्य, पाप, परलोक गमन आदि सब असंभव हो जायेंगे।⁶

1. सांख्यकारिका 22.

2. वही 11

3. कार्यद्रव्यमनादि...अनन्ततां ब्रजेत् आ.मी. 1.10

4. न न धर्मधर्मित्व...लोकबाधः अन्ययो. व्य. 7.

5. पुण्यपापाक्रिया...तेषां न आ.मी. 3.40

क्षणिकैकांत में “यह वही है” इस प्रकार का व्यवहार संभव नहीं रहेगा और तब कार्य का आरंभ भी संभव नहीं होगा। जब कार्य का आरंभ ही नहीं होगा तो उसका फल कैसे संभव है।¹ क्षणिक पक्ष में कार्यकारणभाव भी नहीं बन सकता, कार्य रूप संतान कारण से सर्वथा पृथक् है (बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को संतान मानते हैं)।²

मात्र कार्य को असत् मान लें तो आकाशपुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति ही नहीं है।³

इन सभी एकांतवादों का खंडन करके जैन दर्शन वस्तु का स्वरूप विरोधी युगलों द्वारा प्रतिपादित करता है।

उत्पाद क्या है:—हमने द्रव्य को त्रिलक्षणात्मक सिद्ध किया; परंतु जिज्ञासा हो सकती है कि उत्पाद क्या है? किसका उत्पाद होता है? ग्रन्थकार यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि “अपनी-अपनी जाति को न छोड़ते हुए बाह्य और आंतरिक दोनों निमित्तों को पाकर चेतन और अचेतन द्रव्य का अन्य पर्याय में परिवर्तित होना उत्पाद है।⁴

पूर्वकाल में असत् का उत्तरकाल में सत्तालाभ उत्पाद नहीं है, अपितु अननुभूत का उत्तरकाल में प्रादुर्भाव ही उत्पाद है।⁵

विनाश क्या है:—अपनी जाति का त्याग किये बिना पूर्व पर्याय का नाश होना विनाश या व्यय है, जैसे पिण्डरूप आकृति का नष्ट होना।⁶

उत्पाद-व्यय की इस प्रवाह परम्परा में स्थायिता न तो नष्ट होती है और न उत्पन्ना द्रव्य की एक पर्याय का व्यय होता है और दूसरी पर्याय का उत्पाद, परंतु द्रव्य ध्रुव बना रहता है।⁷

उत्पाद और व्यय युक्त पर्याय, गुण और ध्रौव्य युक्त सत् (द्रव्य) का

1. क्षणिकैकांतपक्षेपि...कुतः फलम् आ.मी. 3.41

2. न हेतुफलभावा...पृथक् आ.मी. 3.43

3. यद्यसत् सर्वथा...क्षपुष्पवत् आ.मी. 3.42

4. चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य...घटपर्यायवत् स.सि. 5.30 584

5. उत्पादो भूतभवनं. शास्त्रवार्ता. 7.12

6. तथा पूर्वभाव विगमनं व्ययः यथा घटौत्पत्तौ पिण्डाकृतेः स.सि. 5.30. 584. विनाशस्तद्विपर्ययः. शास्त्रवार्ता. 7.12 एवं त.वा. 5.30

7. प्र.सा. 103.

ही अस्तित्व है। उत्पाद, व्यय या पर्याय द्रव्य रूप स्थायी धर्म के धर्मी हैं। न तो धर्म धर्मी से विभक्त होता है और न धर्मी धर्म का परित्याग करते हैं। धर्म और धर्मी की भिन्नता प्रमाण ग्राह्य नहीं है। धर्मधर्म्यात्मकवस्तु ही प्रमाण का विषय है।'

धर्म और धर्मी की सत्ता कथंचित् सापेक्ष एवं कथंचित् निरपेक्ष है।

द्रव्य-गुण-पर्याय में एकांत भेद नहीं है:—न्यायवैशेषिक द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानते हैं। अगर द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न माना जाये तो जैन दर्शन के मत में या तो द्रव्य की अनंतता होगी या अभाव। व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय तो अनेकों हैं, और वे सब द्रव्य और गुण की अभिन्नता में ही संभव है।¹ द्रव्य के नाश होने की आशंका इसलिए है कि गुण द्रव्याश्रित ही होते हैं। अगर गुण द्रव्य से भिन्न होगा तो गुण किसी और का आश्रित होगा, और वह भी यदि द्रव्य से भिन्न होगा तब तो द्रव्य में अनंतता आयेगी, क्योंकि गुण जिसका भी आश्रित होगा वह द्रव्य ही होगा।² धर्म और धर्मी (द्रव्य और गुण) को सर्वथा भिन्न मानने से विशेष्य विशेषण भाव भी संभव नहीं है।⁴

गुणों को उसके आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न मानने पर गुण निराश्रय हो जायेंगे एवं गुण से पृथक् रहने वाला द्रव्य भी निःस्वरूप होने से कल्पना-मात्र बनकर रह जायेगा।⁵ वैशेषिक दिशा, काल और आकाश को क्रियावाले द्रव्यों से विलक्षण होने के कारण निष्क्रिय मानते हैं। कर्म और गुण को भी वे निष्क्रिय ही मानते हैं।⁶ अगर इन्हें निष्क्रिय मानें तो "गुणसन्दावो द्रव्यम्"⁷ यह लक्षण कैसे सिद्ध होगा? एकांतवादियों के मत में तो "द्रव्यं भव्ये" यह लक्षण भी सिद्ध नहीं होता। जब द्रव्य ही असिद्ध, है तो उसमें भव्य (होने वाले) की कल्पना कैसे की जा सकती है?

गुण, कर्म और सामान्य से जब द्रव्य सर्वथा भिन्न है तो खरविषाणगुण

1. षड्दर्शनसमुच्चयटीका 57.36.3

2. यदि हवदि मदव्यभण्णं...पकुब्बति, ववदेसा संठाणा...विज्जंते पं.का. 44, 46.

3. द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे...द्रव्यानंत्यम् पं.का.टी 44.

4. स.म. 4.17.18

5. यदि गुणा एव द्रव्याभावि...निराधारत्वाद्...कल्पना द्रव्यस्य स्यात् रा.वा. 9.2.9.439

6. दिक्कालावकाशः ...निष्क्रियाः वै.द. 5.2.21, 22.

7. पातंजल महाभाष्य 5.1.119.

की तरह असत् होने से भवन क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता।' असत् होने के कारण उसमें समवाय संबंध के कारण स्वरूप कल्पना भी नहीं होगी। "अनेकांतवाद अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव में ही गुण सद्भावो एवं द्रव्यभवे दोनों लक्षण सिद्ध होते हैं।

वैशेषिक धर्म और धर्मी को समवाय संबंध से जोड़ते हैं। यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पदार्थों में रहता है। समवाय संबंध के कारण ही सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मी में धर्म-धर्मी का व्यवहार होता है।²

जैन दर्शन में सत् और द्रव्य पर्यायवाची हैं, जबकि वैशेषिक सत्ता और द्रव्य को अलग-अलग मानता है,³ क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्य में (आधेय रूप से) पायी जाती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्यों में से प्रत्येक में रहता है। अतः द्रव्यत्व को द्रव्य नहीं कहा जाता, परंतु सामान्य विशेषरूप (द्रव्य) कहा जाता है। इसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्य में रहने के कारण द्रव्य नहीं अपितु सामान्य कही जाती है।⁴

जैन दर्शन द्रव्य को सामान्य विशेषात्मक मानता है, जबकि वैशेषिक दर्शन द्रव्यादि से विलक्षण होने के कारण 'विशेष' को पदार्थान्तर मानता है। प्रशस्तपाद के अनुसार अन्त्य में होने के कारण वे (विशेष) अन्त्य हैं तथा आश्रय के नियामक है अतः विशेष है।⁵ ये विशेष नित्यद्रव्यों में रहते हैं।⁶

सामान्य को भी वैशेषिक लोग सत्ता से भिन्न पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। यह सामान्य नित्य और व्यापक है। सामान्य के दो भेद हैं—पर और अपरा⁷ सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म-इन तीन पदार्थों में रहता है।

न्याय-वैशेषिक के सर्वथा भेदभाव का खंडन करते हुए आचार्य समंतभद्र कहते हैं कि 'गुण और गुणी में, कार्य और कारण में तथा सामान्य और

1. द्रव्यं भवे इत्ययमपि द्रव्यशब्दः एकांतवादिना...अनेकांतवादिनस्तु 'गुण सद्भावो द्रव्यम्, द्रव्यं भवे' इति चोपपद्यते रा.वा. 5.2.11.441.1.9
2. घटादीनां कपालादीं द्रव्येषु गुणकर्मणोः। तेषु जातेश्च संबंधः समवायः प्रकीर्तितः। कारिकावली का. 12, मुक्तावली पृ. 23.
3. द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। वै.सू. 1.2.4
4. स्याद्वादमंजरी पृष्ठ 49.
5. अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः प्रशस्तपादभाष्य विशेष प्रकरण पृ. 168.
6. अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः विशेषः परिकीर्तितः। का. 10.
7. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं...परापरतयो उच्यते का. 8.9

विशेष में सर्वथा भेद मानना अनुपयुक्त है।¹

द्रव्य गुण और पर्याय में एकांत अभेद भी नहीं है:—गुण और गुणी में सर्वथा अभेद मानने पर या तो गुण रहेंगे या गुणी, तब दोनों का व्यपदेश संभव नहीं होगा।² अकेले गुणी के या गुण के रहने पर यदि गुणी रहता है तो गुण का अभाव होने के कारण वह निःस्वभावी होकर अपना भी विनाश कर बैठेगा और यदि गुण रहता है तो वह निराश्रय होकर कहीं आश्रय लेगा।³

ब्रह्माद्वैतवादी संपूर्णतः अभेद को ही स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में ऐसे अनेकों वाक्य आते हैं जो मात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्थापित करते हैं।⁴ चेतन-अचेतन समस्त सृष्टि के तत्त्व मात्र उस ब्रह्म के प्रतिभासमात्र हैं। जिस प्रकार तिमिर रोगी को विशुद्ध आकाश भी चित्र विचित्र रेखाओं से खचित दिखाई देता है, उसी प्रकार अविद्या या माया के कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार के देश काल और आकार के भेदों से चित्र विचित्र प्रतिभासित होता है। वस्तुतः जो भी सृष्टि में था, है और रहेगा, वह सब ब्रह्म है।⁵

यही ब्रह्म संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल के प्रति।⁶

सृष्टि में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब कुछ मिथ्या है— “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” यह उपनिषद की प्रसिद्ध उक्ति है, तो क्या आत्मश्रवण, मनन और ध्यान, जिसे वे आत्मशुद्धि का और अमृत की प्राप्ति का माध्यम मानते हैं, वह भी मिथ्या है या अविद्यात्मक है? वेदांती इसका भी समाधान करते हैं और कहते हैं “भेदरूप होने से ये भी अविद्यात्मक हैं, परंतु इनसे चूँकि विद्या की उत्पत्ति संभव है। जैसे धूल युक्त पानी को स्वयं धूलमय होते हुए भी कतक के फल का चूर्ण स्वच्छ कर देता है; जहर को जहर समाप्त कर देता है, उसी प्रकार श्रवण आदि भेदरूप अविद्या भी मोह, राग, द्वेष आदि मूल अविद्या को नष्टकर स्वगतभेद की शांति से निर्विकल्प स्वरूप को प्राप्त

1. कार्य कारण नानात्वं...यदीप्यते। आ.मी. 6.61.

2. एकांतानन्यत्वे हि गुणा एव वा स्युः रा.वा. 5.2.9.439

3. यदि गुणा एव द्रव्याभावे निराधारत्वादभावः स्यात्। रा.वा. 5.2.9.439

4. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छान्दोग्य उप. 3.1.14

5. यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरान्प्लुतो जनः संकीर्णमिव रेखामाभिश्चित्राभिरत्रिमिन्यते तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया क्लृप्तत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति बृहदा. भा.वा. 3.5.43.44

6. यथोर्णनाभः सृजते गृह्णीतेच.....मुण्डकोप. 1.1.7

होती है।¹

संपूर्ण संसार ब्रह्म की ही पर्याय है, पर लोग ब्रह्म को न देखकर उसकी पर्याय ही देखते हैं,² जबकि यह मिथ्या है, क्योंकि यह प्रतीति का विषय है और जो भी प्रतीति के विषय हैं, झूठे मिथ्या हैं जैसे सीप में चाँदी।³

जिस सृष्टि को मायामात्र कहकर ब्रह्मद्वैतवादी ब्रह्म को ही सत् मानकर अद्वैत सिद्ध करते हैं, वह माया सत् है या असत्? अगर माया को सत् माने तो अद्वैत नहीं रहेगा और असत् माने तो तीनों लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि माया माया होकर अर्थक्रिया करती है, तो उसी प्रकार विरोधाभास होगा जैसे यह कहना कि एक स्त्री मां होकर भी बांझ है।⁴

जैन दर्शन समन्वय करता है:—जैन दर्शन का दृष्टिकोण आपेक्षिक रहा है। वह एकांत से न भेद मानता है और न अभेद। उसकी मान्यता है—जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नहीं और जो गुण या पर्याय है वह द्रव्य नहीं।⁵ गुण और गुणी से भेद न करें तो द्रव्य का लक्षण संभव नहीं है।⁶ द्वैत के अभाव में अद्वैत की सिद्धि संभव ही नहीं है।⁷

जैन दर्शन के अनुसार लक्षणरूप भेद होने पर भी वस्तु स्वरूप से गुण और गुणी अभिन्न हैं।⁸ यद्यपि ये आपस में विशेषण विशेष्य से संबंधित हैं, फिर भी दोनों अभिन्न हैं।⁹ द्रव्य में गुण-गुणी का भेद प्रादेशिक नहीं है, अपितु अतद्भाविक है।¹⁰ संज्ञा की अपेक्षा भेद अवश्य प्रतीत होता है, परंतु सत्ता की अपेक्षा दोनों में अभेद है।¹¹

1. यथा पयो पयोन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति; यथा विषं विषांतरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा च कतकरजो रजोन्तराविले पयसि प्रक्षिप्तं रजोन्तराणि भिदत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पयः करोति एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति। ब्रह्मसू. शा.भा.भा. पृष्ठ 32.
2. सर्वं वै खल्विदं....तत्परयति कश्चन छान्दोग्य उ. 14
3. स्याद्वादमंजरी 13.112.
4. माया सती चेद्...वक्ष्या च भवेत् परेषाम्। अन्ययो. 13.
5. तेषामेव गुणानां तैः प्रदेशैः विशिष्टा भिन्न... प्र.सा.त.प्र. 130.
6. षट् खण्डागम, धवला टीका, 3.1.2.63
7. अद्वैतं न बिना द्वैतादहेतुरिदं....हेतुना. आ.मी. 2.27.
8. द्रव्यं च लक्ष्यलक्षण भावादिभ्य....भूतमेवेति मंतव्यम्. पं.का.टी. 9.
9. 1.1.14.242
10. प्र.सा.त.प्र.वृ. 98.
11. द्रव्यगुणानामध्यादेशवशात्....मंतव्यम्. पं.का.टी. 13.

कथंचित् भेदाभेद के कारण ही 'द्रव्य' इस संज्ञा की सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य परस्पर अविभक्त रूप से रहते हैं, अतः अभेद है तथा संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है।

जैनदर्शन की भेदाभेद की स्वीकृति से विरोधों की समाप्ति स्वतः ही हो जाती है। हमें वस्तु के स्वरूप को कथंचित् स्वीकार करना चाहिये। अद्वैत एकांत को मानने से उसमें कारकों (कर्त्ता, कर्म, करण) का जो प्रत्यक्षसिद्ध भेद मानते हैं, उसमें विरोध आता है, क्योंकि एक वस्तु स्वयं अपने से उत्पन्न नहीं होती।¹

उत्पाद व्यय ध्रौव्य में काल की भिन्नता एवं अभिन्नता:—द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। वस्तु के इन लक्षणों में काल की भिन्नता भी है और अभिन्नता भी। इन्हें द्रव्य से भिन्न भी कहा जा सकता है और अभिन्न भी,² क्योंकि जो सिकुड़ने का समय है वह फैलने का नहीं और एक अपेक्षा से सिकुड़ने के और फैलने के समय में भिन्नता भी नहीं।³ जिस प्रकार तराजू के एक पलड़े का उपर जाना और दूसरे का नीचे आना एक साथ होता है, उसी प्रकार उत्पाद और व्यय भी एक काल में ही होते हैं।⁴

द्रव्य एक ही क्षण में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है।⁵

पूर्व पर्याय के विनाश का क्षण ही उत्तरपर्याय के उत्पाद का क्षण है। अतः उत्पाद और विनाश समकालीन हैं। एक अपेक्षा से इनमें कालभेद नहीं है, क्योंकि एक पर्याय की आदिकालीन सीमा और अन्तिमकालीन सीमा भिन्न-भिन्न हैं। जिस समय उत्पाद-विनाश रूप पर्याय परिवर्तन घटित होता है उस समय भी वस्तु सामान्यरूप से विद्यमान रहती है।

जैसे अंगुली एक वस्तु है, वह जब सीधी (सरल) है तब टेढ़ी नहीं है और जब टेढ़ी है तब सीधी नहीं है। अंगुली में टेढ़ापनरूप पर्याय के उत्पाद और सरलतारूप पर्याय के विनाश का समय अलग-अलग नहीं है; यह हुई एक वस्तु रूप अंगुली में उत्पाद विनाश रूप दो पर्यायों के एक साथ होने

1. कथंचित् भेदाभेदोपपत्तेस्तद्रव्यपदेशसिद्धिः . 5.2.529

2. अद्वैतेकांत.....स्वस्मात् प्रजायते. आ.मी. 2.24

3. सन्मति तर्क 3.36

4. जो आऊंचण कालो.....कालंतरंणखि. स.त. 3.36

5. नाशोत्पादौ.....तुलान्तयोः उद्धृत आ.मी. 220 पृ. मे

6. सभवेदं खलु दव्वं.....सण्णिदट्ठेहि प्र.सा. 102.

की व्याख्या।

अब एक पर्याय वक्रता को लें तो उत्पाद-विनाश का कालभेद स्पष्ट हो जायेगा।

अंगुली का टेढ़ापन मिटा और वह सरल बनी; यह अंगुली की सरलता का उत्पादकाल, अमुक समय तक सरल रहकर वक्र बनी; यह सरलता का विनाशकाल और सरलता से वक्रता तक की यात्रा के मध्य जो समय व्यतीत हुआ वह सरलता का स्थितिकाल बना।¹

इसे और स्पष्ट करने के लिए संपादक युगल ने एक मकान का उदाहरण भी दिया है। जब मकान निर्माण की प्रक्रिया से गुजरता है, तब वह संपूर्ण मकान की अपेक्षा तो उत्पद्यमान (अधूरा) है, परंतु उसके जितने भाग परिपूर्ण हो गये! उनकी अपेक्षा से उसे 'बन गया' कहेंगे और जो बनने बाकी हैं, उनकी अपेक्षा उसे कहेंगे कि 'बनेगा।'² उत्पन्न होते द्रव्य को कहेंगे 'हो गया', नाश हो रहे को कहेंगे 'नष्ट हो गया' इस प्रकार कहकर द्रव्य को त्रिकालविषयी बना देते हैं।

भारत में मुख्यरूप से तीन प्रकार की विचारधारा पायी जाती है: परिणामवादी, संघातवादी, और आरंभवादी। सांख्य वस्तु का मात्र रूपांतर मानते हैं, अतः वे परिणामवादी; बौद्ध स्थूल को भी सूक्ष्म द्रव्यों का समूहमात्र मानते हैं, अतः समूहवादी; और वैशेषिक अनेकों द्रव्यों के संयोग से अपूर्व नवीन वस्तु या द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं, अतः वे आरंभवादी कहलाते हैं।

जैन दर्शन न आरंभवादी, न संघातवादी और न ही परिणामवादी है, वह कथंचित् सभी को मानता है।

यहाँ संपादक युगल द्वारा विवेचित एवं सिद्धसेन द्वारा निरूपित उत्पादादि में कालभिन्नता कार्य की पूर्णता की दृष्टि से है। प्रक्रिया की अपेक्षा से तो काल की अभिन्नता ही है।

सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं:—सत् स्वयं अपने परिणामनशील स्वभाव के कारण परस्पर निमित्त-नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। बाह्य और

1. सम्मतित. में संपादक युगल का विवेचन 3.35.37.295, 96.

2. वही 3 स.त. 3.37

आभ्यन्तर सामग्री के अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते हैं और पर्याय की अपेक्षा से विनष्ट भी। इनमें परस्पर कार्य-कारण भाव बनते हैं, फिर भी सत् स्वतंत्र और परिपूर्ण है। वह अपने गुण-पर्याय का स्वामी भी है और आधार भी।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई नया परिणमन नहीं ला सकता। जैसी-जैसी सामग्री उपस्थित होती जाती है, कार्य-कारण नियम के अनुसार द्रव्य स्वयं वैसा वैसा परिणत होता जाता है। जिस समय प्रबल बाह्य सामग्री उपलब्ध नहीं होती, उस समय द्रव्य स्वयं की प्रकृति के अनुसार सदृश या विसदृश परिणमन करता ही है।

एक द्रव्य दूसरे में कोई नया गुणोत्पाद नहीं करता। सभी द्रव्य अपने अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं अर्थात् पर्याय परिवर्तन करते हैं।¹

इसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपनी परिपूर्ण अखंडता और व्यक्ति स्वातंत्र्य की चरमनिष्ठा पर अपने-अपने परिणमन चक्र का स्वामी है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का नियंत्रक नहीं है। प्रत्येक सत् का अपने ही गुण और पर्याय पर अधिकार है। सभी द्रव्य स्वभाव में रहते हुए स्व द्रव्य का ही कार्य करते हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता।²

जो गुण जिस द्रव्य में होते हैं वे उसी द्रव्य में रहते हैं, अन्यत्र संक्रमण नहीं करते। गुण-पर्याय अपने ही द्रव्य में रहते हैं।³ सत् स्वलक्षण वाला स्वसहाय एवं निर्विकल्प होता है।⁴

सभी प्रकार के संकर व शून्य दोषों से रहित संपूर्णवस्तु सद्भूत व्यवहारनय से अणु की तरह अनन्यशरण है, ऐसा ज्ञान होता है।⁵

द्रव्य की संख्या छः है। उन छः द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यद्यपि वे परस्पर में मिले हुए रहते हैं। एक दूसरे

1. समयसार 372

2. सर्वभाव निज भाव निहारे पर कारज को कोयन धारे। द्रव्यप्रकाश 109.

3. जो जम्हि गुणे दब्बे..... परिणामए दब्बं। स.मा. 103. विस्तार के लिये इसी की अमृतचंद्राचार्य कृत टीका

4. तत्त्वं सल्लक्षणिकं-स्वसहायं निर्विकल्पं च प.ध.पू. 8.528

5. अस्तमितसर्वसंकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा। अणुरिव वस्तु समस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणम्। वही प.ध.पू. 528.

में प्रवेश भी करते हैं तथा एक ही क्षेत्र में रहते हैं।¹

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं बनाते और न दो द्रव्यों की एक पर्याय बनती है। द्रव्य अनेक हैं और अनेक ही रहते हैं।²

द्रव्य स्वयं कर्ता, कर्म, और क्रिया तीनों है। द्रव्य पर्यायमय बनकर परिणमन करता है।³ जो परिणमन हुआ वही द्रव्य का कर्म है और परिणति ही क्रिया है, अर्थात् द्रव्य ही कर्ता है, क्रिया तथा कर्म का स्वामी भी वही है।⁴

कर्ता, क्रिया, और कर्म, भिन्न प्रतीत अवश्य होते हैं, परंतु इनकी सत्ता भिन्न नहीं है। स्वयं की पर्याय का स्वामी स्वयं है।⁵

निजवस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही है। परद्रव्य आत्मा नहीं होता और आत्मा पर द्रव्य नहीं होता।⁶

समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने स्वरूप में स्थित हैं। वे कभी अन्य पदार्थों से अन्यथा नहीं किये जा सकते। एवंभूतनय की दृष्टि से देखा जाये तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं। इनमें आधार आधेयभाव नहीं है। व्यवहार नय से ही परस्पर आधारआधेय भाव की कल्पना होती है। जैसे वायु का आधार आकाश, जल का वायु और पृथ्वी का आधार जल माना जाता है।⁷

सत् सप्रतिपक्ष है:— जैन दर्शन सत् का स्वरूप विरोधी युगल से प्रतिपादित करता है। सत् की सत्ता परिवर्तन के मध्य शाश्वत है। न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् अपितु कथंचित् सत् भी है असत् भी। प्रतिपक्ष के अभाव में सत् की व्याख्या संभव नहीं है। सत्ता उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थस्थित सविश्वरूप अनंतपर्यायमय और प्रतिपक्ष है।⁸

वस्तु कथंचित् असत् है, सर्वथा नहीं। इसी प्रकार अपेक्षाभेद से वस्तु

1. अवरोण्यरं विमिस्म..... परसहावे गच्छति न.च.वृ. 7
2. "नोभौ परिणामतः..... मनेकमेव सदा।" अध्यात्म अमृत कलश 53.
3. वही 51
4. वही 52
5. अप्पा अप्पु जि परू जि, परू अप्पा परू जिण होई। परुणि कयाइ वि अप्पू णियमें पमणेहि जोई। परमात्म प्रकाश 1.67
6. सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः । न शक्यतेत्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन। प.ध.पू. 461
7. रा.वा. 5.12.454
8. पंचास्तिकाय 8. एवं सभाष्य तत्वार्था पृ. 282

उभयात्मक और अवाच्य है, नय की अपेक्षा से ही वस्तु सत् आदि रूप है, सर्वथा नहीं।¹

नय का विवेचन इसी प्रकरण में आगे के पृष्ठों में है। जैन दर्शन वस्तु को अपेक्षा से ही प्रतिपादित करता है। वक्ता जिस दृष्टि से वस्तु के स्वरूप को कहना चाहता है उसी दृष्टि से उस वस्तु का विचार किया जाता है। वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अगर एक ही दृष्टिकोण से वस्तु का विचार किया जाये तो अव्यवस्था निश्चित है। जैन दर्शन में वस्तु का ऐकान्तिक रूप मिथ्या है। अतः समस्त वस्तुओं को अनेकांतात्मक रूप से ही प्रमाण का विषय मानना चाहिये।²

वस्तु सदसदात्मक है :-स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा सब पदार्थ सत् हैं और पररूपादि (परद्रव्य, परकाल एवं परभाव) की अपेक्षा सभी पदार्थ असत् हैं।³

चाहे चेतन हो या अचेतन, इस नियम का कोई भी अपवाद नहीं है। अगर इस नियम को अस्वीकृत कर दिया जाये तो या तो सारा संसार शून्य हो जायेगा या द्रव्य की सत्ता का कोई नियम नहीं रहेगा।

वस्तु में वाच्यावाच्यत्व है :- एक ही वस्तु में अनंत धर्म पाये जाते हैं। इन अनंत धर्मों में से जिस धर्म का प्रतिपादन किया जाये वह मुख्य और अन्य धर्म गौण कहे जाते हैं, ये ही शास्त्रीय भाषा में क्रमशः अर्पित और अनर्पित भी कहे जाते हैं।⁴

जब क्रम से स्वरूपादि चतुष्टयी की अपेक्षा से सत् तथा पररूपादि चतुष्टयी की अपेक्षा से असत् अर्पित होते हैं उस समय वस्तु कथंचिद् उभयात्मक (सदसदात्मक) होती है और जब कोई स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टय के द्वारा वस्तु के सत्त्वादि धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना चाहता है तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो एक ही शब्द में दोनों धर्मों का प्रतिपादन कर सके; ऐसी अवस्था में वस्तु अवाच्य है।⁵

1. कथंचित् ते न सर्वथा। आ.मी. 1.14
2. षड्दर्शनसमुच्चय टीका 57.363.
3. सदेवं सर्वं को व्यवतिष्ठते। आ.मी. 1.15
4. अर्पितानर्पितसिद्धेः त.सू.। 5.32 एवं स.सि. 5.32.588
5. क्रमार्पितद्वयाद्..... शक्तितः। आ.मी. 1.16

वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व है—अस्तित्व और नास्तित्व, ये आपस में अविनाभावी हैं। अस्तित्व के अभाव में नास्तित्व नहीं है और नास्तित्व के अभाव में अस्तित्व नहीं है। अविनाभाव अर्थात् एक संबंध, जो उन दो पदार्थों में पाया जाता है जिनमें से एक पदार्थ के बिना दूसरा न रह सके।

एक ही वस्तु में रहने वाला अस्तित्व विशेषण होने से प्रतिषेध्य (नास्तित्व) का अविनाभावी है, जैसे हेतु में विशेषण होने से साधर्म्य वैधर्म्य का अविनाभावी होता है।¹

अन्वय को साधर्म्य और व्यतिरेक को वैधर्म्य कहते हैं। हेतु के होने पर साध्य का होना अन्वय है। हेतु के अभाव में साध्य का नहीं होना व्यतिरेक है। “पर्वत में अग्नि है, धूम होने से। यहाँ धूम हेतु है और अग्नि साध्य है, जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धुँआ भी नहीं होता, यह व्यतिरेक है।

यद्यपि न्याय दर्शन कुछ हेतुओं को केवल अन्वयी और कुछ हेतुओं को केवल व्यतिरेकी मानता है, पर जैन न्याय के अनुसार सूक्ष्मता से देखा जाये तो कोई भी हेतु न केवल अन्वयी होता है और न केवल व्यतिरेकी।

बौद्ध तत्त्व (स्वलक्षण) को सर्वथा अवाच्य मानते हैं। उसमें विधि-निषेध रूप व्यवहार सर्वथा संवृति (कल्पना) से होता है।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है:— द्रव्य एक भी है और अनेक भी। सामान्य की अपेक्षा एक है और विशेष की अपेक्षा अनेक है। सामान्य सत्ता सभी पदार्थों में समान रूप से रहती है। विशेष सत्ता सभी पदार्थों की भिन्न-भिन्न है। घट की सत्ता से पट की सत्ता भिन्न है। इस सामान्य सत्ता और विशेष सत्ता को तो ‘पदार्थ की आत्मा’ तक कह दिया गया है।²

हेमचंद्राचार्य ने भी इसी मान्यता की पुष्टि की है कि “समस्त पदार्थ सामान्य की अपेक्षा अनेक होकर भी एक हैं और एक होकर भी विशेष की अपेक्षा अनेक है।³

अद्वैतवादी, मीमांसक और सांख्य सामान्य को ही सत् रूप में स्वीकार

1. अस्तित्वं..... भेदविवक्षया” आ.मी.। 1.17

2. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। परीक्षामुख 4.1

3. अन्ययो. व्य. 14 एवं आ.मी 2.34

करते हैं, बौद्ध विशेष को ही सत् मानते हैं, न्याय-वैशेषिक सामान्य और विशेष को निरपेक्ष और भिन्न-भिन्न मानते हैं।¹

परंतु जैन दर्शन सामान्य-विशेषात्मक सत्ता युक्त को ही सत् मानता है। उसका स्पष्ट कथन है विशेष रहित सामान्य खरगोश के सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी इसी प्रकार से असत् होता है।²

अशोक ने भी अपने ग्रन्थ में एकांत सामान्य विशेष का खंडन करते हुए कहा कि जो अलग-अलग दिखने वाली पाँच अँगुलियों में केवल सामान्य रूप को देखता है वह पुरुष अपने सिर पर सींग ही देखता है। अतः विशेष को छोड़कर मात्र पदार्थों में सामान्य का ज्ञान होना असंभव है।³

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण में भेद मानते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षण का कार्य अर्थक्रिया करना है, सामान्य कोई अर्थक्रिया नहीं करता। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्य संवृत्तसत् अर्थात् काल्पनिक है।⁴

जैनदर्शन वस्तु को विरोधी युगल से सिद्ध करते हैं। आचार्य समंतभद्र के अनुसार “विरोधी धर्मों का अविरोद्ध सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। वस्तु में विरोधी धर्म का होना वस्तु को भी रुचिकर है, हम उनका निषेध नहीं कर सकते।⁵

सामान्य और विशेष को निरपेक्ष या अभिन्न मानना प्रमाणाभास हो सकता है, प्रमाण नहीं।⁶

हम सामान्य को शाश्वत और विशेष को अशाश्वत भी कह सकते हैं, क्योंकि आचार्य समंतभद्र ने स्पष्ट कहा है कि सामान्य की अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट, परंतु विशेष की अपेक्षा उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी।⁷

1. स्याद्वादमंजरी 14.120

2. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्. मी.लो. आकृ. श्लो. 10.

3. एतासु पंचस्वभावभासनीषु... ईक्षते सः अशोकविरचित सामान्य द्रपणदिक्गन्धे उद्धृतेयम् स्याद्वाद. 24.122

4. “यदेव अर्थक्रियाकारि...स्वासामान्यलक्षणे” प्रमाण वा. 2.3

5. विरुद्धमपि संसिद्धं...तत्र के वयम्” अष्टस. पृ. 292.

6. प्रमाण नयतत्वा. 6.86.87

7. “न सामान्यात्मनो...दयापि सत्” आ.मी. 1.57

वस्तु (सद्) का अर्थक्रियाकारी होना तभी संभव है जब उसमें विरोधी धर्मों का युगपत् अस्तित्व हो। विधि और निषेध रूप उभयधर्मों की एक साथ उपलब्धि में ही अर्थक्रिया पायी जाती है जैसे बहिरंग और अन्तरंग कारणों से ही कार्य की निष्पत्ति होती है, इनके बिना नहीं।¹

इस प्रकार जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार समस्त वस्तुओं में सप्रतिपक्ष (विरोधी) धर्म पाया जाता है² लोक में जो कुछ है वह सब द्विपदावतार है, इसका समर्थन ठाणांग भी करता है।³

अनंतधर्मात्मक वस्तु ही कार्य कर सकती है, इसकी पुष्टि स्वामी कार्तिकेय भी करते हैं। जो वस्तु अनेकांतस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है। एकांतरूप द्रव्य कार्यक्षम नहीं हो सकता; और जो कार्यक्षम नहीं होता उसे द्रव्य नहीं कह सकते, क्योंकि परिणमन रहित नित्य द्रव्य न विनाश को प्राप्त होता है और न उत्पाद को, फिर वह कार्य कैसे करता है, और जो क्षण-क्षण में विनाश को प्राप्त होता है वह भी अन्वयी द्रव्य से रहित होने के कारण कार्यकारी नहीं हो सकता।⁴

नय का स्वरूप और उसकी व्याख्या:—जब तक हम नयवाद की चर्चा नहीं करेंगे, हमारा विवेचन अधूरा रहेगा। संपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो आधार माने गये हैं—प्रमाण और नय।⁵ अनेकधर्मात्मक वस्तु को अखंड रूप से ग्रहण करना प्रमाण है। इसे सकलादेश भी कहते हैं।⁶

नय वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है, साथ ही दूसरे नय की विवक्षा रखता है। दुर्नय एक धर्म को ग्रहण करके अन्य धर्मों का निराकरण करता है।⁷

नय की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा कि—अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता के

1. एवं विधिनिषेधा...रूपाधिभिः आ.मी. 1.21

2. एवं सप्रतिपक्षे सर्वस्मिन्नेव वस्तुत्वेस्मिन्। उद्धृतेयम् स्याद्वादरलाकर 5.88.34

3. ठाणं 2.1

4. जं वस्तु अणेयंत...दीसए लोए “एयतं पुण दब्बं केरिस दब्ब” परिणामेण विहीणं...कहं कुणइपज्जयभित्तं तच्चं...किंपि साहदि। का.प्रे. 225.28.

5. “प्रमाणनयैरधिगामः”। त.सू. 1.6

6. तथा चोक्तं सकामोदेशः प्रमाणाधीनः। स.सि. 1.6

7. अनेकस्यानेकरूपस्य, धीः प्रमाणं तदंशधीः। नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृतिः। अष्टशती में उद्धृत पृ. 35

प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।¹

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि वस्तु तो अनंतधर्मात्मिक है, तब उसके एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कैसे कहते हैं। इसका समाधान यही है कि नय के अभाव में स्याद्वाद की व्याख्या संभव नहीं है। जो एकांतवाद या आग्रह से अपनी मुक्ति चाहता है उसे नय को जानना अत्यंत आवश्यक है।²

अनेकांत की सिद्धि में नय की वही भूमिका है जो सम्यक्त्व में श्रद्धा की, गुणों में तप की और ध्यान में एकाग्रता की है।³ नय को विकलादेश भी कहते हैं।⁴

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण। इसका समाधान हाँ में भी नहीं दिया जा सकता और ना में भी नहीं। जैसे घड़े में भरे समुद्र के जल को न समुद्र कहा जाता है न असमुद्र।⁵ जैसे घड़े का जल समुद्रैकदेश है समुद्र नहीं, वैसे ही नय प्रमाणैकदेश है अप्रमाण नहीं। अन्तर इतना है कि प्रमाण में पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है और नय में वस्तु के किसी एक पक्ष का।

पूर्व में हम इन्हीं प्रमाणैकदेश भूत नयों के द्वारा वस्तु में सप्रतिपक्षत्व, वाच्यावाच्यत्व आदि धर्मों का प्रतिपादन कर आये हैं। यहाँ इन वस्तुधर्मों को अन्य भारतीय दर्शनों में किसने और किस स्वरूप में स्वीकार किया है, इसका अंगुलिनिर्देश निम्न अनुच्छेदों में किया जा रहा है।

विभिन्न वस्तुधर्मों के विषय में दार्शनिक तुलना

सद्-असद्:— जैन दर्शन तो वस्तु को सदसदात्मक मानता ही है, परंतु वैशेषिक दर्शन में भी महर्षि कणाद ने अन्योन्याभाव के निरूपण में वस्तु को उभयरूप ही स्वीकार किया है।⁶

1. स.सि. 133.241

2. नयचक्र 175

3. नयचक्र 176

4. स.सि. 1.6.24

5. "नायं वस्तु...यपोच्यते" तलार्थश्लोक 1.6

6. सञ्जासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत् वैशेषिक द.अ. 9 आ. 1. सू. 4.5 उद्धृत चंपाबाई अभि. ग्रं. 250

गौतम ऋषि के न्यायसूत्र की वैदिक वृत्ति में 'कर्म से उत्पन्न होने वाला फल उत्पत्ति से पूर्व सत् है अथवा असत्'? इस प्रश्न के उत्तर में "उत्पाद व्यय दर्शनात्" (4.1.49 न्या.) इस सूत्र की टीका में हूबहू जैनदर्शन के समान ही वस्तु की सदसदात्मकता प्रतिपादित की गयी है।¹

भेद-अभेद:—वेदान्त दर्शन ने भी भेदाभेद को स्वीकार किया है। व्यास रचित ब्रह्मसूत्र पर भास्कराचार्य ने अपने भाष्य में "शब्दान्तराच्च" (2.1.18) सूत्र पर स्वीकार किया है कि वस्तु¹ में अत्यंत भेद स्वीकार नहीं किया जा सकता।²

अद्वैत:— अभिन्नवाद में भी भेदाभेद की चर्चा उपलब्ध होती है। विद्यारण्य स्वामी कार्यकारण सिद्धांत पर चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ में लिखते हैं 'घड़ा मिट्टी से न तो एकांत रूप से भिन्न है और न अभिन्न'।³

सामान्य विशेष:—कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ में वस्तु के स्वरूप को स्पष्टतः सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया है।⁴

यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनों में उपरोक्त विरोधी युगलों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, परंतु जिस प्रकार का तर्कयुक्त और स्पष्ट प्रतिपादन जैन दर्शन में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इतर दर्शनों में सप्रतिपक्ष वस्तु का विवेचन अपवाद रूप में ही उपलब्ध होता है।

यद्यपि नय में वस्तु के एक ही अंश को ग्रहण किया जाता है, फिर भी अन्य सभी धर्मों की अपेक्षा रहती है। प्रमाण तत् और अतत् सभी, को जानता है। नय में केवल तत् की प्रतीति होती है।⁵

सापेक्षता नय का प्राण है। जो पर पक्ष का निषेध करके अपने ही पक्ष में आग्रह रखते हैं, वे सारे मिथ्या हैं।⁶ जब वे परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यग् होते हैं, जैसे मणियाँ जब तक धागे में पिरोई

1. वैदिकी वृत्ति: उद्धृत वही

2. वही पृ. 251.

3. स घटो नः मृदो...मनविक्षणात्। वही

4. वही पृ. 251.52.

5. धर्मातरादान्योपेक्षा...तदन्यनिराकृतेश्च अष्ट. पृ. 290.

6. निरपेक्षा...तेर्यकृत्. आ.मी.

नहीं जाती तब तक माला नहीं बनती।¹

वस्तु जब अनंतधर्मात्मक है तब स्वाभाविक रूप से उनके धर्म को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनंत है और उन अनंत अभिप्रायों के कारण नय भी अनंत है,² फिर भी इन्हें मुख्यरूप से दो भागों में बाँटा गया है।

वस्तु स्वरूपतः अभेद है और अपने में मौलिक है, परंतु गुण और पर्याय के धर्मों द्वारा अनेक है। अभेदग्राही दृष्टि द्रव्यार्थिक नय और भेदग्राही दृष्टि पर्यायार्थिक नय कहलाती है।³

स्वामी कार्तिकेय ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है:-युक्ति के बल से जो पर्यायों को कहता है वह पर्यायार्थिक⁴ और जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को कहता है वह द्रव्यार्थिक नय है।⁵

नयों की अपेक्षा से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार निक्षेपों का विभाग इस प्रकार होता है-पर्यायार्थिक नय मात्र भावनिक्षेप को तथा द्रव्यार्थिक नय अवशिष्ट तीनों को ग्रहण करता है।⁶

दोनों नय मिलकर ही सत् के लक्षण ग्रहण करते हैं, क्योंकि सत् का लक्षण सामान्य और विशेष दोनों से मिलकर बनता है।⁷

द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि में अवस्तु है और पर्यायार्थिक नय का वक्तव्य द्रव्यार्थिक की अपेक्षा अवस्तु है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय मात्र सामान्य को ही देखता है और पर्यायार्थिक नय मात्र विशेष को ही देखता है।⁸

अगर एक ही नय से वस्तुधर्मों को ग्रहण करें तो सद् में परिणमन संभव नहीं है क्योंकि यदि मात्र द्रव्यार्थिक नय को स्वीकार करें तब तो संसार में परिवर्तन संभव ही नहीं, क्योंकि यह नय मात्र शाश्वत की अपेक्षा

1. जहणेय लक्षणगुणा...विसेससण्णाओ। स.त. 1.22.25

2. जावइया वयणपट्टा...णयवाया। स.त. 3.47

3. दव्वट्टियवत्तलं...पज्जव्व वन्तव्वभगोय। स.त. 1.29

4. का.प्र. 10.270.

5. वही 10.269

6. स.सि. 1.24.116

7. एए पुण संगहओ...मूलणया स.त. 1.13

8. स.त. 1.11

कथन करता है और मात्र पर्यायार्थिक¹ नय में भी संसार मात्र संभव नहीं, क्योंकि यह अशाश्वत धर्मों की अपेक्षा कथन करता है।¹

सुख-दुःख की कल्याण नित्यानित्य पक्ष में ही संभव है।²

पुद्गलों के योग होने से कर्मबंध होता है और कषाय के कारण बंधे हुए कर्मों की स्थिति का निर्माण होता है। एकांत रूप से क्षणिक या शाश्वत बंध एवं स्थिति का निर्माण असंभव है।³

बंध और स्थिति के अभाव में न संसार में भय की प्रचुरता होगी और न मुक्ति की आकांक्षा।⁴

आध्यात्मिक दृष्टि से भी निश्चयनय और व्यवहारनय की ही मान्यता है।⁵

कुंदकुंदाचार्य ने निश्चयनय को भूतार्थ अर्थात् वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ग्राहक और व्यवहारनय को अभूतार्थ अर्थात् वस्तु के अशुद्धस्वरूप का विवेचक कहा है।⁶

षड्द्रव्यों का विभाजन:—जैनदर्शन ने द्रव्यों की संख्या छः स्वीकार की है। उन छः द्रव्यों के विभिन्न विभाजन है, वे यहाँ (अपेक्षा से) प्रस्तुत हैं।

चेतन-अचेतन की अपेक्षा:—द्रव्य दो हैं जीव और अजीव। चेतना और उपयोग जीव के लक्षण हैं इनके विपरीत लक्षणों वाला अजीव है।⁷

मूर्त-अमूर्त की अपेक्षा:—आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म अमूर्त हैं, पुद्गल द्रव्य मूर्त है।⁸

क्रियावान् और भाववान् की अपेक्षा:—धर्म, अधर्म, काल और आकाश निष्क्रिय हैं, पुद्गल और जीव सक्रिय है। यह बात अर्थापत्ति से प्राप्त हो जाती है।⁹

1. स.त. 1.17.

2. स.त. 1.18

3. कम्मं जोगानिमित्तं...बंधट्टिडकारणंणत्थि स.त. 1.19

4. बंधम्मि अपूरंते...णत्थि मोकखोया स.त. 1.20

5. नयमार गा. 183

6. ववहारो मुदत्थो...ह्वदि जीवो स.मा. 11.

7. प्रवचनमार 127. पं.का. 124.

8. पं.का. 97

9. अधिकृतानां धर्माधर्माकाशानां...सक्रियत्वमर्थादापन्नम् स.सि. 5.7.273.

प्रवचन सार के अनुसार पुद्गल और जीव भाव वाले और क्रिया वाले होते हैं, क्योंकि परिणाम, संघात और भेद के द्वारा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त करते हैं। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल मात्र भाववान् हैं, क्योंकि केवल परिणाम द्वारा ही उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है। भाव का लक्षण परिणाम मात्र है और क्रिया का लक्षण परिस्पंदन।¹

एक और अनेक की अपेक्षा:—धर्म, अधर्म और आकाश-द्रव्य की अपेक्षा एक ही हैं, जीव और पुद्गल अनेक हैं।² वसुनन्दि ने जीव और पुद्गल की तरह व्यवहार काल को भी अनेकरूप माना है।³

परिणामी और नित्य की अपेक्षा:—स्त्रभाव तथा विभाव परिणामों से जीव तथा पुद्गल परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य विभावव्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं।⁴

सप्रदेशी और अप्रदेशी की अपेक्षा:—लोक प्रमाण मात्र असंख्यप्रदेशयुक्त जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सप्रदेशी हैं, काल अप्रदेशी है, क्योंकि उसमें कायत्व नहीं है।⁵

इन धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को प्रदेशों के समूहयुक्त होने के कारण ही अस्तिकाय कहते हैं। काल में प्रदेशों का अभाव है, अतः नास्तिकाय है।⁶ इसे अप्रदेशी भी कहते हैं।

क्षेत्रवान् एवं अक्षेत्रवान् की अपेक्षा:—सभी द्रव्यों को अवकाश देने के कारण मात्र आकाश ही क्षेत्रवान् है, अन्य पाँचों अक्षेत्रवान् हैं।⁷

सर्वगत एवं असर्वगत की अपेक्षा:—लोक और अलोक में व्याप्त होने की अपेक्षा से आकाश को सर्वगत कहा जाता है। लोकाकाश में व्याप्त होने के कारण धर्म और अधर्म भी सर्वगत हैं। एक जीव की अपेक्षा से जीव असर्वगत है, परंतु लोकपूरण समुद्घात की अवस्था में एक जीव की अपेक्षा से सर्वगत

1. क्रियाभाववत्त्वेन...क्रियावत्तश्च भवति। प्र.सा.त.प्र. 129

2. धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च...मेकद्रव्यत्वम्। रा.वा. 5.6.6.445

3. धम्माधम्मागासा....ववहारकालपुगलजीवा हु. अणेरुवति वसु. श्रा. 30

4. बृ.द.स. अधिकार प्रथम की चूलिका द्वय

5. ब्र.द.स. अधिकार की चूलिका 1.2

6. पं. का.टी. 22 बृहद् द्र.स. 1 की चूलिका 1.2

7. बृ.द.स. अधिकार 1 की चूलिका 1.2

है। भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा तो सर्वगत होता ही है। पुद्गलद्रव्य लोकव्यापक महास्कंध की अपेक्षा से सर्वगत है ही, शेष पुद्गलों की अपेक्षा से असर्वगत है। कालद्रव्य भी एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा से सर्वगत नहीं है। लोकाकाश के प्रदेश के बराबर भिन्न-भिन्न कालाणुओं की विवक्षा से कालद्रव्य लोक में सर्वगत है।¹

कारण और अकारण की अपेक्षा:—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल व्यवहार नय से जीव के शरीर, वाणी, मन, प्राण, उच्छ्वास, गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य करते हैं, अतः कारण है। जीव-जीव का तो गुरु शिष्य रूप में उपकार करते हैं, परंतु अन्य पाँचों द्रव्यों का कुछ भी नहीं करते, अतः अकारण है।²

कर्ता और भोक्ता की अपेक्षा:—शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव यद्यपि बंध-मोक्ष, द्रव्य-भावरूप पुण्य-पाप और घट-पटादिका अकर्ता है तो भी अशुद्ध निश्चय से शुभ और अशुभ के उपयोग में परिणमित होकर पुण्य पाप का कर्ता और उनके फल का भोक्ता बनता है। विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुष्ठान रूप शुद्धोपयोग से परिणमित होकर मोक्ष का भी कर्ता और उसका भोक्ता बनता है। अवशिष्ट पाँचों का अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है, पुण्य पाप की अपेक्षा तो अकर्तृत्व ही है।³

उपादान और निमित्त कारण की अपेक्षा:—कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त का क्या स्वरूप है, इस संबंध में चर्चा किये बिना द्रव्य के स्वरूप को समझने में अपूर्णता ही रहेगी। जैसे घट में, घट का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है।

जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप का कथंचित् त्याग और कथंचित् त्याग न करता हुआ पूर्वरूप से और अपूर्वरूप से विद्यमान रहता है वही उपादान कारण होता है।⁴

द्रव्य का न सामान्य (शाश्वत) अंश और न विशेष (क्षणिक) अंश

1. वही

2. वही

3. बृहद् द्रव्य संग्रह के प्रथम अधिकार की चूलिका

4. त्याक्तात्मकरूप...उपादानमिति स्मृतम् अष्टस. पृ. 10 में उद्धृत

उपादान होता है, परंतु कथंचित् अशाश्वत और कथंचित् शाश्वत ही द्रव्य का उपादान कारण हो सकता है।¹

उपादान में कारणकार्यभाव विद्यमान रहता है। इसे स्वामी कार्तिकेय ने स्पष्ट किया है कि पूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से प्रवर्तित होता है और उत्तरपरिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।²

स्वामी विद्यानंद के अनुसार उपादान का पूर्व आकृति से विनाश कार्य का उत्पाद है, क्योंकि ये दोनों एक हेतु से हैं, ऐसा नियम है।³ स्वामी पूज्यपाद के अनुसार जिस प्रकार गति क्रिया का निमित्त धर्मास्तिकाय है उसी प्रकार अन्य सब बाह्य पदार्थ निमित्त मात्र होते हैं। कोई अज्ञ विज्ञता को प्राप्त नहीं होता और विज्ञ अज्ञता को प्राप्त नहीं करता, मात्र उपादान की योग्यता के अनुसार बाह्य निमित्त सहायक होते हैं।

कार्तिकेय ने भी इसी मान्यता का समर्थन किया है। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमन के उपादान (मुख्य) कारण हैं अन्य बाह्य द्रव्य तो मात्र निमित्त हैं।

प्रत्येक सत् या द्रव्य पूर्वपर्यायि को छोड़कर प्रतिक्षण उत्तरपर्यायि को धारण करता है। यह परिवर्तन सदृश या विसदृश, दोनों प्रकार का होता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शुद्ध जीवद्रव्य के परिणमन सदा एक से होते हैं। इनमें वैभाविक शक्ति नहीं है। शुद्ध जीव में वैभाविक शक्ति का सदा स्वाभाविक परिणमन होता है। इस पर निमित्त का कोई प्रभाव नहीं होता।

संसारीजीव और पुद्गल में वैभाविक शक्ति है। जिस-जिस प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है वैसे ही ये बदलते जाते हैं। यद्यपि सर्वथा असद्भूत परिवर्तन लाने की क्षमता नैमित्तिक कारण में नहीं है, जैसे लाख प्रयत्न करने पर भी पत्थर से तैल नहीं मिलता। परिणाम का अर्थ भी यही है।⁴

1. यत् स्वरूपं...शाश्वतं यथा तं। जैन त. मी. में पृ. 47 में उद्धृत

2. पुत्रपरिणामजुत्...णियमा का.प्रे. 230.

3. जैन त. मी.पृ. 49 पर उद्धृत। "नाज्ञोविज्ञत्वमायाति...धर्मास्तिकायवत्।" इष्टोपदेश 35.

4. तद्भावः परिणामः त.सू. 5.42

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा

‘आत्मा’ शब्द की व्युत्पत्ति है ‘अतति-गच्छति-जानाति इति आत्मा’ अर्थात् शुभ, अशुभ रूप कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार यथासंभव तीव्र मंद आदि रूपों में समग्रतः ज्ञान आदि गुणों में रहते हैं। ज्ञानादिगुण आत्मा द्रव्य के हैं। अतः उपर्युक्त व्युत्पत्ति सार्थक है।

जैन दर्शन ने आत्मा के जिस स्वरूप का प्रतिपादन शताब्दियों पूर्व किया था, अद्यपर्यंत वही स्वरूप उसी रूप से स्थापित है। उत्तरवर्ती तार्किकप्रतिभासंपन्न दार्शनिक आचार्यों ने उस स्वरूप को अपनी प्रखर तर्क शैली से सिद्ध किया, और उस स्वरूप में परिवर्तन नहीं आने दिया।

‘आत्मवाद या आत्मा भारतीय दर्शन की आत्मा ही है’ कहें तो अति-शयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि भारतीय दार्शनिकों के संपूर्ण चिंतन का केन्द्रबिंदु आत्मा ही रही है; और सारा दर्शन इसीके इर्द-गिर्द घूमता-सा प्रतीत होता है।

‘आत्मवाद’ शब्द का प्रयोग हमें अति-प्राचीन जैन दर्शन के प्रथम अंग के रूप में स्थापित ‘आचारांग’ में भी उपलब्ध होता है।¹ आगे इसी में “आत्मा को विज्ञाता और विज्ञाता को ही आत्मा कहा है। ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा का व्यपदेश (व्यवहार) होता है।²

इस सूत्र के द्वारा आत्मा की दो परिभाषाएँ स्पष्ट हुईं— प्रथम परिभाषा द्रव्याश्रित और द्वितीय गुणाश्रित है। चेतन (आत्मा) द्रव्य है, चैतन्य (ज्ञान) उसका गुण है। चेतन प्रत्यक्ष नहीं होता, परंतु चैतन्य प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं तब ज्ञान

1. से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किर्गियावाई” आचारांग 1.1.5

2. जे आया से विण्णाया,जे विण्णाया से आया जेण विजाणाति से आया आचारांग 5.5.104

की तरह आत्मा भी अनेक हो जायेगी? इस प्रश्न का समाधान 'भगवती' में उपलब्ध होता है। घट, पट, रथ, अश्व आदि ज्ञेयों में परिणत ज्ञान के आधार पर घटज्ञानी, आत्मा को ही पटज्ञानी, रथज्ञानी, अश्वज्ञानी आदि कहा जाता है।¹ आत्मा जिस समय ज्ञान के जिस परिणमन से परिणत होती है उसी के आधार पर आत्मा का व्यपदेश अर्थात् व्यवहार होता है।

लोकराशि दो ही प्रकार की मानी है—जीव राशि और अजीव राशि।² और लोक में शाश्वत क्या हैं? इस प्रश्न का समाधान दिया गया है कि जीव और अजीव दोनों शाश्वत हैं।³

चूँकि अजीव का महत्व जीव के कारण ही है, क्योंकि अजीव स्वयं भोक्ता नहीं है, अपितु जीव ही अजीव का भोक्ता है।⁴ अगर जीव न रहे तो सृष्टि का कोई मूल्य नहीं है, पर ऐसा समय संभव ही नहीं है कि सृष्टि जीवरहित कभी हो।

षड्रव्यों में जीव को अस्तिकाय कहा है।⁵ अस्तिकाय के स्वरूप के संबंध में जब गौतम स्वामी ने यह पूछा कि अस्तिकाय का स्वरूप क्या है? तब प्रभु महावीर ने कहा—जैसे चक्र का, छत्र का, चर्मरत्न का, दंड का, दुष्यपट्ट का, आयुध का, मोदक का खंड या टुकड़ा क्रमशः चक्र, छत्र, रत्न, दंड, दुष्यपट्ट या आयुध, मोदक नहीं कहला सकता, वैसे ही अस्तिकाय के एक प्रदेश को अस्तिकाय नहीं कहते, परन्तु सम्पूर्ण तत्व को ही अस्तिकाय कहते हैं।⁶ मिट्टी के अभाव में जिस प्रकार घट का निर्माण असंभव है, वैसे ही आत्मा के अभाव में सृष्टि का व्यापार भी असंभव है।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि:—जिस प्रकार हमें घट, पट आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायों के दर्शन होते हैं, वैसे हमें आत्मा के दर्शन नहीं होते। इसकी प्रतीति हमें कारण व्यापार द्वारा होती है। सारथी जिस प्रकार से रथादि का संचालन करता है, आत्मा भी उसी प्रकार से शरीर का नियंत्रण करती

1. भगवती 6.174

2. "दो रासी पण्णता त जहा जीवरासी चेव अजीवरासी चेव" ठाण 2.392.

3. "के सासया लोणे? जीवच्चेव अजीवच्चेव" ठाण 2.419

4. भगवती 25.4.4

5. भगवती: 2.10.1

6. भगवती 2.10.4, (3)

है। आत्मा ज्योंही शरीर का त्याग कर देती है त्यों ही सुंदर, स्वस्थ, प्रिय शरीर को आग के सुपुर्द कर दिया जाता है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि शरीर से भिन्न कोई तत्त्व या सत्ता अवश्य होनी चाहिए।

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात वस्तुओं की स्मृति विद्यमान रहती है।¹

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि कई बार इन्द्रियों का व्यापार होने पर भी पदार्थों की उपलब्धि नहीं होती। आँख, कान सक्षम हैं, फिर भी पदार्थों का ग्रहण नहीं होना यही प्रतीति कराता है कि इनके अतिरिक्त कुछ और भी है और वही आत्मा है।²

आत्मा इन्द्रियभिन्न नहीं होती तो एक इन्द्रियविकार दूसरी इन्द्रिय को प्रभावित नहीं करता। इमली को आँख से देखा, पर तुरंत जिह्वा प्रभावित हो गयी। इससे इन्द्रिय से भिन्न आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती है।³

अगर आत्मा का अस्तित्व भिन्न नहीं होता तो आँख से घड़ा देखकर शरीर रूप इन्द्रिय आवश्यकता होने पर क्यों ग्रहण करता?⁴

इसी प्रकार “मैं” सुखी-दुःखी आदि का संवेदन आत्मा के अस्तित्व की ही अनुभूति कराते हैं। आत्मा के अस्तित्व को नकारना स्वयं के अस्तित्व को ही नकारना है।

आत्मा प्रमाण सिद्ध है:—भारतीय दर्शन में चूँकि आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण प्रमेय रहा है, अतः उसके संबंध में सभी दर्शनों ने अपने-अपने स्तर से विचार प्रस्तुत किया है। एक चिंतक है—चार्वाक, जो भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है। इसे भूतचैतन्यवाद कहते हैं। दूसरा चिंतन है आत्मवाद।

जैन दर्शन आत्मवादी है। चार्वाक पृथ्वी, पानी, हवा और तेज के उचित अनुपात के मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है। इन चार भूतों के अतिरिक्त पाँचवें किसी भी तत्व की मान्यता चार्वाक दर्शन में नहीं मिलती। षड्दर्शन

1. षड्दर्शनसमु. टी. 49.157.

2. षड्दर्शन समु. टी. 49.158

3. वही 49.159

4. वही 49.160

समुच्चय की टीका में गुणरत्नसूरि ने इसके प्रत्युत्तर प्रस्तुत किये हैं। गुणरत्नसूरि ने आत्मा को निम्नलिखित तर्कों से प्रमाणित किया है।

गुणरत्नसूरि के अनुसार आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि ज्ञान गुण का प्रत्यक्ष होता है, अतः आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध मानना चाहिये।¹ स्मृति, जिज्ञासा, आकांक्षा, धूमने आदि की इच्छा इत्यादि आत्मा के गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव होता है। चूँकि गुण प्रत्यक्ष है, अतः गुणी भी प्रत्यक्ष है।

जैसा कि चार्वाक दर्शन मानता है कि भूतचतुष्टय के मिश्रण से चैतन्य उत्पन्न होता है, तो उनका मिश्रण करने वाला कोई तत्व भी तो होना चाहिए, और वह आत्मा के अतिरिक्त कौन हो सकता है? अगर कोई तत्व नहीं है तो घट, पट आदि जितने पदार्थ हैं उन सभी को चैतन्ययुक्त होना चाहिए क्योंकि भूतों की सत्ता तो सर्वत्र है, परंतु प्रत्येक भूतचतुष्टय युक्त पदार्थ चैतन्य नहीं बनता। अतः स्पष्ट है कि चैतन्य भूत का नहीं, अपितु आत्मा का लक्षण है।² इसके अतिरिक्त निम्न लिखित तर्कों से भी आत्मा सिद्ध होती है।

(1) ज्ञान प्राप्ति के माध्यम कान, मुँह आदि उपकरण किसी से प्रेरित होकर ही अपनी क्रियाएँ संपन्न करते हैं। इन इन्द्रिय रूपी गवाक्षों से ज्ञान का ग्राहक आत्मा ही है।³

आचार्य पूज्यपाद ने भी आत्मा का अस्तित्व इसी प्रकार से प्रतिपादित किया है—जिस प्रकार यंत्र प्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता का ज्ञान कराती हैं वैसे ही प्राण, अपान आदि क्रियाएँ भी आत्मा का ज्ञान कराती हैं।⁴

(2) यह संसरणशील शरीर किसी की प्रेरणा से ही चल सकता है, जैसे रथ सारथी की इच्छानुसार चलता है। खाने की या पीने की इच्छा होने पर तदनुसार प्रवृत्ति करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति कराने वाला कोई और है, और वही आत्मा है।⁵

(3) इस शरीर को इस आकृति में किसी ने बनाया है जैसे घट का निर्माता कुम्हार है, वैसे ही समस्त कार्यों का कोई उत्पादक है। शरीर का जो

1. षड्दर्शन समु. टी. 49.120

2. वही 49.119

3. वही 49.123

4. “यथा यंत्रप्रतिमाचेष्टितं...साधयति” बस.सि. 5.19.563

5. वही, प्रशस्त. भा.पृ. 69, प्रश. व्यो.पृ. 402, न्यायकुसु. पृ. 349

निर्माता है वही आत्मा है।

- (4) इस शरीर का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ तो उपकरण या साधन मात्र हैं। जैसे घट निर्माण में सहयोगी औजारों का मालिक कुम्हार है, वैसे ही इन इन्द्रिय रूप औजारों का स्वामी आत्मा है।
- (5) यह शरीर तो जड़ है; और जड़ का भोक्ता चेतन ही होता है।¹
- (6) रूप, रस आदि अनेक प्रकार के ज्ञान किसी आश्रय-भूत द्रव्य में ही रहते हैं। जैसे रूप घट का आश्रित है, वैसे ही ज्ञान का आश्रय आत्मा है।
- (7) ज्ञान, सुख आदि का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य होना चाहिए जैसे घट का उपादान मिट्टी है, इसी तरह ज्ञान, सुख आदि का जो उपादान कारण है और ज्ञानी, सुखी आदि बनता है, वही आत्मा है।² (उपादान कारण को हम द्वितीय अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं।)
- (8) चाहे जीव हो या अजीव, समस्त पदार्थ द्विपदावतार (सप्रतिपक्ष) होते हैं।³ जहाँ जीव है वहाँ अजीव भी है यह अजीव निषेधात्मक है। जिस निषेधात्मक शब्द का प्रतिपक्षी अर्थ न हो तो समझना चाहिये कि वह या तो व्युत्तिसिद्ध शब्द का निषेध नहीं करता या फिर शुद्ध शब्द का किन्तु किसी रूढ शब्द या संयुक्त शब्द का निषेध करता है, जैसे-अखरविषाणा⁴
- (9) सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा भी आत्मा की सिद्धि हो सकती है। स्वयं की क्रिया जैसी क्रिया अन्य शरीर में भी देखकर आत्मा की सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार की क्रिया देखकर हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। प्रिय में आकर्षण और अप्रिय में विकर्षण का निर्णायक आत्मा ही बनती है। परंतु यदि घट पर भयंकर सर्प चढ़ जाय तो भी घट में आकर्षण या विकर्षण जैसा कोई अंतर नहीं आता।⁵

1. पद्दर्शन टी. 49.123

2. पद्दर्शन टी. 49.125

3. टाण 2.1.

4. पद्दर्शन. टी. 49.125

5. वही 49.126

जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है, वैसे ही आगम (शब्द), उपमान और अर्थापत्ति द्वारा भी आत्मा प्रमाणसिद्ध है।¹

जिनभद्रसूरि के अनुसार आत्मसिद्धि :-जैसे गुण और गुणी की अभिन्नता है, वैसे ही स्मरण आदि गुणों से जीव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।² इन्द्रियाँ कारण हैं। अतः इनका कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिये। वह अधिष्ठाता ही आत्मा है।³ शरीर सावयव और सादि है, अतः घट की तरह इसका भी कोई कर्त्ता है। जिसका कोई कर्त्ता नहीं है, उसका निश्चित आकार नहीं होता। शरीर का कर्त्ता आत्मा है।⁴ विषय और इन्द्रियों के मध्य कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिए जो ग्राहक हो, और वह आत्मा है।⁵

जिस प्रकार भोजन, वस्त्र आदि का कोई भोक्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार शरीर का भी कोई भोक्ता होना चाहिये, और वह भोक्ता आत्मा ही हो सकता है।⁶

इसी प्रकार शरीरादि के 'संघातरूप में',⁷ संशय के रूप में,⁸ अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में, आत्मा का अस्तित्व है।

अन्य आचार्यों के अनुसार आत्मसिद्धि:-श्वासोच्छ्वास के रूप में⁹ एवं प्राणापान के कारण¹⁰ आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियनिरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है। देश प्रत्यक्ष-अवधि और मनः पर्यय के द्वारा कर्म- नोकर्म से युक्त आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।¹¹

इन्द्रियों से प्राप्त विभिन्न ज्ञानों में आत्मा ही एकसूत्रता स्थापित करती

1. वही 49.127
2. गणधरवाद:-1560.62
3. वही 1567
4. वही-1567.
5. वही,1568।
6. वही 1569.
7. वही 1569.
8. वही 1571
9. रा.व. 5.19.38 पृ. 473
10. स्याद्वादम्. 17.174.
11. रा.वा. 28.18.122.

है।¹ किसी व्यक्ति को देखने मात्र से प्रियता और अप्रियता का भाव अचानक नहीं उठता, कहीं न कहीं उसके सुख-दुःख कारण का अनुभव हुआ होगा, इस प्रवृत्ति से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।²

आत्मा और उपनिषद्:—अधिकांश भारतीय दार्शनिकों ने चेतन और अचेतन को सृष्टि का मौलिक तत्व माना है। जैन दर्शन ने इन्हें जीव और अजीव; सांख्य ने इसे प्रकृति और पुरुष; और बौद्ध ने इन्हें ही नाम और रूप के रूप में प्रतिपादित किया है।

उपनिषद् का दृष्टिकोण अत्यंत आत्मवादी रहा है। समस्त तत्वों में आत्मा को ही श्रेष्ठतम तत्व कहा गया है।³ जब याज्ञवल्क्य अपनी भौतिक संपदा का अपनी पत्नियों में विभाजन करके संन्यस्त होने का निर्णय लेते हैं, तब उनकी पत्नी मैत्रेयी उनसे दीर्घ संवाद करती हैं। जिसका निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि “जिस संपत्ति से मैं अमृत नहीं बन सकती, उसकी प्राप्ति निरर्थक है, जिसे पाकर अमृत बनूँ उसी का उपदेश दें।” तब याज्ञवल्क्य उन्हें इस प्रकार से आत्मा का उपदेश देते हैं- “आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है।”

नचिकेता भी जब आत्म तत्व को जानने की प्रबल जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हैं, तब⁴ उन्हें यम अगणित भौतिक विभूतियों का प्रलोभन देकर आत्मा की जिज्ञासा से विरत करने का प्रयास करते हैं।⁵ परंतु नचिकेता सारी सांसारिक विभूतियों को ठुकराकर मात्र आत्मतत्व जानने की ही इच्छा अभिव्यक्त करते हैं, तब यम आत्म स्वरूप को प्रकट करते हैं।⁶

छान्दोग्योपनिषद् में आत्म विद्या को इतना महत्वपूर्ण माना है कि उसके समक्ष समस्त विद्याएँ निरर्थक और व्यर्थ हैं। नारदजी सनत्कुमार से कहते हैं, “मैं चारों वेद, इतिहास, पुराण, गणित और सर्पादि विद्याओं का ज्ञाता हूँ, फिर भी आत्मविद्या के अभाव में शोकाकुल हूँ।” उनकी शोकमुक्ति के

1. रा.वा. 2.8.19 पृ. 122

2. न्याय. 68.69.71 पृ. 39

3. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.1.3.

4. वही 2.4.5

5. कठोपनिषद् 1.20

6. कठोपनिषद् 2.28.

लिए सनत्कुमार उन्हें आत्मविद्या का ज्ञान प्रदान करते हैं।¹

विभिन्न उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप:-

आत्मा क्या है इस संबंध में उपनिषद् में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रजापति के शब्दों में “पाप से निर्लिप्त, जन्म, जरा एवं मृत्यु के शोक से रहित, भूख और व्याकुलता की पीड़ा से रहित आत्मा है।”²

बृहदारण्यकोपनिषद् में “आत्मा को कर्त्ता, जागृत और मृत्यु की अवस्था में एक समान रहने वाला तत्व कहा है।”³

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार “आत्मा और शरीर भिन्न है। आत्मा अशरीरी तथा अमर है। देखने और सूँघने का विचार करने वाला आत्मा है, आँख और नाक तो मात्र माध्यम है।”⁴

कठोपनिषद् के अनुसार “आत्मा न मरता है न उत्पन्न होता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।”⁵ यह न तर्कगम्य है और न ही वेद के अध्ययन से प्राप्तियोग्य। यह मात्र प्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है।”⁶

याज्ञवल्क्य ने आत्मा के संबंध में अपने विचार इस प्रकार स्पष्ट किये हैं—“आत्मा विषय नहीं हो सकती।⁷ आत्मा ही एकमात्र प्रीतियोग्य है। जो भी हम प्रीति करते हैं वह आत्मा के लिये है। जो कुछ भी प्रिय और मूल्यवान् है वह सब आत्मा के कारण है।”⁸

ऋषियों के “सोऽहं”⁹ एवं “अहम् ब्रह्मास्मि”¹⁰ की अभिव्यक्ति से अनुमान होता है कि आत्मा और ब्रह्म का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हो गया था।

1. छान्दोग्योपनिषद् 8.1.2
2. छान्दोग्योपनिषद् 8.7.4
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.3
4. छान्दोग्योपनिषद् 8.12.1, 2
5. कठोपनिषद् 1.2.18.
6. कठोपनिषद् 1.2.23,
7. बृहदारण्यक उपनिषद् 4.5.15
8. वही 4.5.6
9. कोषीतकी उपनिषद् 1.6
10. बृहदारण्यउप. 1.4.10

उपनिषद् और आत्म स्वरूप की विभिन्नता:—आत्म स्वरूप के निर्धारण में उपनिषद् निरंतर प्रगति करता प्रतीत होता है, क्योंकि विभिन्न उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

देहात्मवाद:—उपनिषद् के पुरस्कर्ता ऋषियों के मन में जब यह चिंतन चला कि बाह्य विश्व को गौण कर जिस चैतन्य की अनुभूति होती है, वह क्या है? इस संबंध में उपनिषद् में एक आख्यान आता है कि असुरों में वैरोचन और देवों में इन्द्र आत्मविद्या की शिक्षा लेने प्रजापति के पास गये। तब प्रजापति ने बर्तन में पानी डालकर उसमें उनका प्रतिबिम्ब दिखाकर कहा-यही आत्मा है। इन्द्र तो देहात्म स्वरूप से संतुष्ट नहीं हुए पर वैरोचन संतुष्ट हो गये।

जैनागमों में द्वितीय अंग श्री सुयगङ्गा में इसी को “तज्जीव तच्छरीरवाद” कहा गया है।²

भगवान महावीर के तीसरे गणधर वायुभूति के मन में भी यही शंका थी कि “जीव और शरीर भिन्न हैं या एक ही।³

राजा प्रदेशी भी आत्मा को शरीर की तरह इन्द्रियग्राह्य मानता था और इसी कारण उसका आत्मशोधन का प्रयास निष्फल रहा।⁴

प्राणात्मवाद:—इन्द्र को इस देहात्मवाद के स्वरूप से संतुष्टि नहीं हुई। इन्द्र की तरह औरों के मस्तिष्क में भी यह प्रश्न उभरा होगा कि अगर शरीर ही आत्मा है तो मृत्यु के समय भी शरीर तो मौजूद है फिर भी शरीर की क्रियाएँ अवरुद्ध क्यों हो जाती हैं। निद्रावस्था में भी श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया प्रारंभ रहती है, यह क्या है? तब उन्होंने अनुभव के आधार पर प्राण सत्ता को ही समस्त प्रवृत्ति का कारण माना।⁵

छान्दोग्य उपनिषद् में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि “विश्व में सब कुछ प्राण है।” इन्द्रियाँ और प्राण का तादात्म्य भी कर दिया गया।

1. छान्दोग्योपनिषद् 8.84
2. सुयगङ्गा 6.48
3. गणधरवाद 1649
4. राज प्रश्नीय 244-266
5. तैत्तिरीय उपनि. 2.2.3

इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं।¹

दार्शनिक इस प्राणात्मवाद से भी संतुष्ट नहीं हुए।

मनोमय आत्मा:—आत्मा संबंधी विचारणा और उसे प्राप्त करने में ऋषि निरंतर प्रयत्नशील थे। उन्हें ऐसा आभास हुआ कि मन के अभाव में प्राण और इन्द्रियाँ सब व्यर्थ हैं। मन का संपर्क होने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं। अगर मन अनुपस्थित हो तो इन्द्रियों की उपस्थिति सार्थक नहीं है। तब प्राणमय आत्मा के स्थान पर मनोमय आत्मा की सत्ता स्वीकार की गयी।²

मन की सत्ता की उत्कृष्टता को स्वीकारते हुए उसे परम ब्रह्मसम्राट तक कह दिया।³ छान्दोग्य उपनिषद् में भी उसे ब्रह्म कहा है।⁴

प्रज्ञा विज्ञानात्मा:—कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण कहा है।⁵

इसी में आगे प्रज्ञा का महत्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि प्रज्ञा के अभाव में इन्द्रियाँ और मन निरर्थक हैं। इन्द्रियों और मन की अपेक्षा प्रज्ञा का महत्व अधिक है।⁶

विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा की अंतरात्मा के रूप में बताया है।⁷ ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान ब्रह्म के पर्यायवाची शब्दों में मन भी है।⁸ प्रज्ञा और प्रज्ञान⁹ एक ही हैं। यहाँ प्रज्ञान का पर्याय विज्ञान भी बताया है।¹⁰

चैतन्यात्मा:—आत्मा के संबंध में निरंतर वैचारिक चिंतन का परिणाम आगे जाकर यह निकला कि केनोपनिषद् ने स्पष्ट कह दिया कि -अन्नमय

1. बृहदारण्यक उप. 1.5.21

2. तैत्तिरीय उपनि. 2.3

3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.6

4. छान्दोग्योप. 7.3.1

5. कौषीतकी उप. 3.2, 3.3.3.3.34.

6. कौषीतकी उप. 3.6.7

7. तैत्तिरीय उपनिषद् 2.4

8. ऐतरेय उपनि. 3.2

9. ऐतरेय उप. 3.3

10. ऐतरेय उप. 3.2

आत्मा रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही आत्मा है।¹ यही दृष्टा, श्रोता, मनन करने वाला और विज्ञाता है।² इस चिदात्मा को अजर, अमर, अक्षर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, और अनंत माना गया है।³ इस प्रकार, सतत चिंतन से शरीर और आत्मा की भिन्नता सिद्ध की गयी।

न्याय-वैशेषिक में आत्मा :-न्याय दर्शन ने आत्मा की व्याख्या भिन्न तरीके से की है। “ज्ञान, इच्छा, आदि गुणों का आधार आत्मा है।”⁴ द्वितीय परिभाषा है—“प्रतिसंधान, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान करने वाला तत्त्व ही आत्मा है।”⁵

न्याय दर्शन आत्मा को शरीरादि से भिन्न एक स्वतंत्र द्रव्य मानता है,⁶ परंतु उसे जडवत् मानता है। चैतन्य, जो कि आत्मा का स्वाभाविक गुण है, न्याय दर्शन के अनुसार वह आगंतुक गुण है।⁷ न्याय दर्शन में आत्मा को इस चैतन्य गुण की उत्पत्ति का आधारमात्र बताया गया है।⁸

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, ये आत्मा के छह विशेष गुण माने गये हैं।⁹ मुक्ति में शरीरादि का अभाव है, अतः वहाँ मुक्तात्मा में आगंतुक चैतन्यगुण का भी अभाव है।¹⁰

वैशेषिक सूत्र में आत्मा का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया गया है। प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियांतर संचार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि को आत्मा के लिंग बताते हुए इन्हीं से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है।¹¹ विशेष विवेचन के लिए एन.के. देवराज द्वारा लिखित भारतीय दर्शन पृ. 301-8.1 देखना चाहिए।

इसी प्रकार न्याय सूत्रकार ने भी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और

1. केनोपनिषद् 1.2
2. बृहदारण्य. 3.7.22.
3. कठो. 3.2
4. त.सं. पृ. 12.
5. न्यायवा. 1.1.10 पृ. 64
6. प्रशस्तपादभाष्य पृ. 49.50
7. भारतीय दर्शन—डॉ. राधाकृष्णन् भाग 2 पृ. 148, 149
8. तर्कभाष्य-केशवमिश्र पृ. 148.
9. तर्क भाष्य-केशव मिश्र पृ. 190
10. न्यायसूत्र 1.7.22.
11. वै.सू. 3.2.4-13

निर्णयात्मक ज्ञान के हेतुओं द्वारा आत्मा की सत्ता का अनुमान किया है।¹ गौतम ऋषि अनुमान के अतिरिक्त शास्त्रीय प्रमाण भी देते हैं।²

आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है या नहीं, न्याय दर्शन में इसके विषय में मतभेद है। न्यायसूत्र में आत्मा के अनुमान की चर्चा है, प्रत्यक्ष की नहीं।³ न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने आत्मा को योगी प्रत्यक्ष का विषय कहा है, लौकिक प्रत्यक्ष का नहीं।⁴

वैशेषिक दर्शन के प्राचीन साहित्य के अनुसार भी इसी भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित आत्मा के योगी प्रत्यक्ष का विषय होने के पक्ष का समर्थन होता है,⁵ परंतु उद्योतकर⁶, वाचस्पति मिश्र⁷ आदि ने ज्ञान आदि विशेष गुणों के साथ आत्मा का मानस प्रत्यक्ष 'अर्हम्' पदार्थ के रूप में माना है।

बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद:—उपनिषदों ने आत्मा और आत्मा से संबंधित विद्या को प्रमुख तत्व मानकर उसी की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बना दिया था। बौद्ध दर्शन ने उस तेजी से पनपती आत्मवाद की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अनात्मवाद का सिद्धांत दिया। बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और इन्द्रियों पर एवं इन्द्रियों के विषय पर क्रमशः विचार किया और उन सभी को अनित्य और अनात्म घोषित कर दिया।

वे अपने श्रोताओं को भी प्रश्नोत्तर की शैली में युक्तिपूर्वक विश्वास करवा देते थे कि सब कुछ अनात्म है और आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है।⁸

बुद्ध के अनुसार जन्म, मरण, कर्म, विपाक, बंध और मोक्ष सब कुछ है, परंतु इनका स्थायी आधार नहीं है। ये समस्त अवस्थाएं अपने पूर्ववर्ती कारणों से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती हैं। इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता है। उत्तर-वर्ती अवस्था पूर्व-वर्ती अवस्था से न सर्वथा भिन्न है और न अभिन्न, अतः अव्याकृत है।⁹

1. न्यायसूत्र 3.1.10

2. भारतीय दर्शन:—डॉ. राधाकृष्णन् भाग 2 पृ. 145

3. न्यायभाष्य 1.1.10

4. न्यायभाष्य 1.1.3.

5. भारतीय दर्शन: डॉ. एन.के. देवराज पृ. 300.

6. न्यायवा. पृ. 341.

7. ता.टी. 501.

8. संयुक्तनिकाय 12.70.32-37.

9. संयुक्तनिकाय 12.17.24, मिलिन्दप्रश्न 2.25.33

न कोई कर्म का कर्ता है और न कर्म फल का भोक्ता, मात्र शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति होती है, यही सम्यग्दर्शन है। ये कर्म और फल पौर्वापर्य संबंध रहित बीज और वृक्ष की तरह अनादि काल से एक दूसरे पर आश्रित हैं और अपने-अपने हेतुओं पर अवलम्बित होकर प्रवृत्त होते हैं। यह धरम्यरा कब निरुद्ध होगी, यह भी नहीं बताया जा सकता।

जीव के विषय में कुछ शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अबलंबन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं।¹

बुद्ध आत्मा के शाश्वत और अशाश्वत के प्रश्न पर मौन रहते थे,² क्योंकि शाश्वत कहते तो उसका समर्थन होता जो मत स्थिरता में विश्वास रखता है और अशाश्वत कहते तो उनका समर्थन होता जो शून्यवाद में विश्वास करते हैं।³

नागसेन और राजा मिलिन्द के प्रश्नोत्तर में भी आत्मा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। राजा मिलिन्द पूछता है- आत्मा क्या है? तब नागसेन समाधान के स्थान पर प्रश्न करते हैं कि क्या डंडे को, धुरा को, पहिये को और ढांचे को रथ कहते हैं? मिलिन्द ने कहा-भगवन्! ये सब रथ के भाग हैं, रथ नहीं।

तब नागसेन ने कहा-उसी प्रकार से एक साथ उपस्थित स्कंधों का नाम ही सत् या आत्मा है।⁴

बौद्ध दर्शन में क्षणिक संबेदनाओं को ही आत्मा कहते हैं। इनके अतिरिक्त आत्मा की पृथक् सत्ता उपलब्ध नहीं होती।⁵

हीनयानी वसुबंध ने स्पष्ट कहा है कि पंचस्कंधी के अलावा आत्मा कोई तत्त्व नहीं है।⁶

बुद्ध ने बिना किसी आधार के भी संसार की अविच्छिन्नता की व्याख्या

1. गणधरबाद:- प्रस्तावना पृ. 92

2. मज्झिम-निकाय मूलपण्णासक 35.3.5-24

3. भा. दर्शन डा. राधाकृष्णन् भाग एक पृ. 384.

4. मिलिन्द 2.1.1

5. मज्झिम-निकाय उपरिपण्णासक 2.2.1-6

6. अभिधर्मकोष 3.18

कारणकार्यभाव से की है। इस कारणकार्यभाव को ही संसार की अविच्छिन्नता का कारण बताया। “परिवर्तन युक्त तत्त्व अस्तित्व रखता है।” यह सत्य है कि जो कुछ विद्यमान है वह सब कारणों एवं अवस्थाओं से ही प्रादुर्भूत हुआ है और प्रत्येक स्थिति में अस्थिर है।¹

बुद्ध ने यह भी स्पष्ट किया कि चेतना मात्र क्षणिक है, वस्तुएं नहीं। यह प्रत्यक्ष है कि यह शरीर एक वर्ष, सौ या इससे भी अधिक समय तक रह सकता है, परंतु जिसे मन, बुद्धि, प्रज्ञा या चेतना कहते हैं, वह दिनरात एक प्रकार के चक्र के रूप में परिवर्तित होती रहती है।²

बुद्ध न आत्मा की स्वीकृति देते हैं न आत्मा से संबंध रखने वाली अन्य किसी वस्तु की। उनके अनुसार आत्मा की नित्यता, अपरिवर्तनशीलता आदि मूर्खों की बकवास है।³

बुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना कहा है। यह चेतन तो है, पर मात्र चेतन है, ऐसा नहीं है। वह नाम और रूप इन दोनों का समुदाय रूप है। इसे भौतिक या अभौतिक का मिश्र रूप कहना चाहिये। इसमें भी भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग झलकता है।⁴

चार्वाक और आत्मा:— चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। इन पंचमहाभूतों से आत्मा उत्पन्न होता है और इन्हीं में विलीन हो जाता है।⁵

प्राचीन चार्वाक चार महाभूत ही मानते थे, परंतु अर्वाचीन चार्वाकों ने प्रसिद्ध होने से पाँचवें आकाश को भी महाभूत मान लिया।

आगे वे कहते हैं कि इन पंचमहाभूतों के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है। क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, अच्छा, बुरा, सिद्धि, असिद्धि, नरक या अन्य गति आदि इनसे ही हैं।⁶

1. भा. दर्शन भाग 1. डा. राधा. पृ 341

2. संयुक्त. 2-96

3. मज्झिम निकाय 1.138.

4. संयुक्तनिकाय 1.135

5. सूत्रकृतांग 1.1.7, 8.

6. सूत्रकृतांग 2.1.655.

इन पंचमहाभूतों को न किसी ने बनाया है और न बनवाया है; न तो ये कृत है, न कृत्रिम और न ही किसी से अपनी उत्पत्ति की अपेक्षा रखते हैं। ये पंचमहाभूत आदि-अंत रहित हैं, स्वतंत्र एवं शाश्वत हैं।¹

पाँच महाभूत ही जीव हैं। ये ही अस्तिकाय हैं। ये ही जीवलोक हैं। संसार का कारण ये ही हैं। तृण का कंपन तक इनके कारण ही होता है।²

इन पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों के शरीर रूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्नज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे गुड़, महुआ आदि मद्य की सामग्री के संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पाँच भूतों के संयोग से शरीर में चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे जल में बुलबुले उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं, वैसे ही पंचमहाभूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है।³

शरीर से अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है, जो लोक परलोक जाकर शुभ अशुभ का फल भोगे। जो कुछ है शरीर है और वह भी बिजली की तरह चंचल है, इसलिए खाओ, पीओ और मस्ती से रहो।⁴

सांख्य दर्शन में आत्मा - सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति दो मुख्य तत्व हैं। वैसे तो सांख्य दर्शन 25 तत्व मानता है। इनमें प्रकृति और उसके 23 विकारों एवं पुरुष का समावेश है।

सांख्य के अनुसार यह चैतन्य शरीर नहीं है और न तत्वों से उत्पन्न पदार्थ है। यह उनके अंदर अलग-अलग विद्यमान भी नहीं है, अतः उन सबमें एक साथ नहीं हो सकता।⁵ यह इन्द्रियों से भिन्न है।⁶ इन्द्रियाँ दर्शन के साधन अवश्य हैं, दृष्टा नहीं। पुरुष बुद्धि से भी भिन्न है, क्योंकि बुद्धि अचेतन है।

हमारे अनुभवों की एकता आत्मा के कारण है। विशुद्ध आत्मा ही पुरुष है जो प्रकृति से भिन्न है।⁷ पुरुष का प्रकाशमय स्वरूप कभी परिवर्तित नहीं

1. वही 665.

2. वही 657.

3. षड्दर्शन समुच्चय 84., प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 115.

4. षड्दर्शन समुच्चय टीका 82.564.

5. सांख्यप्रवचनसूत्र 5.129.

6. वही 2.29.

7. सा.प्र.सू. 6.1.2.

होता।¹ यह सुषुप्ति अवस्था में भी विद्यमान रहता है।² यह पुरुष न किसी का कार्य है और न कारण।³

बुद्धि, मन आदि चैतन्य पुरुष की दासता में है। सांख्य का पुरुष चैतन्यमय है। यह आनंदमय नहीं है क्योंकि आनंद तो सतोगुण के कारण होता है, जिसका संबंध प्रकृति से है। यह न परिमित है न अणुरूप। यह किसी क्रिया में भाग नहीं लेता। सांख्य का पुरुष गुण रहित है तथा यह न सुखमय है और न दुःखमय।⁴

सांख्य के अनुसार भी आत्माएँ अनेक हैं। इनकी इन्द्रियाँ, कर्म, जन्म, मरण सभी भिन्न-भिन्न हैं।⁵ कोई स्वर्ग में जाती हैं तो कोई नरक में।

सांख्य के पुरुष का न आदि है और न अंत है। यह निर्गुण, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, नित्यदृष्टा, इन्द्रियातीत तथा मन की पहुँच से बाहर है। यह व्यावहारिक अर्थों में सब वस्तुओं को नहीं जानता, क्योंकि शारीरिक सीमा सीमित इन्द्रियों और मन के द्वारा ही ज्ञान संभव है। जब आत्मा इस सीमा से मुक्त होता है तब इसे परिवर्तन का बोध नहीं रहता, अपितु फिर यह अपने स्वरूप में रहता है।⁶ पुरुष प्रकृति से संबद्ध नहीं है, मात्र दर्शक है, उदासीन है, अकेला है और निष्क्रिय है।⁷

पुरुष और प्रकृति परस्पर प्रतिकूल लक्षण वाले हैं। प्रकृति परिवर्तनशील है। पुरुष अमूर्त, चेतन, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, भोक्ता, निर्गुण, सूक्ष्म आत्मा है। प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्वगुण, रजोगुण तमोगुण) प्रमेय है, अहंकार सहित है और जीव है।⁸ सांख्य दर्शन में पुरुष और आत्मा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। अहंकार सहित पुरुष ही जीव है।⁹

विशुद्ध आत्मा बुद्धि से परे है, जबकि बुद्धि के अंदर पुरुष का प्रतिबिम्ब

1. सांख्य प्रवचनभाष्य 1.75
2. सां.प्र.सू. 1.148
3. सां.प्र.सू. 1.61
4. भा. दर्शन. डा. राधा. भाग. 2 पृ. 279
5. सा.प्र.सू. 6.45
6. सा.प्र. सूत्र वृत्ति 6.59.
7. सां. का. 19.
8. सां. प्र. सू. वृत्ति 6.63
9. सां प्र. भाष्य 6.63

अहंभाव के रूप में प्रतीत होता है, जो हमारी सभी अवस्थाओं का जिसमें सुख दुःख भी सम्मिलित हैं, बोध प्राप्त करने वाला है। जब तक हम आत्मा को बुद्धि से भिन्न नहीं समझते जो लक्षण और ज्ञान में बुद्धि से भिन्न है तब तक हम बुद्धि को ही आत्मा समझते रहते हैं।¹

प्रत्येक अहंभाव एक ऐसा सूक्ष्म शरीर रखता है जो इन्द्रिय सहित मानसिक उपकरण से निर्मित है और यही सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है।²

पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप है, परंतु जब तक यह रजोगुण और तमोगुण से आच्छन्न रहता है तब तक यथार्थ को भूल जाता है। मोक्ष तथा बंधन रूप परिवर्तन का संबंध सूक्ष्म शरीर के साथ है जो पुरुष के साथ संलग्न है। लौकिक जीवात्मा, पुरुष और प्रकृति का मिश्रण है। जब रजोगुण प्रधान होता है तो पुरुष मानवीय जगत में प्रवेश करता है। वहाँ वह बैचेन होकर दुःख से छुटकारा पाने मुक्ति के लिए प्रयत्नवान होता है। जब सत्वगुण की अधिकता हो जाने पर रक्षापरक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब प्रकृति अहं को और अधिक जीवन की आपदा से बांधकर नहीं रख पाती। उस अवस्था में मृत्यु के बाद प्रकृति और पुरुष का बंधन टूट जाता है। आत्मा मुक्त हो जाती है।

जीवास्तिकाय के लक्षणः—द्रव्य के जितने भी लक्षणों पर द्वितीय अध्याय में निमर्श किया गया है वे जीव में भी पाये जाते हैं, अतः जीव भी द्रव्य है। जैन आगमों में 'जीव' शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं; जीवास्तिकाय, प्राण, भूत, सत्व, विज्ञ, चेता, जेता, आत्मा, पुद्गल, मानव, कर्त्ता, विकर्त्ता, जगत, जन्तु, योनि, शरीर और अन्तरात्मा।³

जीव का लक्षण उपयोग है।⁴ 'उपयोग' शब्द व्यापक अर्थवाला है। वह ज्ञान और दर्शन दोनों को समाहित करता है। यह उपयोग दो प्रकार का है। कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में⁵ एवं हरिभद्रसूरि ने षड्दर्शन समुच्चय में⁶

1. योगसूत्र 2.6
2. सां.प्र.सू. 3.16
3. भगवती 20.2.7
4. उपयोगो लक्षणम् त. सू. 2.8, भगवती 13.4.27. "जीवो उवओगमओ" वृ.द.स.2.
5. स.सा. 48.
6. षड्दर्शनसमु. 49

जीव का लक्षण चेतना किया है। उत्तराध्ययन में जीव का लक्षण उपयोग ही उपलब्ध होता है।¹ पंचास्तिकाय में कुंदकुंद ने जीव का लक्षण उपयोग और चेतना उभय रूप किया है।² इससे यह प्रतीत होता है कि 'चेतना' और 'उपयोग' दोनों एकार्थक हैं। चेतना जीव की योग्यता एवं उपयोग उसकी क्रियान्विति है।

उपयोग के प्रकार:- उपयोग दो प्रकार का है- ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग।³ इसे गुणरत्नसूत्रि ने षड्दर्शन की टीका में साकार चैतन्य (ज्ञान) और निराकार चैतन्य (दर्शन) भी कहा है।⁴ बृहद् द्रव्य संग्रह टीका में इसे सविकल्पक भी कहा गया है।⁵

पंचास्तिकाय में जीव को ज्ञानदर्शन से युक्त बताकर इन्हें जीव के साथ अनन्य व सर्वकाल भी कहा गया है, अर्थात् जीव में ज्ञानदर्शन रूप उपयोग तीनों कालों में रहता है।⁶ जो विशेष को ग्रहण करता है वह ज्ञान और जो सामान्य को ग्रहण करता है वह दर्शन है।⁷ जीव का लक्षण ज्ञानमय दर्शनमय है।

दर्शन की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—“पश्यति दृष्यते दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्” अर्थात् जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है अथवा देखनामात्र ही दर्शन है।⁸ जब विषय और विषयी का सन्निपात होता है तब दर्शन होता है।⁹

विशेषण से शून्य 'कुच्छ' है, यह ग्रहण होना दर्शन है।¹⁰ अभिप्राय यह है कि जब कोई ज्ञायक किसी पदार्थ को मात्र देखता है, उस प्रक्रिया में तब जब तक वह कोई विकल्प न करे, तब तक जो सत्तामात्र का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं, और जैसे ही दृष्ट पदार्थ के शुक्ल कृष्ण इत्यादि विशेषणों से युक्त

1. उत्तरा. 28.70

2. पं.का. 16

3. स.सि. 2.8.273

4. षड्द. टी. 49.97. वृ.त.कृ. 2.8.15.86

5. बृ.द्र.स.टी. 4.15

6. पं.का. 40

7. पं.का.टी. 40.75

8. स.सि. 1.1.6.4

9. वही 1.15.190.79

10. स.भ.त. 47.9.

विकल्प रूप प्रतीति होने लगती है, तब उसे ज्ञान कहते हैं।¹

ज्ञान की परिभाषा देते हुए पूज्यपाद ने कहा है कि, जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है।²

ज्ञान और दर्शन की संयुक्त व्याख्या:—सामान्य की मुख्यता पूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते हैं और विशेष की मुख्यता पूर्वक सामान्य को गौण करके पदार्थ के जानने को ज्ञान कहते हैं।³

ज्ञान और दर्शन में अंतर:—ज्ञान और दर्शन जीव के स्वभाव हैं, अतः दोनों अभिन्न हैं, परंतु कथंचित् भिन्न भी हैं। जिसके द्वारा देखा जाये और जाना जाये उसे दर्शन कहते हैं—इस प्रकार के लक्षण से, ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रहेगी तथा चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी दर्शन हो जायेंगे। यदि कोई ऐसी शंका करे, तो उसका समाधान है कि नहीं! ऐसा नहीं है। अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। देखने में सहकारी कारण होते हुए भी आलोक और चक्षु दर्शन नहीं हो सकते हैं क्योंकि चक्षु और आलोक आत्मा के स्वभाव नहीं हैं।⁴

दर्शन मात्र सामान्य का ही और ज्ञान विशेष का ही ग्राहक नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेषात्मक हैं और सामान्य विशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है। दूसरी बात यह भी है कि सामान्य को छोड़कर मात्र विशेष अर्थक्रिया करने में असमर्थ है। अर्थक्रिया में जो समर्थ नहीं होती वह अवस्तु होती है। उस अवस्तु का ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं होता तथा मात्र विशेष का ग्रहण भी तो नहीं होता क्योंकि सामान्य रहित केवल विशेष में कर्त्ता कर्म रूप व्यवहार नहीं बन सकता। जब विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं बनता तो मात्र सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन भी नहीं बनता।⁵

दर्शन व ज्ञान में स्व पर ग्राहकता का समन्वय:—ज्ञान को बहिर्मुख प्रकाशक और दर्शन को अन्तर्मुख प्रकाशक कहा गया है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं

1. वृ.द्र.सं. 43. 216

2. स.सि. 1.1.64

3. स्याद्वादमं. 1.8.

4. धवला 1.1.4. 145.

5. वृ.द्र.सं. 44.215-215-218 एवं घ. 1.1.1.4.146.3.

कि ज्ञान मात्र पर-प्रकाशक ही है और दर्शन मात्र स्व-प्रकाशक है। और इस विधि से आत्मा स्व पर प्रकाशक दोनों है।¹ अगर ज्ञान मात्र पर प्रकाशक हो तो बाह्यस्थिति के कारण आत्मा का ज्ञान से संपर्क ही नहीं रहेगा, तब स्व को जानने का उसका स्वभाव होने पर सर्वगतभाव नहीं रहेगा! इसी प्रकार दर्शन भी मात्र अंतर रूप को ही देखे, बाह्यस्थित पदार्थ को न देखे, यह संभव नहीं है, अतः ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है!²

अगर ज्ञान को पर प्रकाशक मानें तो संपूर्ण सृष्टि चेतनमय बन जाएगी क्योंकि ज्ञान पर प्रकाशक होने के कारण द्रव्य से भिन्न होकर या तो शून्यता की आपत्ति होगी या जहाँ-जहाँ वह पहुँचेगा वे सारे द्रव्य चेतन हो जायेंगे।³

आत्मा ज्ञानमय भी नहीं है, बह उभय है। जिस प्रकार अग्नि में दाहकता भी है और पाक गुण भी।⁴

ज्ञान के प्रकार:—वह ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।⁵

बृहद द्रव्य संग्रह में भी व्यवहार नय से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन कहा है, परंतु इसे सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा है। शुद्ध नय की अपेक्षा से तो शुद्ध ज्ञान दर्शन ही जीव का लक्षण है!⁶ पंचास्तिकाय में कुंदकुंदाचार्य ने भी ज्ञान दर्शन की इसी संख्या की पुष्टि की है तथा नामोल्लेख किए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान केवलज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और विभंगज्ञान ये ज्ञान के एवं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शन के भेद बतलाए हैं।⁷

ज्ञान के अंतिम तीन भेदों को विभाव ज्ञान भी कहते हैं।⁸

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यव को विभावज्ञानोपयोग और

1. नियमसार 161.

2. नि.सा.ता.वृ. 161

3. नियमसार 162.

4. नि.सा.ता.वृ. 162.

5. त.सू. 2.9.

6. वृ.द्र.सं. 6.

7. पं. का 41-42, स.सि. 2.9 237.

8. नि.सा.ता.वृ. 10

केवल-ज्ञान को स्वभाव ज्ञानोपयोग कहते हैं!¹ यह ज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष असहाय है!² चक्षु, अचक्षु, अवधि ये दर्शन विभाव दर्शन एवं केवल दर्शन स्वभाव दर्शन है।³

यह ज्ञान और दर्शनमय उपयोग, छद्मस्थ कर्मयुक्त आत्मा को क्रम से और केवली को युगपत् होता है!⁴

नियमसार में सूर्य का उदाहरण देते हुए इसे और स्पष्ट किया है, जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञानी को ज्ञान और दर्शन एक साथ वर्तता है।⁵

सहवादी और क्रमवादी:—द्रव्य और गुण अनन्य हैं, वे एक दूसरे से अभिन्न होते हैं।⁶ ज्ञान जीव का स्वरूप या लक्षण है, अतः आत्मा-आत्मा को जानता ही है।⁷ परंतु केवली को वह उपक्रम पूर्वक होता है या एक साथ, इसमें श्वेतांबर और दिगंबर परंपरा में मतभेद है।

श्वेतांबर परम्परा के आगम पाठ यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि ज्ञान और दर्शन एकसाथ संभव नहीं है।

गौतम और महावीर का संवाद भगवती सूत्र में पठनीय है। गौतम जिज्ञासु भाव से पृच्छा करते हैं, प्रभु! क्या परमअवधिज्ञानी मनुष्य जिस समय परमाणु पुद्गल स्कंध को जानता है, उस समय देखता है? प्रभु ने समाधान में कहा—नहीं।

गौतम स्वामी ने पुनः पूछा—ऐसा क्यों? तब भगवान ने कहा—परमअवधिज्ञानी का ज्ञान साकार (विशेषग्राहक) है और दर्शन अनाकार है, अतः जानना और देखना एक समय में संभव नहीं है। यही प्रश्न पुनः केवल ज्ञानी के बारे में पूछा तो परमात्मा ने ज्ञान और दर्शन एक ही काल में असंभव बताए और वही कारण दोहराया।⁸

1. ति.सा. 10.

2. ति.सा. 12.

3. ति.सा. 13.14.

4. स.मि. 2.9.273.

5. ति.सा. 160.

6. पं.का. 45.

7. ति.सा. 170.

8. भगवती 18.8.21.22.

गौतम महावीरकी इसी प्रकार की चर्चा 'प्रज्ञापना' में उपलब्ध होती है। "जिस समय केवली रत्नप्रभा नरक को देखते हैं, उस समय जानते हैं या नहीं?"

प्रभु- यह संभव नहीं है।

गौतम:- इसका क्या कारण है कि ज्ञान दर्शन युगपत् नहीं होता?

प्रभु:- चूँकि ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार। अतः साथ-2 दोनों उपयोग नहीं होते।

परंतु श्वेतांबर परम्परा के ही प्रखर तार्किक आचार्य सिद्धसेन अपनी युक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान और दर्शन युगपत् होते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाला केवल ज्ञान जैसे उत्पन्न होता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म क्षय से केवल दर्शन भी उत्पन्न होता है।²

जब आवरण क्षय हो जाता है तो मतिज्ञान नहीं होता वैसे ही आवरणक्षय होने पर दर्शन में कालभेद करना उचित नहीं होता।³ व्यक्त और अव्यक्त का भेद सामान्य आत्मा में होता है, परंतु केवली आत्मा में नहीं होता। अव्यक्त दर्शन और व्यक्त ज्ञान ये दोनों केवली के लिए एकसाथ संभव है!⁴ यदि ऐसा नहीं माना जाय तो सर्वज्ञता भी क्रमवाद में खंडित हो जाएगी। सर्व जानना और देखना ही सर्वज्ञ की परिभाषा है।⁵

श्वेताम्बर परम्परा के ही आचार्य जिनभद्रसूरि के अनुसार केवलज्ञान केवलदर्शन एक साथ नहीं होते।⁶

दिगम्बर परम्परा में यद्यपि यह प्रचलित है कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन युगपत् होते हैं, परंतु उन्हीं के कुछ उद्धरण ऐसे हैं जिनसे यह तथ्य पुष्ट होता है कि वे भी क्रमवादी हैं।

1. प्रज्ञापना 30.319. पृ. 531.

2. सं.त. 2.5.

3. वही 2.6.

4. वही 2.11.

5. वही 2.13.

6. विशेषावश्यक भाष्य 3096

गुणधराचार्य की कषायपाहुड की मूल 15-20 की गाथाओं में जिन मार्गणाओं के अल्प बहुत्व के रूप में जघन्य उत्कृष्ट काल कहा गया है, इसमें उत्कृष्ट काल के अल्पबहुत्व में कहा है “चक्षुदर्शनोपयोग के उत्कृष्ट काल से चक्षुज्ञानोपयोग का काल दुगुना है।” उससे श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, इन्द्रियों का ज्ञानोपयोग, मनोयोग, वचनयोग, कार्ययोग आदि स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है। स्पर्शनेन्द्रिय के ज्ञानोपयोग से अवायज्ञान का उत्कृष्ट काल दुगुना है! इससे ईहा ज्ञानोपयोग का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है! इससे श्रुतज्ञान का, श्रुतज्ञान से श्वासोच्छ्वास का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है।

केवल ज्ञान केवलदर्शन कषाय सहित जीव के शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट काल स्वस्थान में समान होते हुए भी प्रत्येक का उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास से विशेष अधिक है।

केवलज्ञान के उत्कृष्ट काल से एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का उत्कृष्ट काल विशेष अधिक है। इनसे पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान का काल दुगुना है। इससे प्रतिपाती सूक्ष्म संपराय उपशम श्रेणी में चढने वाले का; सूक्ष्म संपराय, क्षपक संपराय का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है।

सूक्ष्म सांपरायिक जीव के उत्कृष्ट काल से मान कषाय का उत्कृष्ट काल दुगुना है। इससे क्रोध, मान, माया, लोभ, क्षुद्रभवग्रहण, कृष्टिकरण, संक्रामक का उत्कृष्ट काल क्रमशः विशेष अधिक है। इससे उपशांत कषाय का काल दुगुना है। इससे क्षीण कषाय का, इससे चारित्र मोहनीय के उपशामक का, इससे चारित्रमोहनीय के क्षपक का काल विशेष अधिक है।¹

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शनोपयोग संबंधी सभी इन्द्रियों, मन, वचन काया, अवाय, ईहा, व श्रुतज्ञान इनका उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम होता है। केवलज्ञानोपयोग व केवल दर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल एक श्वासोच्छ्वास से अधिक और दो श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम होता है। अर्थात् इस समय तक में उपयोग बदल जाता है। अतः जहाँ केवलज्ञान व केवलदर्शन के उपयोग का समय अन्तरमुहूर्त दिया है, वहाँ यह अन्तरमुहूर्त से श्वासोच्छ्वास के उत्कृष्ट काल से कम ही समझें।²

1. कषायपाहुडः 15-20.

2. कुसुम अभि. ग्रन्थ- कन्हैयालाल लोढा सं. 4 पृ. 288.

केवल ज्ञान और केवलदर्शन का उत्कृष्ट काल अन्तर्महर्त कहा है, इससे लगता है, केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती।¹

टीकाकार वीरसेनाचार्य ने इसे इन शब्दों में पुष्ट किया है “कार्यरहित शुद्ध जीव प्रदेशों से घनीभूत दर्शन और ज्ञान में अनाकार और साकार रूप से उपयोग रखने वाले होते हैं, यह सिद्धात्मा का लक्षण है।²

अगर उपयोग युगपत् होता तो इनका काल अनंत उत्कृष्ट काल होना चाहिए था, परंतु कषाय-पाहुड की मूल गाथा में केवल ज्ञानोपयोग व केवलदर्शनोपयोग का उत्कृष्ट काल दो श्वास से कम बताया गया है, जो क्रमवाद मानने पर ही संभव है।

दर्शनावरण और ज्ञानावरण के क्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति एक साथ होती है, परंतु दोनों उपयोग एक साथ नहीं हो सकते।³

इससे यही सारांश निकलता है कि गुण तो एक साथ रहते हैं, पर उपयोग क्रमपूर्वक होता है। गुण उपलब्धि है। उपयोग का अर्थ है उस गुण में प्रवृत्त होना। उपयोग और उपलब्धि भिन्न हैं। एक व्यक्ति अनेक विषयों का ज्ञाता है, पर वह उस समय एक ही दर्शन में उपयोग लगाए हुए है, पर इससे अन्य विषय के ज्ञान का अभाव नहीं है।

अनेकात्मा है:—तत्त्वार्थ सूत्र में “जीवाश्च”⁴ सूत्र उपलब्ध होता है। इससे जैन दर्शन का अनेकात्मवाद प्रकट होता है।

अकलंक ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—जीवों की अनंतता और विविधता सूचित करने के लिये “जीवाश्च” बहुवचन का प्रयोग किया है। संसारी जीव गति आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीव स्थानों के विकल्पों से अनेक प्रकार के हैं। मुक्त जीव भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, समयसिद्ध शरीराकार, अवगाहना के भेद से अनेक प्रकार के हैं।⁵

1. कषायपाहुड पृ. 319.

2. धवला 2.9.56 पृ. 98.

3. कषायपाहुड 137. पृ. 321

4. त. सू. 5.

5. त. वा. 5.3.442.

एक शरीर में अनेक आत्मा रह सकती हैं, परंतु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती।

गणधरवाद में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। जब गौतम स्वामी ब्राह्मण पंडित के रूप में भगवान से चर्चा करने जाते हैं और पूछते हैं कि उपनिषद् की यह मान्यता स्वीकार कर लें कि सब ब्रह्म ही हैं तो क्या हानि है?

भगवान—गौतम! ऐसा संभव नहीं क्योंकि आकाश की तरह सभी पिण्डों में एक आत्मा संभव नहीं। सभी पिण्डों में लक्षण भेद हैं। प्रत्येक पिण्ड में भिन्न लक्षण प्रतीत होने से वस्तु भेद स्वीकार्य है।¹

आत्मा एक हो तो सुख, दुःख, बंध, मोक्ष, की भी व्यवस्था संभव नहीं है। हम देखते हैं—एक सुखी है, एक दुःखी है, एक बद्ध है, एक मुक्त है। एक ही जीव का एक ही समय में बंध और मोक्ष दोनों संभव नहीं है।²

जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग प्रत्येक आत्मा का समान नहीं होता। उत्कर्ष, अपकर्ष अवश्य पाया जाता है, अतः जीव अनंत मानना चाहिये।³

एक ही जीवात्मा मानने से न कोई कर्त्ता होगा, न भोक्ता, न मननशील, न कोई सुखी होगा, न कोई दुःखी, क्योंकि शरीर का अगर अधिकांश भाग पीड़ित हो तो सुखी नहीं होता, वैसे ही संसार का अधिकांश भाग बंधा हुआ हो तो एक अंश मुक्त और सुखी कैसे हो सकता है।⁴ प्रत्येक पिण्ड की आत्मा के अपने सुख, दुःख, स्मृति, ज्ञान उपयोग होते हैं। अतः आत्मा की अनेकता व्यवहार में भी स्पष्ट है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी एकात्मवाद का विरोध किया गया है। जो यह मानता है कि एक आत्मा ही नाना रूपों में दिखायी देती है। वह प्रारंभ में आसक्त रहकर पाप कर लेता है, फिर अकेले उसे ही दुःख और पीड़ा भोगनी पड़ती है। संपूर्ण जगत् को नहीं।⁵

देहपरिमाण आत्मा:—आत्मपरिमाण के संबंध में विविध वाद प्रचलित है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग आत्मा को व्यापक मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा

1. गणधरवाद- 1581.
2. वही 1582.
3. वही 1583.
4. वही 1584.85.
5. सूत्रकृतांग 1.1.9.10.

अमूर्त है, अतः आकाश की तरह व्यापक है। गीता भी यही मानती है।²

रामानुज, वल्लभाचार्य, माधवाचार्य, व निम्बार्काचार्य आत्मा को अणु परिमाण मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा बाल के हजारवें भाग बराबर है और हृदय में निवास करती है।³ उनका कथन है, अगर आत्मा को अणु परिमाण न माना जाय तो उसका परलोक गमन नहीं होगा।

जैन दर्शन आत्मा को न व्यापक मानता है, न अणुपरिमाण वह आत्मा को देहपरिणाम मानता है। आत्मा सर्वव्यापी नहीं, अपितु शरीरव्यापी है। जिस प्रकार घट गुण घट में ही उपलब्ध है, वैसे ही आत्मा के गुण शरीर में ही उपलब्ध है। शरीर से बाहर (संसारी) आत्मा की अनुपलब्धि है, अतः शरीर में ही उसका निवास है।⁴

कर्तव्य, भोक्तृत्व, बंध मोक्ष आदि युक्तियुक्त तभी बनते हैं, जब आत्मा को अनेक और शरीर व्यापी माना जाय।⁵

आत्मा कथंचित् व्यापक है, पर वह सामान्य अवस्था में नहीं है। केवली समुद्घात अवस्था में आठ समय में चौदह राज परिमाण लोक में व्याप्त होने की अपेक्षा वह व्यापक है, परंतु यह स्थिति कभी-कभी होती है, नियत नहीं। मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों के बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। यह समुद्घात सात प्रकार का है।⁶

- (1) तीव्र वेदना होने के समय मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों के बाहर जाने की वेदना को वेदना समुद्घात कहते हैं।
- (2) तीव्र कषाय के उदय से दूसरे का नाश करने के लिये मूल शरीर को बिना छोड़े आत्मा के प्रदेशों के बाहर निकलने को कषायसमुद्घात कहते हैं।
- (3) जिस स्थान में आयु का बंध किया हो, मरने के अंतिम समय उस

1. तर्कभाषा पृ. 149.

2. गीता 2.20

3. भारतीय दर्शन भाग 2 डा. राधाकृष्णन् पृ. 692.

4. गणधरवाद 1586.

5. वही 1587.

6. भगवती 2.2.1. पण्ण वणा भा. 1. पृ. 237 एवं स्याद्वादमजरी 9.75.

स्थान के प्रदेशों को स्पर्श करने के लिये मूल शरीर को न छोड़ आत्मा के प्रदेशों के बाहर निकलने को मारणांतिक समुद्घात कहते हैं।

- (4) तैजस् समुद्घात दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। जीवों को किसी व्याधि या दुर्भिक्ष से पीड़ित देखकर मूल शरीर को न छोड़ मुनियों के शरीर से बारह योजन लम्बे सूच्यगुल के असंख्येय भाग, अग्रभाग में नौ योजन, शुभ आकृति वाले पुतले के बाहर निकल जाने की शुभ तैजस् समुद्घात कहते हैं। यह पुतला व्याधि, दुर्भिक्ष आदि को नष्ट करके वापस लौट आता है। किसी प्रकार के अपने अनिष्ट को देखकर मुनियों के शरीर को बिना छोड़े ही मुनियों से उक्त परिमाण वाले अशुभ पुतले के बाहर निकल कर जाने को अशुभ तैजस्समुद्घात कहते हैं। यह अशुभ पुतला अपने अनिष्ट को नष्ट करके मुनि के साथ स्वयं भी भस्म हो जाता है।
- (5) मूल शरीर को न छोड़कर किसी प्रकार की विक्रिया करने के लिये आत्मा के प्रदेशों के बाहर जाने को वैक्रिय समुद्घात कहते हैं।
- (6) ऋद्धिधारी मुनियों को किसी प्रकार की तत्वसंबंधी शंका होने पर उनके मूल शरीर को बिना छोड़े शुद्ध स्फटिक के एक हाथ के बराबर पुतला का आकार मस्तक के बीच से निकलकर शंका की निवृत्ति के लिये केवली भगवान के पास भेजा जाना आहारक समुद्घात कहलाता है। यह पुतला केवली भगवान के पास अन्तर्मुहूर्त काल में पहुँच जाता है और शंका की निवृत्ति होने पर अपने स्थान पर आ जाता है।
- (7) वेदनीय कर्म के अधिक रहने पर और आयु कर्म के कम रहने पर आयु कर्म को बिना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्म बराबर करने के लिये आत्मप्रदेशों का समस्त लोक में व्याप्त हो जाना, केवलीसमुद्घात है। इस अपेक्षा से आत्मा व्यापक है।

जिस प्रकार रूपादि घट में ही उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार आत्मा शरीर में ही उपलब्ध होती है। तथा शरीर के संपूर्ण प्रदेशों में व्याप्त रहती है।

आत्मा को सर्वगत मानने से वह सर्वज्ञ हो जायेगी, फिर अपने सुख

दुःख का संवेदन कैसे करेगी, क्योंकि आत्मा को सुख दुःख होते हैं।¹

केवलीसमुद्घात के अतिरिक्त एक और कारण से भी आत्मा व्यापक है-वह है उसका ज्ञान गुण। ज्ञान समस्त पदार्थों को जानने से सर्वगत है।² ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। उसे और आत्मा को अलग नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से ज्ञानियों ने द्रव्य (आत्मा) को विश्वरूप कहा है।³

ज्ञानी (आत्मा) को ज्ञान से भिन्न कर दिया जाता है तो दोनों के अचेतन होने की संभावना है।⁴

ज्ञान को और ज्ञानी को भिन्न मानने से हमें अपना ही ज्ञान नहीं होगा।⁵

ज्ञान सर्वगत है, व्यापक है, इस अपेक्षा से आत्मा व्यापक है।

आत्मा को कर्मानुसार जिस प्रकार का शरीर प्राप्त होता है, वह उसी अनुसार अपना संकोच विस्तार कर लेती है। शरीर का कोई अंश ऐसा नहीं होता, जहाँ आत्म प्रदेशों का अभाव रहे। उसमें यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह शरीर को व्याप्त कर ले।⁶ केवलीसमुद्घात के समय वह लोक में व्याप्त होता है, जीव के मध्य के आठ प्रदेश मेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथ्वी के वज्रमय पटल के मध्य में स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे और तिरछे, समस्त लोक को व्याप लेते हैं।⁷

अमृतचंद्राचार्य ने प्रवचनसार की टीका में अमूर्त आत्मा का संकोच विस्तार कैसे संभव है यह प्रश्न उठाकर स्वयं समाधान कर दिया कि “यह तो अनुभवगम्य है—जैसे जीव स्थूल तथा कृश शरीर में, बालक तथा कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।”⁸

निश्चयदृष्टि से सहजशुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यप्रदेशी जीव होने पर भी व्यवहार से अनादिबंध के कारण पराधीन शरीर नामकर्म उदय के कारण

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 177.

2. प्रवचनसार 23-28

3. प. का 43

4. पंचास्तिकाय 48

5. स्याद्वादमं पृ. 67

6. स.सि. 5.8.541.

7. वही

8. प्र.सा.ता.वृ. 137

संकोच विस्तार युक्त होकर घटादि पात्र में दीपक की तरह स्वदेह प्रमाण है।¹

नित्यता तथा परिमाणी अनित्यता:—आचारांग सूत्र का प्रारंभ ही इस सूत्र से हुआ है कि आत्मा परिणमनशील है। जैसे कुछ मनुष्यों को यह संज्ञा नहीं होती कि “मैं पूर्व दिशा से आया हूँ ‘पश्चिम दिशा से आया हूँ’ उत्तर, ऊर्ध्व, अधो, या किसी अन्य दिशा से आया हूँ या अनुदिशा से आया हूँ।”²

इस अनुसंचरण का इतना महत्व बताया कि इसे “आत्मवादी” का लक्षण तक बतला दिया।³ पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है, परंतु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है। जैसे संसारी पर्याय की दृष्टि से नष्ट, मुक्त के रूप में उत्पन्न और द्रव्यत्व की दृष्टि से अवस्थित है।⁴

सांख्य आत्मा (पुरुष) को सर्वथा अपरिणामी मानता है।⁵

मनुष्यत्व से नष्ट हुआ जीव देवत्व को उपलब्ध होता है, पर इसमें जीव न उत्पन्न होता है, न नष्ट।⁶ पर्याय परिणमन रूप क्रिया से आत्मा अनित्य और द्रव्यत्व या जीवत्व में सदैव स्थायी होने से नित्य है। तत्त्वार्थ में धर्म, अधर्म, आकाश और काल को निष्क्रिय बताया। इससे यह भली प्रकार से अनुमान लगाया जा सकता है कि पुद्गल और जीव सक्रिय है।

क्रिया की व्याख्या पूज्यपाद ने इस प्रकार की है। “अंतरंग और बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है, वह क्रिया कहलाती है।⁷ यह गतिक्रिया संसारी जीवों में होती हैं इसीलिये यह विभाव क्रिया कहलाती है और सिद्धों में मात्र स्वभाव क्रिया है, जो ऊर्ध्व लोक की ओर ही ले जाती है और संसारी जीवों की क्रिया छह दिशाओं में होती हैं।⁸

द्रव्य और उत्पाद व्यय ध्रौव्य परिणाम युक्त सत् (नित्य) है।⁹ आत्मा

1. वृ.द्र.मं.टी. 2.9.10.

2. आचारांग सूत्र 1.1.1

3. बही 1.1.5

4. गणधरवाद 1843

5. सांख्यकारिका. 17.

6. पं. का 17.

7. म.सि. 5.7.539 एवं त.वा. 5.7.446.

8. नि.सा.ता.वृ. 184. 366.

9. प्र.सा. 8

द्रव्य है, अतः वह भी अन्य द्रव्यों की तरह नित्य है और परिणामी भी।

परिणामी क्या है? इसका तत्वार्थ में समाधान है। द्रव्य का प्रति समय बदलते रहना परिणाम है।¹

परिणाम स्वाभाविक और प्रायोगिक दो प्रकार से होता है।² जीव और पुद्गल इनमें स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों पर्यायों (परिणमन) पायी जाती हैं।³ इस परिणमन की अपेक्षा जीव अनित्य है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य व अपरिणामी एवं पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य और परिणामी है।

आत्मा कर्त्ता भोक्ता है:—उत्तराध्ययन में आत्मा को नानाविध कर्मों का कर्त्ता कहा है।⁴ भोक्ता के रूप में अनेक जाति, योनि में जन्म लेता है।⁵ पापकर्म का कर्त्ता उसके फल का भोक्ता बने बिना मुक्त नहीं हो सकता।⁶

भगवती सूत्र में जीव स्वकृत कर्म फल का भोक्ता है या नहीं, इस विषय में स्पष्ट विवेचन है।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि “जीव स्वकृत कर्म का भोक्ता है या नहीं? परमात्मा समाधान करते हैं— किसी को भोगता हैं, किसी को नहीं। गौतम की जिज्ञासा शांत नहीं हुई। उन्होंने पुनः पूछा—ऐसा क्यों? तब भगवान ने कहा—जो वर्तमान में उदय अवस्था में हैं, उन्हें भोगता है; जो सत्ता (बेलेस) में हैं, उन्हें नहीं। इससे यह न समझे कि वे भविष्य में भोगने नहीं पड़ेंगे। भोगने तो उस को पड़ेंगे ही जो कर्त्ता है।⁷

इस प्रश्न से लगता है, उस समय कुछ ऐसी मान्यता रही होगी कि कर्त्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न हैं या ईश्वर की कृपा हो जाय तो अशुभ का परिणाम भुगतना नहीं पड़ेगा।

भगवान के समाधान से यह व्यावहारिक असंतुलन भी खत्म हुआ कि

1. त.सू. 5.42
2. न्यायवि.टी. 1.10
3. भगवती 1.3.7
4. उत्तराध्ययन 3.2
5. उत्तराध्ययन 3.3
6. उत्तराध्ययन 3.4
7. भगवती 1.2.2,3.

कर्म कोई करें और भोक्ता कोई बनें।

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से ही जीव मात्र के कर्मों की विषमता स्थापित होती है। विभिन्न प्राणी हैं, उन सभी के कर्म बंध भी विभिन्न (असमान) हैं। अतः उनके फल भी असमान ही हैं। भगवती में समानत्व और असमानत्व को लेकर लम्बी चर्चा है।¹

कुंदकुदाचार्य ने समयसार में नयशैली से आत्मा को व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय कर्म, औदारिकादि शरीर, आहारादि पर्याप्ति के योग्य पुद्गल रूप नो कर्म और बाह्य पदार्थ घटपटादि का कर्ता कहा है, परंतु अशुद्ध निश्चय नय से राग द्वेष आदि भाव कर्मों का तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध चेतन ज्ञान दर्शन स्वरूप शुद्ध भावों का कर्ता है।²

संसार एवं मोक्ष इन दोनों का भी जीव स्वयं ही कर्ता भोक्ता है।³

समयसार में संपूर्ण द्वितीय अंक कर्ता और कर्म अधिकार वाला है। समयसार के अनुसार व्यवहार नय से आत्मा अनेक पुद्गल कर्मों का कर्ता, अनेक कर्मपुद्गलों का भोक्ता है।⁴

इन कर्मों को आत्मा व्याप्यव्यापक भाव से तो करता ही नहीं, निमित्त नैमित्तिकभाव से भी आत्मा कर्ता नहीं है। जीव घट, पट अथवा अन्य किन्हीं द्रव्यों का कर्ता नहीं है। परन्तु घटादि व क्रोधादि को उत्पन्न करने वाले योग व उपयोग का कर्ता है।⁵

आत्मा कर्ता और भोक्ता उपचार (व्यवहार) से है, परमार्थ से नहीं। जीव निमित्तभूत होने पर कर्मबंध का परिणाम होता हुआ देख कर, जीव ने कर्म किया, यह उपचार मात्र से कहा जाता है।⁶

युद्ध में सेना ही संघर्ष करती है, पर कथन यही होता है—राजा ने युद्ध किया। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म जीव ने किये, यह भी उपचार

1. भगवती 1.2.5-10.

2. समयसार 98.

3. कालिकेयानुपेक्षा 188.

4. समयसार 84

5. समयसार 100

6. समयसार 105

से कथन है।¹

निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा पर पदार्थों का कर्ता नहीं है। जो यह मानता है, कि मैं दूसरों को मारता हूँ—दूसरे मुझे मारते हैं, वह अज्ञानी है। जो यह मानता है कि मैं दूसरों को सुखी करता हूँ, दूसरे मुझे सुखी करते हैं वह मूर्ख है। इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है क्योंकि कर्मोदय से ही जीव सुखी-दुःखी होते हैं।²

जीवों का वर्गीकरण और शुद्धात्मा का स्वरूप:—जीवों का मुख्य विभाजन संसारी जीव और मुक्त जीव के रूप में किया गया है।³

मुक्तात्मा का स्वरूप:—आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, अतीन्द्रिय, महा पदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालंब और शुद्ध है।⁴ आत्मा ध्रुव, निश्चित शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। यह काल की अपेक्षा से आत्मा के लक्षण है, भाव की अपेक्षा अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श हैं।⁵

आचारांग में कर्ममुक्त आत्मा का स्वरूप इस प्रकार प्राप्त होता है। शुद्धात्मा अवर्णनीय, अगम्य, शरीर रहित, ज्ञाता, न दीर्घ, न ह्रस्व, न वृत्त, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमंडल, न कृष्ण, न नील, न लाल, न पीत, न शुक्ल, न सुगंधित, न दुर्गंधयुक्त, न तिक्त, न कटु, न कषाय, न अम्ल, न मधुर, न कर्कश, न मृदु, न गुरु, न लघु, न शीत, न उष्ण, न स्निग्ध, न रुक्ष है। वह शरीरमुक्त, कर्ममुक्त, अलेप, स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि वेद रहित है। वह मात्र परिज्ञा है, संज्ञा है, चैतन्यमय है, अनुपमेय व अमूर्त है वह पदातीत, शब्दातीत, रूपातीत, रसातीत, स्पर्शातीत है।⁶

आचार्य कुंदकुंद ने आत्मा को निश्चय नय की दृष्टि से ज्ञायक ही कहा है। वह न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, न ज्ञान दर्शन चारित्र्य स्वरूप है।⁷ वह तो मात्र अनन्य, शुद्ध, उपयोग स्वरूप है।

1. समयसार 106.

2. समयसार 247-258.

3. त.सू. 2.10, ठाणांग 2.409

4. प्र.सा. 192

5. ठाणांग 5.173

6. आचारांग 3.123-40 व समयसार 50-55

7. समयसार

नियमसार में भी आत्मा को निःशल्य, निर्ग्रन्थ, वीतराग, सर्वदोष विमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान, निर्मद बताया है।¹

कुंदकुंद ने आत्मा का भावात्मक स्वरूप बताते हुए कहा कि केवलज्ञान स्वभाव, केवलदर्शन स्वभाव, अनंतसुखमय, अनंतवीर्यमय आत्मा हैं।² यही लक्षण उत्तराध्ययन में मिलता है।³

कर्मयुक्त आत्मा:—जब तक आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्म से बंधा हुआ है, तब तक वह संसारी आत्मा कहलाती है। ज्योंही ये कर्म समाप्त होते हैं या जीव से कर्मों का संबंध विच्छिन्न होता है, उसका शुद्ध और उज्ज्वल रूप प्रकट हो जाता है।⁴ इसे परमात्मा या सिद्धात्मा भी कहते हैं।

अब हम अशुद्धात्मा का विवेचन करेंगे। जीव में ज्ञान और दर्शन गुण की धारा निरंतर बहती रहती है। जैसा-जैसा बाह्य या अंतरंग निमित्त मिलता है, उसके अनुसार वह कार्य करती रहती है। इतना अवश्य है कि वह धारा न्यूनाधिक होती रहती है। संसारी अवस्था में वह मलीन, मलीनतर या मलीनतम होती है और केवली अवस्था में परिपूर्ण विशुद्ध हो जाती है क्योंकि केवली में बाह्य व अंतरंग कारण अपेक्षित नहीं रहते।⁵

कुंदकुंदाचार्य ने आत्मा का स्वरूप पंचास्तिकाय में बताते हुए कहा है कि-आत्मा चैतन्य, उपयोग स्वरूप, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त, व कर्मसंयुक्त है।⁶

षड्दर्शन समुच्चय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है कि - जीव चैतन्यस्वरूप, ज्ञान दर्शन आदि गुणों से भिन्न-भिन्न, मनुष्यादि विभिन्न पर्यायों को धारण करने वाला, शुभ अशुभ कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता है।⁷

जीव अनादिनिधन है और चेतना उसका सहज स्वभाव है।⁸

1. नि.सा. 44.

2. नि.सा. 96

3. उत्तराध्ययन 28.11

4. पं.का. 20

5. स.सि. 2.8.273.

6. पं.का. 27

7. षड्दर्शन समुच्चय 48-49.

8. अभिधान राजेन्द्र कोष भा. 4 पृ. 1519.

भगवती में जीव और प्राण को भिन्न बताया है। गौतम ने जीव और चैतन्य की जब भिन्नता पूछी, तब प्रभु ने जीव और चैतन्य को एकार्थक बताया।¹ परंतु जब प्राण और जीव की भिन्नता पूछी तो कहा - जो प्राण धारण करता है, वह तो जीव है, परंतु जो जीव है उसके लिये प्राण धारण करना अनिवार्य नहीं है। शुद्धात्मा के प्राण नहीं होते।²

सांख्य दर्शन आत्मा को उपचार से कर्मों का सुखादि जो फल है, उसका वास्तविक भोक्ता मानता है।³

यद्यपि आत्मा शुद्धनय से निर्विकार है! परम आह्लाद जिसका लक्षण है ऐसे सुखामृत का भोक्ता है तो भी अशुद्धनय से सांसारिक सुख दुःख का भी भोक्ता होता है।⁴ जीव को वास्तविक भोक्ता न कहकर अगर उपचार से कहा जाय तो सुख दुःख का संवेदन निराधार हो जायेगा।⁵

आत्मा और भावः—तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने आत्मा के भावों को पाँच विशिष्ट नाम दिये हैं—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक।⁶ इन पाँचों की संक्षिप्त व्याख्या पूज्यपाद ने इस प्रकार बतायी है।

औपशमिकः—जैसे कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारण वश प्रकट न होना या कुछ समय के लिये रोक देना उपशम है। जिस भाव का प्रयोजन अर्थात् कारण 'उपशम' है, वह औपशमिक भाव है।⁷ इसे स्पष्ट करते हुए क्षु. जिनेन्द्र वर्णी ने लिखा है- कर्मों के दबने को उपशम और उससे उत्पन्न जीव के शुद्ध परिणामों को औपशमिक भाव कहते हैं।

उमास्वाति ने औपशमिक भाव के दो भेद किये हैं- सम्यक्त्व और चारित्र।⁸

कषायवेदनीय के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ, और दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व ये तीन भेद, इन सात के उपशम

1. भगवती 6.10.2.

2. भगवती 6.10.6

3. षड्दर्शनसमुच्चय टीका 49.96.

4. वृ.द्र.स. 9.

5. स्याद्वादभं 15.139.

6. त.सू. 2.1

7. स.सि. 2.1.252.

8. त.सू. 2.3

से औपशमिक भाव होता है।¹ सम्यग्दर्शन का घात इन तीन दर्शनमोहनीय और चार अनंतानुबंधी कषाय के कारण ही होता है। इन सातों प्रकृतियों के उपशम से तत्त्वरुचि प्रकट होती है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। शुभ और अशुभ क्रियाओं में क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति को चारित्र्य कहते हैं। चारित्र्य मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र्य प्रकट होता है।²

क्षायिक भाव:—कर्मों का सर्वथा आत्मा से अलग हो जाना, क्षय है। कतक (फिटकरी) डालने से निर्मल हुए पानी को दूसरे बर्तन में डालने से जैसे कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है।³

यह क्षायिक भाव नवभेद युक्त है। ज्ञान दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र्य!⁴ समग्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, दर्शनमोह व चारित्र्य मोह के आत्यन्तिक क्षय होने पर इन क्षायिक भावों का उदय होता है। दानादिलब्धियों के कार्य के लिए शरीर नाम व तीर्थंकर नाम के उदय की अपेक्षा होती है। चूँकि सिद्धों में इनका उदय नहीं है, अतः उनमें ये लब्धियाँ अव्याबाध अनन्तसुख रूप से रहती है। जैसे-केवल ज्ञान रूप में अनन्तवीर्य।⁵

ये नौ क्षायिक भाव संसार (केवली) और मोक्ष दोनों में उपलब्ध हैं।

औपशमिक और क्षायिक भाव भव्य जीव में ही पाये जाते हैं।⁶

मिश्र:—इसे क्षायोपशमिक भाव भी कहते हैं। यह भाव कर्मों के आंशिक उपशम और आंशिक क्षय से पैदा होता है। जिस प्रकार फिटकरी आदि के प्रयोगसे जल में कुछ कीचड़ का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है।⁷

क्षायोपशमिक के 18 भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यविज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान, चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन,

1. स.सि. 2.3.257.

2. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र 2.3.77

3. स. सि. 2.1.252.

4. त. सू. 2.4

5. त.रा.बो. 2.4.1-7.105-106

6. स.सि. 2.1.253.

7. स.सि. 2.1.252

पाँच लब्धि-दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयमा¹ उदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होने से और अनुदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होने पर तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव होता है।²

औदयिक भावः—मन, वचन और काय की विभिन्न क्रियाओं को करने से शुभ, अशुभ कर्मों का संचय आत्म प्रदेशों में होता रहता है, ये कर्म काललब्धि से पक कर जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से फल प्रदान करते रहते हैं, तब यह उनकी उदय अवस्था है।³

औदयिक भावों के इक्कीस भेद बतलाये हैं। चार गति-देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक, चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, तीन लिंग- स्त्री लिंग, पुरुष लिंग और नपुंसक लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व एवं छः लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। ये औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं।⁴ भगवती सूत्र में छः भाव बताये हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, 'सन्निपातिक'।⁵

औदयिक भाव को दो प्रकार का बताया- उदय और उदयनिष्पन्न! उदय का अर्थ आठ कर्म प्रकृति का फल प्रदान करना है। उदयनिष्पन्न के दो भेद- जीवोदय निष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्ना⁶ कर्म के उदय से जीव में होने वाले नारक, तिर्यच आदि पर्याय जीवोदयनिष्पन्न एवं कर्म के उदय से अजीव में होने वाले पर्याय अजीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं। जैसे औदारिकादि शरीर और औदारिकादि शरीर में रहे हुए वर्णादि। ये औदारिक शरीरनामकर्म के उदय से पुद्गलद्रव्य रूप अजीव में निष्पन्न होने से अजीवोदयनिष्पन्न कहलाते हैं।

पारिणामिक भावः—आत्मा का पारिणामिक भाव ही अजीव से उसे पृथक् सिद्ध करता है। पारिणामिक भाव आत्मा का स्वभाव है, अन्य सारे भाव कर्मजन्य और कर्मक्षय के उदय से होते हैं जबकि पारिणामिक भाव कर्म के उदय,

1. त.सू. 2.5.

2. त.रा.वा. 2.5.3.106 (विस्तृत विवेचन हेतु तत्त्वार्थ टीका देखें)

3. स.सि. 2.1.252

4. त.सू. 2.6.

5. भगवती 17.1.28.

6. भगवती 17.1.29.

उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं, इसलिये ये 'पारिणामिक' हैं।¹ पंचास्तिकाय में जीव को परिणामी भाव के कारण ही अनादि अनंत कहा है।² यही अनादि अनंत जीव औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव से सादि संत हैं, क्षायिक भाव से सादि अनंत है।³

भगवती में आत्मा को आठ प्रकार की बतायी है। ये, आठ प्रकार अपेक्षा से हैं। जिस समय आत्मा जिस परिणाम (भाव) मय हो, उस समय वही भाव आत्मा का है- द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा और चारित्रात्मा और वीर्यात्मा।⁴

द्रव्यात्मा सभी संसारी आत्माओं में पायी जाती है। कषायात्मा उपशांत और क्षीणकषाय आत्मा के अतिरिक्त सभी संसारी आत्माओं में पायी जाती है। योगात्मा अयोगी केवली और सिद्धों के अतिरिक्त सभी में पायी जाती है। उपयोगात्मा- यह आत्मा सिद्ध और संसारी सभी में पायी जाती है। ज्ञानात्मा- यह सम्यग्दृष्टि जीवों में पायी जाती है। ज्ञान यहाँ सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से कहा है। दर्शनात्मा- यह आत्मा सभी जीवों में न्यूनाधिकता से पायी जाती है। चारित्रात्मा- यह विरति धर मुनियों में या व्रतधारी श्रावकों में पायी जाती है। वीर्यात्मा- सकरण वीर्य युक्त आत्मा सभी संसारी जीवों में पायी जाती है। सिद्धों में सकरण वीर्य नहीं होता।

कौनसी आत्मा के साथ कौन सी आत्मा पायी जाती है? इसका विवेचन भी भगवती सूत्र में विस्तार से उपलब्ध होता है।⁵

तत्त्वार्थ सूत्र में पारिणामिक भाव के तीन भेद किये हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।⁶ ये तीनों भाव मात्र जीव द्रव्य में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। जीवत्व का अर्थ चैतन्य है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है, उसे भव्य एवं इससे विपरीत को अभव्य कहते हैं।⁷ इन तीनों भावों को शुद्ध पारिणामिक और अशुद्धपारिणामिक में भी बाँटा जा सकता है।

1. म.सि. 2.7.268.

2. पंचास्तिकाय 53.

3. प.का.ता.वृ. 53.

4. भगवती 12.10.1.

5. भगवती 12.10.2-8.

6. त.मू. 2.7.

7. म.सि. 2.7.268.

संसारी जीवों का वर्गीकरण (त्रस और स्थावर की अपेक्षा):-काय दो प्रकार की है- त्रसकाय और स्थावर काय।¹ जिनके त्रस नाम कर्म का उदय हैं, वे त्रस एवं जिनके स्थावर नाम कर्म का उदय हैं। वे स्थावर कहलाते हैं।² जो चल फिर सके वे त्रस एवं स्थिर रहे वे स्थावर है।

भगवान् महावीर अपूर्व और अलौकिक पुरुष थे। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने जीवों का जिस प्रकार से सूक्ष्म विवेचन किया है, आज तक ऐसा विश्लेषण और वर्गीकरण किसी भी संप्रदाय के लिये संभव नहीं बना। जहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती, वहाँ उन्होंने जीवों का स्थान बताकर उनकी संपूर्ण आहार आदि क्रियाओं को विश्लेषित किया।

आचारांग के प्रथम अध्ययन में स्थावर जीवों का सूक्ष्म चिंतन उपलब्ध होता है। स्थावर पाँच हैं- पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु और वनस्पति।³

अनेकों प्रकार से आतुर मानव पृथ्वीकाय के जीवों को संतप्त करता है उन जीवों की हिंसा करना, कराना व उसका अनुमोदन करना जीव के लिये घातक होता है।⁴

जिस प्रकार का वेदना बोध जन्म से अंध, बधिर, मूक, पंगु और मनुष्य को होता है, उसी प्रकार का अव्यक्त वेदना बोध पृथ्वीकाय के जीवों को भी होता है।⁵

इसी प्रकार से अप्काय⁶ का, तेउकाय का⁷, वाउकाय⁸ और वनस्पति⁹ का विवेचन है।

स्थावर के आहार स्थिति आदि की चर्चा:-पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति काय आदि की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की एवं उत्कृष्ट

1. ठाणांग 2.164. एवं उत्तराध्ययन 36.68. त.सू. 2.12.

2. स.सि. 2.12.284.

3. जीव विचार

4. आचारांग 1.2.15.17.

5. वही 1.2.28

6. वही 1.3.39-53.

7. वही 1.4.73.84.

8. वही 1.7.152-168.

9. वही 1.5.101-112.

स्थिति 22 हजार वर्ष की है।

इन सभी स्थावर जीवों का श्वास काम विषम अर्थात् अनिश्चित है।

ये आहार के अभिलाषी प्रतिक्षण रहते हैं।¹ द्रव्य से अनंतप्रदेशी, क्षेत्र से छः दिशाओं में, काला, नीला, पीला, लाल, सफेद वर्ण का, सुरभि गंध-दुरभिगंध का, तिक्त्यादि पाँचों रसों का, कर्कशादि आठों स्पर्शों का आहार लेते हैं। असंख्यातवें भाग का आहार और अनंतवें भाग का स्पर्श करते हैं। आहार किये हुए पुद्गल साता असाता विविध प्रकार से बार-बार परिणत होते रहते हैं।²

इन सभी की वेदना समान होती है। असंज्ञी होते हैं अर्थात् मन रहित होते हैं। मायी और मिथ्यादृष्टि होने के कारण उन्हें नियम से आरंभिकी आदि पाँचों क्रियाएँ लगती रहती हैं। संसारी आत्मा संज्ञी और असंज्ञी अर्थात् मन रहित और मन सहित ऐसे दो प्रकार की है।³

वनस्पति सजीव है, हजारों वर्ष पूर्व की भगवान महावीर की इस घोषणा को प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु ने सन् 1920 में प्रमाणित किया था।

वनस्पति—‘आचारांग’ में मनुष्य और वनस्पति की स्पष्ट तुलना की गयी है। “मैं कहता हूँ मनुष्य भी जन्मता है वनस्पति भी। मनुष्य भी बढ़ता है, वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य भी चेतनयुक्त है, वनस्पति भी चेतनयुक्त है। छिन्न होने पर मनुष्य और वनस्पति दोनों म्लान होते हैं। मनुष्य और वनस्पति दोनों आहार करते हैं। मनुष्य भी अनित्य है वनस्पति भी अनित्य है, दोनों अशाश्वत हैं।”⁴

स्पंदन Movement—

साधारणतः वनस्पतियाँ अपने स्थान पर ही रहती है। उनकी गति तने, पुष्प, पत्रादि की वृद्धि के रूप में या संवेदन से होने वाले हलन चलन के रूप में होती है। छुईमुई के पौधे को छूते ही उसमें हलन चलन प्रारंभ हो जाती है। सूर्यमुखी सदैव सूर्य की ओर ही मुँह रखता है। सनड्यू और वीनस

1. भगवती 1.1.12,13 पृ. 27-28.

2. भगवती 1.2.7 पृ. 47-48.

3. त.सू. 2.11.

4. आचारांग सूत्र 1.5.56

फ्लाइ-ट्रेप के पौधे अपने फूलों पर कीट-पतंगों के बैठते ही अपने नागपाश में ले लेते हैं। यह क्रिया एक सेकण्ड के शतांश में ही हो जाती है।¹

शारीरिक गठन या organisation- सजीव जो एक ही जाति के हैं, उनका निश्चित आकार प्रकार रूप रंग होता है। एक ही जाति के वनस्पति का रूप, पत्ते, फल, फूल आदि का गठन एक जैसा होता है।²

भोजन और उसका स्वीकरण:—(Food and its assimilation) भोजन की क्रिया जीवधारी में ही पायी जाती है। वनस्पति में यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। वह मिट्टी, पानी, पवन आदि से भोजन प्राप्त करके अपने अंगों को पुष्ट करती है। ये भी दुग्धाहारी, मांसाहारी, निरामिषाहारी विभिन्न प्रकार की होती है।

प्रवर्धन (Growth) बढ़ना! वह भी अनुपात में सजीव में ही होता है। नन्हा-सा बीज बटवृक्ष के आकार का हो जाता है। उसके फल, फूल, पत्ते एक निश्चित सीमा में बढ़ते हैं।

श्वसन Respiration-जीवों में श्वास क्रिया अनिवार्य है। यह श्वास की प्रक्रिया वनस्पति में पत्तों द्वारा संपन्न होती है। हमारी सबसे अधिक वनस्पति की निकटता का मुख्य कारण श्वसन है। हम श्वास द्वारा जिस हवा को (कार्बन डाइ आक्साइड) छोड़ते हैं, पेड़ पौधे उसे ग्रहण करते हैं और पेड़ पौधे ऑक्सीजन को छोड़ते हैं, उसे हम ग्रहण करते हैं।

इसे अपने लेख “जैन आगमों में वनस्पति विज्ञान” में कन्हैयालाल लोढ़ा ने प्रयोगों द्वारा भी स्पष्ट किया है।³ दोनों उपचित और अपचित होते हैं। मनुष्य और वनस्पति दोनों ही विविध अवस्था को प्राप्त होते हैं।⁴

इस संपूर्ण विवेचन को बसु ने अपने शोध यंत्र के द्वारा प्रत्यक्ष किया। उन्होंने एक ऐसे यंत्र का निर्माण किया जो वनस्पति की सजीवता को अभिव्यक्त करता है। वह यंत्र पौधों की गतिविधियों को एक करोड़ गुणा बड़ा करके दिखाता था। समय का बोध भी एक सेकण्ड के सहस्रवें भाग तक होता था।

1. विज्ञान लोक अप्रैल 1962 पृ. 14.

2. मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रन्थ खण्ड 2 पृ. 147.

3. मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रन्थ खंड 2 पृ. 147

4. आचारांग 1.5.113.

पौधों की संपूर्ण क्रिया, प्रतिक्रिया स्वतः अंकित हो जाती थी। इन यंत्रों से उन्हें स्पष्ट विश्वास हो गया कि वनस्पति और मनुष्यों पर नींद, ताप, वायु और आहार का लगभग समान ही प्रभाव पड़ता है।¹

बसु ने सिद्ध कर दिया कि सचेतनता, स्पंदनशीलता, शारीरिक गठन, भोजन, वर्धन, श्वसन, प्रजनन, अनुकूलन, विसर्जन, मरण (Irritability, Movement, Organisation, Food, Growth, Respiration, Reproduction, Adoption, Ex-creation and Death.) आदि समस्त गुण वनस्पति में भी विद्यमान हैं।

वनस्पति में आहार संज्ञा प्रयोगसिद्ध है। तत्क्षण तोड़े गये डंठल सहित सफेद या अन्य गुलाब को लाल पानी में डंठल सहित डुबाकर रखिये। कुछ समय बाद पत्तियों पर लाल रंग स्पष्ट दिखेगा।²

प्यासे केले के पौधे को जल मिलते ही पीने लगता है, जिसकी आवाज भी पास बैठा व्यक्ति सुन सकता है। मुरझाये पौधों को मुस्कुराते प्रतिदिन हम देखते हैं।

वनस्पति प्रकाश से भी प्रभावित होती है। पौधों के तने सदा प्रकाश की ओर तथा उसकी जड़ विरुद्ध दिशा में जमीन की ओर मुड़ती जाती है।

प्रजनन Reproduction: जीवधारी में ही प्रजनन शक्ति पायी जाती है। वनस्पति भी प्रजनन करती है। सेचन क्रिया द्वारा परागकण योनिनली के मार्ग से गर्भाशय (Ovary) में पहुँचते हैं। वहाँ प्रत्येक परागकण एक रजकण से जुड़ता है। जितने रजकण होंगे उतने ही बीज बन गर्भाशय में पैदा होते हैं। सेचन स्व भी होता है और पर भी।

जब किसी फूल का परागकण उसी फूल से योनिच्छत्र तक पहुँचता है तो वह स्वसेचन कहलाता है। जैसे कृष्णकोली, सूर्यमुखी आदि फूलों का स्वसेचन होता है। जब किसी फूल का पराग कण अन्य कीट, पतंग, जानवर, जल आदि द्वारा पहुँचता है तो परसेचन कहलाता है। भ्रूण विज्ञान (वनस्पति विज्ञान की उप-शाखा) इसी विषय पर आधारित है। भारतीय वैज्ञानिक प्रो. पंचानन माहेश्वरी भ्रूण वैज्ञानिकों में अग्रणी हैं जिन्होंने अनेकों प्रयोग इस विषय पर किये हैं।³

1. नवनीत फरवरी 1957 पृ. 37

2. प्रारंभिक जीव विज्ञान पृ. 197.

3. जैन आगमों में वनस्पति विज्ञान पृ. 15-16

अनुकूलन Adoption अपने को परिस्थिति के अनुसार वनस्पति भी अन्य प्राणियों की तरह ढाल लेती है। रेगिस्तानी पौधों की पत्तियाँ सजल स्थानों के पौधों की अपेक्षा छोटी होती हैं ताकि उनसे भाप बनकर पानी कम उड़े।

विसर्जन excretion श्वसन की तरह इनमें विसर्जन क्रिया भी पत्तों द्वारा सम्पन्न होती है।

मृत्यु Death जीवित पौधे प्रारंभ में तेजी से वृद्धि करते हैं, परंतु बाद में यह गति धीमी हो जाती है और अन्त में वे पौधे मुरझा जाते हैं, जो उनका मरण कहलाता है।

वनस्पति के भेदः—जैन दर्शन के अनुसार वनस्पति के दो भेद हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय और बादर वनस्पतिकाय।¹

प्रत्येक वनस्पति अर्थात् एक शरीराश्रित एक ही आत्मा, जैसे सरसों के अनेकों दानों को गुड़ मिश्रित कर लड्डु बनाते हैं। लड्डु एक पिण्ड होने पर भी दानों का अस्तित्व अलग-अलग होता है, वैसे ही बाहर से एक दिखने पर भी जो जीव अपने शरीर का भिन्न अस्तित्व रखें, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय कहते हैं।²

साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद के जीव। वे इतने सूक्ष्म हैं कि चक्षु से अग्राह्य हैं। इनके एक दो तीन संख्यात व असंख्यात जीवों का पिण्ड नहीं दिखता अपितु अनंतजीवों का पिण्ड ही देखा जा सकता है।³

जैनागमों में निरूपित सूक्ष्म स्थावर जीवों की तुलना बैक्टेरिया से की जा सकती है। बैक्टेरिया के बारे में वैज्ञानिकों का कथन है कि ये इतने छोटे हैं कि सूक्ष्म यंत्रों से भी इनका पता लगाना कठिन है। संसार में ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ ये न हों। बहुत से कीटाणु तो प्रत्येक तापक्रम पर रह सकते हैं।⁴ ये बैक्टीरिया अनेक प्रकार की आकृति वाले हैं। इनमें से सूक्ष्म गोलाकार आकृति के कीटाणु जिन्हें कोकाई कहते हैं तथा चक्करदार आकृति के कीटाणु

1. पद्मवर्णा: सूत्र 1.36

2. पद्मवर्णा 1.56

3. "सुहृमा आणागिञ्जा.... निगोदजीवाणंताणं" पद्मवर्णा 1. गा. 103 पृ. 63.

4. कृषिशास्त्र पृ. 125

जिन्हें स्पाइरल कहते हैं,¹ सूक्ष्म या निगोद वनस्पतिकाय में गर्भित किये जा सकते हैं।

प्राणी मात्र में आहारसंज्ञा, निद्रासंज्ञा, भयसंज्ञा और मैथुनसंज्ञा होती है।² सब प्राणियों में वनस्पति भी आ जाती है। वनस्पति कब ज्यादा कम आहार करती है, इसका भगवती में इस प्रकार उल्लेख आता है— वर्षा ऋतु में वनस्पति अधिक आहार करती है। तदनंतर अनुक्रम से शरद, हेमंत, वसंत व ग्रीष्म ऋतु में अल्प से अल्प आहार करती है।³

पृथ्वी, जल और वनस्पति में कृष्ण, नील, कापोत और तेजस् ये चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।⁴

इस प्रकार हम देखते हैं कि वनस्पति की प्रत्येक क्रिया जो शताब्दियों पूर्व घोषित की गई थी, वह प्रयोगशाला में प्रमाणित हो चुकी है। इन स्थावर जीवों के स्पर्शन, इन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु ये चार प्राण पाये जाते हैं।⁵

त्रस-जीवों के भेद:—बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये त्रस है।⁶ जिनके स्पर्शन और रसनेन्द्रिय हो वे बेइन्द्रिय होते हैं। स्पर्शन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास, रसना और वचन इस प्रकार इनके छः प्राण होते हैं। तेइन्द्रिय के घ्राण इन्द्रिय बढ़ने से सात प्राण होते हैं। चक्षु इन्द्रिय मिलने से चतुरिन्द्रिय के आठ प्राण, श्रोत्रेन्द्रिय मिलने से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नौ एवं मनोबल के मिलाने से संज्ञी पंचेन्द्रिय के दस प्राण होते हैं।⁷

कौन जीव कितनी इन्द्रिय वाला है:—कृमि, सीप, शंख, गंडोला, अरिष्ट, चन्दनक, शंबुक आदि बेइन्द्रिय जीव हैं।⁸

जूँ, लीख, खटमल, चींटी, इंद्रगोप, दीमक, झींगर, इल्ली आदि तेइन्द्रिय

1. कृषिशास्त्र पृ. 1264.

2. ठाणांग. 4.23.

3. भगवती 7.3.1

4. "एगिदियाणं... वणस्सइकाइयाववि" पन्नवणा 17.2- 1159-61

5. स.सि. 2.13.286.

6. त.सू. 2.14

7. स.सि. 2.14.288.

8. जीवविचार 15

जीव है।¹

मकड़ी, पतंगा, डांस, भौरा, मधुमक्खी, गोमक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं।²

पंचेन्द्रिय के प्रकार—समस्त पंचेन्द्रिय को चार भागों में वर्गीकृत किया है। ये संसारी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से है। तिर्यच, मनुष्य, देव-नारक और पंचेन्द्रिय संसार समापन्नका³

प्रथम तिर्यच पंचेन्द्रिय के उपभेद करते हैं:—समस्त तिर्यच पंचेन्द्रिय तीन प्रकार के हैं—जलचर, थलचर और खेचर।⁴

जो जल में रहते हैं, वे जलचर है। जलचर पाँच प्रकार के हैं—मत्स्य, कछुए, ग्राह, मगर, और सुंसुमार। मत्स्य पाँच, कच्छप दो, ग्राह पाँच, मगर दो, एवं सुंसुमार एक ही प्रकार के बताये हैं।⁵

ये सभी तिर्यचयोनिक एक अपेक्षा से दो प्रकार के भी है। मूर्च्छिम और गर्भज। इनमें जो मूर्च्छिम हैं, वे नपुंसक एवं गर्भज स्त्री, पुरुष, नपुंसक तीनों होते हैं।⁶

जो माता पिता के बिना संयोग के अपने आप उत्पन्न हों, वे संमूर्च्छिम और जो माता-पिता के वीर्य या संयोग से उत्पन्न हो, वे गर्भज होते हैं।

थलचर के प्रकार:—जो पानी रहित स्थान अर्थात् जमीन पर रहते हैं, उन्हें थलचर या स्थलचर कहते हैं। ये स्थलचर तिर्यच पंचेन्द्रिय चार प्रकार के हैं—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गण्डीपद (सुनार की एरण जैसे पैर वाले) और नखपाद (पैर) वाले।⁷

जीवविचार में थलचर को अन्य अपेक्षा से तीन प्रकार का कहा है। ये भी तिर्यच पंचेन्द्रिय ही हैं। वे ये हैं— चतुष्पद-गाय आदि, उरपरिसर्प-पेट

1. वही 16, 17.

2. जीवविचार 18.

3. प्रज्ञापना 1.59 एवं ठाणांग 4.608.

4. प्रज्ञापना 1.61. तथा जीवविचार- 20

5. प्रज्ञापना 1.62-67.

6. प्रज्ञापना 1.68.

7. प्रज्ञापना 1.69

के बल चलने वाले सर्प आदि और भुजपरिसर्प-भुजा के बल चलने वाले नोलिये आदि।¹

प्रज्ञापना में आगे एकखुरा, द्विखुर, गण्डीपद, एवं नखपाद के भेद और नाम बताये हैं।²

इनमें जो संमूर्च्छिम हैं वे नपुंसक हैं और जो गर्भज हैं स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों हैं।³

प्रज्ञापना में स्थलचर को उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प तिर्यच पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से दो भेद वाला भी कहा है और उनके नाम बताये हैं।⁴

ये भी संमूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के हैं तथा संमूर्च्छिम नपुंसक एवं गर्भज स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों होते हैं।⁵

खेचर तिर्यच पंचेन्द्रिय :- खेचर तिर्यच पंचेन्द्रिय चार प्रकार के हैं- चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गक पक्षी, विततपक्षी।⁶

चर्मपक्षी-जिनकी पाँख चमड़े की हो जैसे चमगादड़ आदि। जिनकी पाँखें रोंएदार हो वे रोम या लोमपक्षी, जिनकी पाँखें उडते समय पेटी जैसी रहे जैसे हंस कलहंस आदि, वे समुद्गक पक्षी और जिनके पंख फैले ही रहे, वे विततपक्षी। (ये मनुष्य क्षेत्र में नहीं हैं) ये भी संमूर्च्छिम तथा गर्भज दो प्रकार से निरूपित किये गए हैं तथा जो संमूर्च्छिम हैं उन्हें नपुंसक और जो गर्भज हैं उन्हें स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से विभक्त किया है।⁷

मनुष्य जीवों के प्रकार:- मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। संमूर्च्छिम और गर्भज।⁸ तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना संमूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है, चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण

1. जीवविचार 21

2. प्रज्ञापना 1.71.74

3. प्रज्ञापना 1.75

4. प्रज्ञापना 1.76 83.85

5. प्रज्ञापना 1.84.85

6. प्रज्ञापना 1.86 एवं जीवविचार 22.

7. प्रज्ञापना 1.87 90

8. प्रज्ञापना 1.92

कर अवयवों की रचना होना। नारी के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर ग्रहण को गर्भ कहते हैं।¹

सम्पूर्ण मनुष्य की उत्पत्ति के चौदह स्थान होते हैं। पन्द्रह कर्मभूमि, पन्द्रह अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीप में गर्भज मनुष्यों के विष्ठा में, मूत्र में, नाक के मेल में, वमन में, पित्त में, मवाद में, रक्त में, वीर्य में, पूर्व में सूखे शुक्र के बाद में भीगे पुद्गलों में, मरे हुए जीवों के कलेवर में, स्त्री पुरुष के संयोग में, ग्राम के गटर में, शहर के गटर अथवा संपूर्ण अपवित्र स्थानों में ये पैदा होते हैं।²

गर्भज मनुष्य कर्मभूमि, अकर्मभूमि एवं अन्तर्द्वीप में पैदा होते हैं।³

अन्तर्द्वीपक 58 प्रकार के, कर्मभूमिक 15 प्रकार के, एवं अकर्मभूमिक 30 प्रकार के होते हैं।⁴

गर्भज तीन प्रकार के होते हैं। जरायुज, अण्डज, और पोतज।⁵ जो जाल के समान प्राणियों का आवरण है और जो मांस व शोणित से बना है उसे जरायु कहते हैं। जो नख की त्वचा के समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है, उसे अण्ड कहते हैं। जिसके सब अवयव बिना आवरण के पूरे हुए हैं और जो योनि से निकलते ही हलन चलन आदि सामर्थ्य से युक्त हैं उसे पोत कहते हैं। जरायु से पैदा होने वाले जरायुज, अण्डों से पैदा होने वाले अण्डज, पोत से पैदा होने वाले पोतज कहलाते हैं।⁶

मनुष्य, गाय, बैल, बकरी आदि जरायुज; सर्प, गोह गिरगिट कबूतर आदि अण्डज; हाथी, खरगोश, भारण्डपक्षी, आदि पोतज कहलाते हैं।⁷

नैरयिकों के प्रकार:—नरक सात प्रकार के हैं— रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमः प्रभा।⁸ सातों नरकों के जीव नपुसक

1. स.सि. 2.31. 322.

2. प्रज्ञापना 1.39

3. प्रज्ञापना 1.94

4. प्रज्ञापना 1.95-97

5. त.सू. 2.34

6. स.सि. 2.34.326.

7. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम 2.34.108

8. प्रज्ञापना 1.60 त. सू. 3.1.

होते हैं।¹ ये गति की अपेक्षा नारकी, इन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय, कषाय की अपेक्षा चारों कषाय युक्त, लेश्या की अपेक्षा इनमें कृष्ण, नील और कपोत लेश्या है। योग की अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी है। उपयोग की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन दोनों से युक्त है। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान विभंगज्ञान हैं। दर्शन की अपेक्षा सम्यक् दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यक्मिथ्यादृष्टि है। चरित्र की अपेक्षा न तो चारित्र्यी हैं, न चारित्र्याचारित्र्यी हैं, बल्कि अचारित्र्यी है। वेद की अपेक्षा नपुंसक वेदी है।²

इन सातों नरकों की भूमि क्रमशः नीचे-नीचे और घनाम्बु तथा वायु और आकाश के सहारे स्थित है।³ इन नारक भूमियों में क्रमशः तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक है।⁴ इन नैरयिकों में लेश्या, परिणाम, शरीर प्रमाण, वेदना और विक्रिया क्रमशः अशुभ, अशुभतर और अशुभतम होते जाते हैं तथा वेदना, शरीर प्रमाण आदि वृद्धिगत होते हैं।⁵

ये नारक परस्पर उत्पन्न किये गये दुःख वाले होते हैं। और तीन नरकभूमियों तक संक्लिष्ट आसुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये दुःख वाले भी होते हैं।⁶

भयंकर पीड़ा भोगने पर भी इनका अकाल मरण नहीं होता।⁷

इनकी उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बावीस, और तेतीस सागरोपम है।⁸

देवों के प्रकारः—देवों के चार निकाय होते हैं। भवन पति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक⁹।

इनमें कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेश्या पायी जाती हैं।¹⁰

1. त.सू. 2.50.

2. प्रज्ञापना 13.938.

3. त.सू. 3.1

4. त.सू. 3.2 (दिगम्बर परम्परानुसार)

5. त.सू. 3.3

6. त.सू. 3.4-5

7. स.सि. 3.5.375.

8. त.सू. 3.6

9. ठाणांग 4.124 एवं त.सू. 4.1.

10. त.सू. 4.2

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं,¹ व्यंतर आठ प्रकार के, ज्योतिषी पाँच प्रकार के हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं- कल्पोपन्न और कल्पातीता² कल्पोपन्न देव बारह प्रकार के एवं कल्पातीत देव त्रैवेयकवासी और अनुत्तरवासी भेद से दो प्रकार के हैं। त्रैवेयक नौ प्रकार के एवं अनुत्तरवासी पाँच प्रकार के हैं।³

भुवनपति देव मनुष्य लोक से नीचे रहते हैं। इनके निवास का विस्तृत विवेचन प्रज्ञापना सूत्र 177-186 में पढ़े। व्यंतर और ज्योतिष्क क्रमशः विषम और तिरछे रूप से रहते हैं।⁴

वैमानिक क्रमशः ऊपर-ऊपर रहते हैं।⁵ वैमानिक ऐशान अर्थात् द्वितीय विमानवासी देवों तक के देव शरीर संपर्क द्वारा विषय भोग भोगते हैं।⁶ उसके बाद क्रमशः अवशिष्ट देव स्पर्श द्वारा, रूप द्वारा, शब्द द्वारा और मन से विषय भोग लेते हैं। यह स्थिति भी कल्पोपन्न देवों तक रहती है। कल्पातीत देव तो विषयभोगों से पूर्णतः विरत रहते हैं।⁷

क्रमशः स्थिति, प्रभाव, सुख, चमक, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविशुद्धि, अवधिविषय आदि की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देव अधिक हैं।⁸

देव एवं नैरयिक जीव नियम से औपपातिक जन्म वाले होते हैं।⁹

जीव और शरीर:—जब तक राग-द्वेष की स्थिति रहती है, तभी तक आत्मा शरीर के बंधन में निवास करती है।¹⁰

शरीर पाँच प्रकार के होते हैं- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कर्मण।¹¹

1. त.सू. 4.10.

2. त.सू. 4.11,12.11 त.सू. 4.16,17 एवं प्रज्ञापना 1.143.

3. प्रज्ञापना 1.144-147.

4. स.सि. 418-477.

5. त.सू. 4.18.

6. त.सू. 4.7.

7. त.सू. 4.8.9

8. त.सू. 4.20 एवं स.सि. 4.20.481

9. ठाणांग 2.34.

10. ठाणांग 2.163.

11. प्रज्ञापना 12.901 एवं त.सू. 2.36.

औदारिक शरीर:—विशेष शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होकर गलते हैं उन्हें शरीर कहते हैं। ये औदारिक आदि प्रकृति विशेष के उदय से प्राप्त होता है। इसका गलना, सड़ना और विध्वंस होना स्वभाव है।¹

वैक्रिय शरीर:—अणिमा आदि आठ, ऐश्वर्य-संबंध से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार के शरीर की संरचना करना विक्रिया है। यह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है, वह वैक्रिय है।²

आहारक शरीर :—सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्त संयत जिस शरीर की रचना करता है, वह आहारक शरीर है।³

तेजस शरीर :—जो दीप्ति का कारण है या तेज में उत्पन्न होता है उसे तेजस कहते हैं।⁴ ग्रहण किए हुए आहार को यही शरीर पचाता है।⁵

कार्मण शरीर :—कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है। यद्यपि सारे शरीर कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, तो भी रूढि से विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं।⁶

किसे कितने शरीर होते हैं:—नैरयिकों को एवं देवगति में देवों को वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर होते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर प्राप्त होते हैं। वायु काय एवं तिर्यच पंचेन्द्रिय को औदारिक, वैक्रिय, तेजस और कार्मण शरीर प्राप्त होते हैं। मनुष्य को पाँचों शरीर प्राप्त हो सकते हैं।⁷

आत्मा और चारित्र:—चारित्र परिणाम पाँच प्रकार का होता है- (1) साम्नायिक चारित्र (2) छेदोपस्थापनीय चारित्र (3) परिहारविशुद्धि चारित्र (4) सूक्ष्म संपराय चारित्र (5) यथाख्यात चारित्र।⁸

1. पैतीस बोल विवरण पृ. 10.

2. स.सि. 2.36.331.

3. स.सि. 2.36.331.

4. स.सि. 2.36.331.

5. पैतीस बोल विवरण पृ. 11.

6. स.सि. 2.36.331.

7. प्रज्ञापना 12.902-7.

8. प्रज्ञापना 13.936 त.सू. 9.8 तथा ठाणांग 5.139.

सामायिकः—राग-द्वेष की विषमता को मिटाकर शत्रु मित्र के प्रति समभाव को धारण करना सामायिक है। इससे ज्ञान, ध्यान और संयम का लाभ होता है। इसकी जघन्य अवधि 48 मिनट एवं उत्कृष्ट अवधि छः माह की होती है।¹ सामायिक दो प्रकार की है- नियतकाल सामायिक स्वाध्याय आदि और ईर्यापथ का विवेक अनियतकाल सामायिक है।²

छेदोपस्थापनीयः—यह संयमधारी साधु साध्वी में पाया जाता है। छोटी दीक्षा के पर्याय का छेद करके बड़ी दीक्षा के अनुष्ठान को छेदोपस्थापनीय कहते हैं।³ अथवा विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापनीय चारित्र है।⁴

परिहारविशुद्धिः—प्राणीवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है⁵ अथवा विशिष्ट श्रुतपूर्वधारी साधुसंघ से अपने को अलग करके आत्मा की विशुद्धि के लिए जिस अनुष्ठान को करता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।⁶

सूक्ष्म संपरायः—जिस चारित्र में कषाय अति अल्प या सूक्ष्म हो जाय वह सूक्ष्म संपराय चारित्र है।⁷

यथाख्यात चारित्रः—मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्थास्वरूप अपेक्षा लक्षण जो चारित्र होता है उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।⁸

लेश्या और जीवः—लेश्या छह प्रकार की होती है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ला⁹ लेश्या की परिभाषा है- कृष्ण लेश्या आदि के योग से होने वाला आत्मा का परिणाम लेश्या कहलाता है! जैसे स्फटिक मणि के पास किसी वर्ण का पदार्थ रख दिया तो मणि उसी वर्ण वाली लगेगी। उसी प्रकार आत्मा जिस लेश्या के परिणाम वाली होती है, उसी लेश्यायुक्त कहलाएगी।¹⁰

1. पैतीस बोल विवरण पृ. 51,52.

2. स.सि. 9.8.854.

3. पैतीस बोल विवरण पृ. 52.

4. स.सि. 9.8.854.

5. स.सि. 9.8.854.

6. पैतीस बोल विवरण पृ. 52.

7. स.सि. 9.8.854.

8. वही

9. ठाण्णांग 6.47

10. प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरि वृत्ति पत्रांक 329.

लेश्या भावना विशेष को कहते हैं। नैरयिकों में कृष्ण लेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या होती हैं।^१ तिर्यच योनि में छहों लेश्याएँ होती हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पति काय में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती है।^१

बेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तेउकाय और वायुकाय में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या पायी जा सकती है।^२ तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों में छहों लेश्या पायी जाती है।^३ समूर्च्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या पायी जाती हैं।^४ गर्भज तिर्यच पंचेन्द्रिय में कृष्ण से शुक्ललेश्या पर्यंत छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं।^५

समूर्च्छिम मनुष्य में कृष्ण, नील, कापोत, ये तीन^६ और गर्भज मनुष्य में छहों लेश्या पायी जाती है।^७

भुवनवासी निकाय के देवों में कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या, व्यंतर देवों में भी ये चार, ज्योतिषी देवों में मात्र तेजोलेश्या और वैमानिक देवों में तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या पायी जाती हैं। अन्य सभी स्थानों पर पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग में समान लेश्या हैं पर वैमानिक देवियां इसका अपवाद है। उनमें मात्र तेजोलेश्या ही पायी जाती है।^८

ये लेश्याएँ सभी में संख्यानुसार होना अनिवार्य नहीं हैं। जीवों के अपने-अपने पुरुषार्थ की अपेक्षा उस-उस लेश्या तक पहुँचने की क्षमता हो सकती है।

कृष्णलेश्या की अधिकता वाला अत्यंत रौद्र, मत्सर, नित्यक्रोधी, धर्म रहित, दयाहीन और गहरी दुश्मनी वाला होता है!

नीललेश्या वाला चिंता, आकुलता से पीडित, परनिंदा, स्वप्रशंसा और रूष्ट स्वभाव वाला होता है।

1. प्रज्ञापना 17.1159-61.

2. प्रज्ञापना 17.1162.

3. प्रज्ञापना 17.1163.

4. प्रज्ञापना 17.1163. (2)

5. प्रज्ञापना 17.1163 (3) 1164 (1)

6. प्रज्ञापना 17.1164 (2)

7. प्रज्ञापना 17.1164 (2) 3 प्रज्ञापना 17.1164 (3)

8. प्रज्ञापना 17.1166-69.

तेजोलेश्या वाला विद्वान्, दयालु, कार्य का अनुचित/उचित विचारक, विवेकी आदि होता है।

पद्मलेश्या वाला क्षमाशील, त्यागी, देव गुरु भक्त, निर्मल चित्त एवं सदानंदी स्वभाव वाला होता है।

शुक्ललेश्या वाला राग द्वेष रहित, शोक और निद्रामुक्त, परमात्म-वैभव से युक्त होता है।¹

कर्म और जीवन:—कर्म सिद्धांत और उस पर सूक्ष्म चिंतन जैन दर्शन की अभूतपूर्व देन है। कर्म सिद्धांत से संबंधित विपुल साहित्य जैन दर्शन की अनमोल संपत्ति है। भारतीय वाङ्मय में अनेकों वादों का दिग्दर्शन हुआ है, जो कालवाद स्वभाववाद, नियति यदृच्छा, योनि, पुरुष आदि को संसार की उत्पत्ति का कारण एवं सुख-दुख का कारण मानते हैं।² जैन दर्शन ने सुख दुःख का कारण जीव के कर्म को माना है।

आत्मा के आन्तरिक विकास या न्यूनता का कारण कर्म हैं। कर्म संयोग से आत्मा की शक्ति आवृत होती है और कर्म वियोग से, प्रकट होती है शक्ति शुद्ध आत्मा पर कर्मप्रभाव नहीं होता।

जैन दर्शन स्याद्वाद को स्वीकार करता है। जैन दर्शन किसी भी कार्य के लिये पाँच तत्वों को अनिवार्य मानता है- काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और कर्म ये पाँचों मिलकर कार्य का रूप धारण करते हैं। इन पाँचों में कर्म मुख्य हैं, पर इन चारों का भी अस्तित्व है।

जैन दर्शन कर्म को पुद्गल मानता है।³ इन कर्म पुद्गलों के कारण ही परतंत्रता और दुःख है। आत्मा अरूपी होते हुए भी कर्म के कारण रूपी और मूर्त है।⁴

जीव मिथ्यादर्शनादि परिणामों के द्वारा जिन्हें उपार्जित करता है, कर्म कहलाते हैं।⁵

1. पैतीस बोल विवरण 40.41

2. "काल स्वभावो नियति- सुखदुःख हेतो" श्वेताश्वर उप.12

3. त. सू. 8.2

4. भगवती अभय. वृत्ति पत्र 623

5. परीक्षामुख 114.296.

कर्म दो प्रकार के हैं- द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म आठ प्रकार का हैं। यह मूल-प्रकृति के भेद से है, उत्तर प्रकृति के भेद से एक सौ अट्ठावन प्रकार का है। तथा उत्तरोत्तर भेद से तो अनेक प्रकार का है।

भावकर्म चैतन्य परिणामरूप हैं क्योंकि क्रोधादिकर्मों के उदय से होने वाले क्रोधादि आत्मपरिणाम यद्यपि औदयिक हैं तथापि वे कथंचित् अभिन्न है, लेकिन ज्ञानरूपता नहीं हैं क्योंकि ज्ञान औदयिक नहीं है। अतः क्रोधादि आत्मपरिणाम आत्मा से अभिन्न होने के कारण कथंचित् चैतन्य परिणामात्मक है।¹

मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं- चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। कषाय और नो कषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार का एवं दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है।²

चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है- (1) अकषायवेदनीय और (2) कषायवेदनीय। (1) किंचित् अर्थात् अत्यल्प मात्रा में कषाय के उदय को अकषाय चारित्र मोहनीय कहते हैं एवं इसके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद, इस प्रकार नौ भेद हैं तथा (2) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, और संज्वलन- इनके चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह भेद कषायमोहनीय चारित्र के होते हैं।³ चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का चारित्र गुण प्रकट नहीं होता।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद- (1) सम्यक्त्व (2) मिथ्यात्व और (3) सम्यक्मिथ्यात्व।

सम्यक्त्व:—जब मिथ्यात्व, शुभ परिणामों के कारण अपने विपाक को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

मिथ्यात्व:—जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थ के श्रद्धान करने में निरुत्सुक एवं हिताहित का विचार करने में असमर्थ हो, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

1. परीक्षामुख का. 115 एवं टीका 296.297।

2. उत्तराध्ययन 33.8.10

3. त.सू. 8.9 व उत्तराध्ययन 33.11

सम्यक्त्व मिथ्यात्वः— जिसका उदय मिले हुए परिणामों के होने में निमित्त है, जो न केवल सम्यक्त्व रूप कहे जा सकते हैं और न केवल मिथ्यात्व रूप, किन्तु उभयरूप होते हैं, वह मिश्रमोहनीय कर्म है। इसके लिए उदाहरण जल से धोने आदि के कारण अर्धशुद्ध मंद शक्ति वाले कोदों का दिया जाता है।¹

मूल प्रकृति के आठ भेद हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराया²

ज्ञानावरणीय- आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने वाला आवरण ज्ञानावरणीय कहलाता है।³ आँख पर पट्टी बाँधने के कारण नेत्रों की पदार्थों को जानने की जो शक्ति रूक जाती है, उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं।⁴

यह कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है, समाप्त नहीं। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।⁵

दर्शनावरणीयः- पदार्थ के सामान्य धर्म का बोध जिसके कारण रूक जाय, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।⁶ जिस प्रकार पहरेदार शासक को देखने के लिए उत्सुक व्यक्ति को रोक देता है, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म की दर्शनशक्ति पर आवरण डालकर उसे रोक देता है।⁷ इसकी नौ उत्तरकर्मप्रकृतियाँ हैं।⁸

वेदनीयः—जिसकर्मके कारण सुख-दुख का संवेदन आत्मा को होता है, उसे वेदनीय कहते हैं। वेदनीय कर्म की साता और असाता दो प्रकृतियाँ होती हैं।⁹

सातावेदनीय कर्म के कारण जीव को देवादि गतियों में शरीर और मन संबंधी सुख मिलता है। असाता वेदनीय के उदय से नरकादि गतियों में मन वचन और काया संबंधी पीड़ा भोगनी पड़ती है।¹⁰

1. स.सि. 8.9.749.

2. त.सू. 8.4 व ठाणांग 8.5 तथा उत्तराख्ययन 33.2.3.

3. स.सि. 8.3.736.

4. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. 21.

5. त.सू. 8.6 एवं उत्तराख्ययन 33.4.

6. "अनानालोकनम्" स.सि. 8.3.736.

7. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा.21

8. उत्तराख्ययन 33.5.61

9. "वेदस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःख संवेदनम्" स.सि. 8.3.736., उत्तराख्ययन 33.7.

10. स. सि. 8.8.746.

इसे शहद लिपटी तलवार की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार चाटने में तो शहद की मिठास का अनुभव होता है, परंतु तुरंत जिह्वा पर घाव होने के कारण जिस प्रकार दर्द होता है, उसी प्रकार साता वेदनीय के उदय के समय तो सुख प्राप्त होता है परंतु असाता वेदनीय के उदय के समय तीव्र दुःख का अनुभव होता है।

मोहनीयः-मोहनीय कर्म को संसार का मूल कारण माना जाता है। यह आत्मा का शत्रु है क्योंकि इसीके कारण समस्त दुःख हैं। इसे शराब की उपमा दी गई है।

आयु कर्म- किसी विवक्षित शरीर में जीव के रहने की अवधि को आयु कहते हैं। इसकी तुलना कारागार से की गयी है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी को कारागार में डाल देता है तब न चाहते हुए भी उसे वहाँ रहना पड़ता है।¹

आयु कर्म चार प्रकार का है- नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु और देवायु।²

अधिक परिग्रही, आसक्त, हिंसक, कृतघ्न, उत्सूत्र प्ररुपक आदि क्रियायुक्त नरकायु का, कपटी, मायावी, प्रपंची आदि से युक्त आत्मा तिर्यचायु का, अल्प कषायी, दानरुचि, सौम्य, मनुष्यायु का एवं पंचमहाव्रत धारी साधु, श्रावक, व्रतधारी आदि देवायु का बंधन करते हैं।³

नाम कर्मः- जिसका निमित्त पाकर आत्मा गति, जाति, संस्थान, शरीर आदि प्राप्त करता है, वह नाम कर्म है।⁴

इसके मुख्य दो भेद हैं- शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभ के अनेकों उत्तरभेद भी होते हैं।⁵

गोत्र कर्म - गोत्र कर्म के मुख्य दो भेद है- उच्चगोत्र और नीचगोत्र।⁶ जिसके उदय से पूज्यनीय कुल में जन्म होता है, वह उच्चगोत्र और जिसके

1. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा.11.

2. त.सू. 8.10. एवं ठाणांग 4.286.

3. पैतीस बोल विवरण पृ. 2,3.

4. स.सि. 8.11.755.

5. उत्तराध्ययन 33.13

6. त.सू. 12.

उदय से निंदनीय कुल में जन्म होता है, उसे नीचगोत्र कहते हैं।¹

गोत्र कर्म से तात्पर्य जीव के आचार विचार से है, शरीर या रक्त से नहीं। इसीलिये गोत्र को जीवविपाकी कहा है।²

अंतराय कर्म- जो कर्म विघ्न या बाधा उत्पन्न करता है, प्राप्ति की इच्छा होते हुए भी प्राप्त नहीं करने देता, देने की इच्छा होते हुए भी नहीं देने देता, भोग और उपभोग की इच्छा होते हुए भी भोगने नहीं देता, उत्साहित नहीं होने देता, इनके कारण को अंतराय कर्म कहते हैं।³

इसके पाँच भेद हैं- दानांतराय, लाभांतराय, भोगांभोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय।⁴

जीव और पर्याप्ति:-पर्याप्ति छः प्रकार की होती है- आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।⁵ प्रज्ञापना में भाषा और मन दोनों को संयुक्त मानकर पाँच पर्याप्ति का निरूपण किया गया है।⁶

मृत्यु के पश्चात् संसारी जीव दूसरा जन्म लेने के लिये योनि स्थान में प्रवेश करते ही अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल वर्गणा को ग्रहण करता है, इसी को आहार कहते हैं। इस आहार वर्गणा को शरीर, इन्द्रिय आदि में परिणत करने की जीव की शक्ति का पूर्ण हो जाना पर्याप्त है।

जीवों के चौदह भेद होते हैं।⁷ इनमें पर्याप्त और अपर्याप्त प्रत्येक जीवों में ये दो भेद होते हैं। वे पर्याप्त और अपर्याप्त इन पर्याप्तियों की पूर्णता और अपूर्णता से होते हैं। शरीर आदि पूर्ण रहने पर जीव पर्याप्त और अपूर्ण रहने पर अपर्याप्त कहलाते हैं, इन्द्रिय आदि अपूर्ण हो तो भी शरीर की पूर्णता से पर्याप्तक कहलायेंगे। अपर्याप्तक जीव शरीर पर्याप्त पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं। एक श्वास में 18 जन्म मरण करने वाले जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं।⁸

1. स.सि. 8.12.757.

2. स.सि. 8.12 का "विशेषार्थ" पृ. 308.

3. स.सि. 8.13.759.

4. त.सू. 8.13. एवं उत्तराख्ययन 33.15.

5. नवतत्व प्रकरण 6.

6. प्रज्ञापणा 28.1904.

7. समवायांग 14.1

8. "उदये दु अपुण्णस्स... अपज्जतगो सो दु" गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 122.

आहार पर्याप्ति:—मृत्यु के बाद शरीर के योग्य कर्मवर्गणा ग्रहण करना आहार कहलाता है। उस आहार को रसरूप परिणमन करने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं।¹

शरीर पर्याप्ति:—जिसके पूर्ण होने पर आहार पर्याप्ति के द्वारा परिणत खलभाग हड्डी आदि कठोर अवयवों में और रस खून बसा, और वीर्य आदि तरल अवयवों में परिणत हो जाता है, उसे शरीर पर्याप्ति कहते हैं।²

इन्द्रिय पर्याप्ति:—दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों को ग्रहण करने वाली शक्ति की उत्पत्ति के कारणभूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।³ अथवा “खून, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य इस प्रकार सात धातुओं से स्पर्श और रसन आदि द्रव्येन्द्रियों को बनाने की जो शक्ति है, उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।⁴

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति:—आहार वर्गणा से ग्रहण किये पुद्गल स्कंधों को उच्छ्वास निःश्वास रूप में परिणत करने वाली शक्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।⁵

भाषा पर्याप्ति:—जिस शक्ति की पूर्णता से वचन रूप पुद्गल स्कंध वचनों में परिणमित होते हैं, वह भाषा पर्याप्ति कहलाती है।⁶

मन पर्याप्ति:—जिस शक्ति के पूर्ण होने से द्रव्यमन योग्य पुद्गल स्कंध द्रव्यमन के रूप में परिणत हो जाते हैं, उसे मनपर्याप्ति कहते हैं।⁷

आत्मा और गुणस्थान:—जीव के विकास सोपान चौदह माने गये हैं।⁸ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उपशांत, क्षीणमोह, संयोगी

1. गोमटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्वदीपिका 118
2. गोमटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्वप्रदीपिका 119.
3. वही
4. पैतीस बोल विवरण पृ.8
5. वही पृ. 8.9 एवं धवला 1.1.34.
6. वही
7. वही.
8. समवायांग 14.5

केवली और अयोगीकेवली।¹

- (1) **मिथ्यात्वः**—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके एकांत, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान पाँच भेद है।²
- (2) **सासादनः**—उपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्तमात्र काल में जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छः आवली प्रमाण काल शेष रहे, उतने काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के उदय से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग् दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धारूप परिणति होती है, उनको सासादन गुणस्थान कहते हैं।
- (3) **मिश्र गुणस्थानः**—जिस प्रकार दही और गुड को अच्छी तरह मिलाने पर न उसका स्वाद खट्टा होता है न मीठा, अपितु मिश्रित होता है, उसी प्रकार मिश्र में सम्यक्त्व मिथ्यात्व का मिश्रित परिणाम होता है और एक ही जीव में एक साथ दोनों संभव भी हैं, जैसे एक ही व्यक्ति एक का मित्र है, एक का अमित्र; वैसे ही एक ही व्यक्ति सर्वज्ञप्ररूपित वचनों में एवं असर्वज्ञकथित सिद्धांतों में एक साथ श्रद्धान रखता है।³

इस गुणस्थान में न चारित्र्य ग्रहण करता है, न श्रावकत्व। इसमें आयु बंध भी नहीं पड़ता और न इसमें व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है।⁴

- (4) **अविरत सम्यग्दृष्टिः**—इस गुणस्थान में जीव की सम्यग्दृष्टि होते हुए भी जीव व्रतधारी नहीं बन सकता। यह श्रद्धान (सर्वज्ञ प्ररूपित वाणी में) अवश्य रखता है, परंतु प्रवृत्ति नहीं कर सकता।⁵
- (5) **देशविरत गुणस्थानः**—इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानानावरण कषाय का उदय होने के कारण पूर्ण संयम नहीं, परंतु अप्रत्याख्यानानावरण कषाय न होने से देशविरत (आंशिक व्रत) ले सकता है।⁶

1. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. 9.10 तथा द्वितीय कर्मग्रन्थ गा.2.

2. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. 15.16.17.

3. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 21,22.

4. वही गा. 23.24.

5. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 29.

6. वही 30.

इसे विरताविरत या संयमासंयम भी कहते हैं।¹ इस गुणस्थान में त्रसहिंसा से विरत, परंतु उसी समय स्थावर हिंसा से अविरत होता है, इसीलिये उसे विरताविरत कहते हैं।² इसमें क्षायोपशमिक भाव होता है।

- (6) **प्रमत्तसंयत गुणस्थानः**—प्रत्याख्यानानावरण कषाय का उपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका, परंतु उस संयम के साथ संज्वलन और नोकषाय के उदय से संयम में बाधा उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है, इसे प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। यद्यपि इस गुणस्थान में जीव मूलगुण और शील से युक्त होता है परंतु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करने से वह संयम में भी संपूर्ण संयममय नहीं बनता।³
- (7) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थानः**—जब संज्वलन और कषाय मंद हो जाते हैं, तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। इसलिये इस गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।⁴ इसके भेद एवं उपभेद की गोम्मटसार में विस्तृत चर्चा है।⁵
- (8) **अपूर्वकरण गुणस्थानः**—प्रथम कभी न उत्पन्न परिणाम की उत्पत्ति इस गुणस्थान में होती है। इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के विशुद्ध परिणाम विसदृश ही होते हैं, परन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सादृश्य और विसादृश्य दोनों होते हैं।⁶ इसका काल मात्र अन्तर्मुहूर्त होता है।⁷
- (9) **अनिवृत्तिकरण गुणस्थानः**—इस गुणस्थान में विशुद्ध परिणामों का भेद समाप्त हो जाता है। अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्ति के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीवों में शरीर के आकार, वर्ण आदि की अपेक्षा भेद होता है। जिन विशुद्ध परिणामों द्वारा उनमें भेद नहीं होता, वे अनिवृत्तिकरण परिणाम कहलाते हैं। इसमें विशुद्ध परिणाम एक जैसे ही पाये जाते हैं तथा ये परिणाम ध्यान रूपी अग्नि से कर्मकाष्ठ

1. त.वा. 2.5.8.

2. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 31.

3. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. 32.33

4. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 45

5. वही गा. 49.

6. वही 51.52.

7. वही 52.

जलाने में समर्थ होते हैं।¹

- (10) **सूक्ष्मसंपरायः**—इस गुणस्थान में अत्यंत सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय रहता है। रंग से रंगे वस्त्र की लालिमा धोने पर जैसे फीकी हो जाती है, वैसे ही इस गुणस्थान में राग अत्यंत अल्प होता है। मात्र सूक्ष्म लोभ होने के कारण यथाख्यात चारित्र उदय में नहीं आता।²
- (11) **उपशांतकषाय गुणस्थान** :—निर्मल फल से युक्त जल की तरह अथवा शरदऋतु में होने वाले सरोवर के जल की तरह संपूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशांत कषाय गुणस्थान कहते हैं।³
- (12) **क्षीणमोहः**—जिस निर्ग्रन्थ का हृदय मोहनीय कर्म के क्षीण होने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे गये जल के समान निर्मल हो जाता है, उसे क्षीणमोह कषाय गुणस्थान कहते हैं।⁴
- (13) **संयोगीकेवली** :—केवलज्ञान रुपी प्रकाश से जिसके अज्ञान का अंधेरा समाप्त हो गया है, जिसे परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हो चुकी है, इन्द्रियों के सहयोग की अपेक्षा न रखने वाले काययुक्त को संयोगीकेवली कहते हैं।⁵
- (14) **अयोगीकेवली** :—जिसके कर्मों का आश्रव (आगमन) सर्वथा रुक गया है, कर्मरुपी रज की पूर्णतया निर्जरा कर चुके योगरहित को अयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं।⁶ यह सिद्धात्मा भी कहलाती है। जीव की परिपूर्णता और उत्कृष्टता इसी गुणस्थान में प्राप्त होती है।

इन गुणस्थानों के विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा उत्तरोत्तर विकास करती हुई अंत में संपूर्ण कर्म क्षय करके अपने शुद्धरूप को उपलब्ध करती है।

मोह और योग के कारण जीव के अंतर्गुण परिणामों में प्रतिक्षण होने

1. वही 56.57.

2. वही 58.60

3. वही गा. 61

4. वही गा. 62 एवं त. वा. 9.1.22.590.

5. गोम्मटसार जीवकाण्ड 64

6. वही 65.

वाले उतार चढ़ाव को गुणस्थान कहते हैं। इसे ओघ और संक्षेप भी कहते हैं।¹

पुण्य, पाप बंध और जीवः—मुख्य तत्व तो इस संसार में दो ही हैं—जीव और अजीव।² इनका विस्तार करने पर जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्व होते हैं।³ जीव का विवेचन हम आगे के पृष्ठों में कर आये हैं।

अजीव दो प्रकार का है—मूर्त और अमूर्त। जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो उसे रुपी या मूर्त कहते हैं और जिसमें ये चारों न हो वे अमूर्त हैं।⁴ इसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में करेंगे।

पुण्य पापः—ठाणांग में नौ प्रकार से पुण्य बताया गया है। अन्न देने से, पानी देने से, वस्त्रदान से, लयनदान से, शयनसाधन देने से, मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति से एवं नमस्कार से पुण्य होता है⁵

षड्दर्शन समुच्चय में हरिभद्रसूरि ने पुण्य की परिभाषा दी, “सत्कर्मों द्वारा लाये गये कर्म पुद्गलों को पुण्य कहते हैं।”⁶ ठाणांग में पाप के स्थान भी नौ बताये हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, गान, माया, लोभा⁷

प्रभु महावीर के गणधर अचलभ्राता का तो संदेह ही पुण्य, पाप के अस्तित्व और उसके स्वरूप से संबंधित था। उनके मन में पुण्य पाप से संबंधित पाँच प्रश्न थे।

“मात्र पुण्य ही है। पाप के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं है। पुण्य बढ़ता है, सुख बढ़ता है, पुण्य घटता है, सुख घटता है। फिर पाप के स्वतंत्र अस्तित्व की क्या आवश्यकता है।”⁸ या यह भी हो सकता है कि “पाप का ही अस्तित्व माने। पाप घटा, सुख मिला। पाप बढ़ा, दुःख बढ़ा।”⁹ या इन

1. “संखेओ ओघो ति य गुणसण्णा.... सकम्मभवा” जीवकाण्ड (गोम्मटसार)3.
2. उत्तराध्ययन 36.
3. नवतत्त्व 1.
4. उत्तराध्ययन 36.4.
5. ठाणांग 9.25.
6. षड्दर्शनसमुच्चय 49.
7. ठाणांग 9.26.
8. गणधरवाद 1908.9.
9. गणधरवाद 1910.

दोनों का संयुक्त अस्तित्व है।¹ चौथा मत यह है कि “पुण्य पाप दोनों स्वतंत्र हैं।” पाँचवा मत यह है कि पुण्य पाप कुछ भी नहीं हैं।”

इन सभी प्रश्नों को प्रभु ने समाधान से समाहित किया-देहादि का जो कारण है वह कर्म हैं।² कर्म दो प्रकार के हैं- पुण्य और पाप। शुभ कार्यादि से पुण्य का और अशुभ कार्यादि से पाप का अस्तित्व सिद्ध होता है।³

पुण्य और पाप स्वतंत्र हैं। सुख का अनुरूप कारण पुण्य एवं दुःख का अनुरूप कारण पाप है।⁴

सुख के अत्यंत उत्कर्ष का कारण पुण्य को और दुःख के अत्यंत उत्कर्ष का कारण पाप को मानना होगा। पाप को पुण्य से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः पुण्य और पाप दोनों मानने चाहिये।⁵

दुःख के लिये जिस प्रकार पाप की कल्पना अनिवार्य है, सुख के लिये उसी प्रकार पुण्य की कल्पना अनिवार्य है। चाहे जहर कम हो या ज्यादा वह हानि पहुँचा ही सकता है, उससे अमृत की कल्पना संभव नहीं। पाप तो दुःख का ही कारण बनता है।⁶

ध्यान जैसे एक ही होता है उसी प्रकार कर्मोदय एक ही प्रकार का होता है। इन्हें स्वतंत्र ही मानेंगे।⁷ पुण्य और पाप दोनों पुद्गल हैं, पर न अत्यंत स्थूल हैं न अत्यंत सूक्ष्म।⁸ आचार्य कुंदकुंद ने पुण्य और पाप दोनों को जीव का बंधन माना है और एक को सोने की तथा एक को लोहे की बेड़ी कहा है। इतना ही नहीं परंतु उन्होंने तो यह भी कहा कि जीव को इन दोनों का त्याग करना चाहिये। इन दोनों के योग से जीव कर्म बंध करता है और इनसे विरक्त आत्मा कर्ममुक्त बनती है।

भगवती में पाप और पुण्य के संबंध में जिज्ञासा और महावीर द्वारा

1. गणधरवाद 1911.
2. गणधरवाद 1919.
3. गणधरवाद 1920
4. गणधरवाद 1921.
5. गणधरवाद 1930
6. गणधरवाद 1933.
7. गणधरवाद 1937.
8. गणधरवाद 1940

उसके विवेचन का वृतांत मिलता है। “जिस प्रकार से सर्वथा सुंदर, सुसज्जित थाली में अट्टारह प्रकार का भोजन हो, परंतु वह विष मिश्रित रूप हो तो भोजन करने में आनंद तो आयेगा पर उसका परिणाम अशुभ होगा। उसी प्रकार पापों का सेवन तो अच्छा लगता है पर उसका परिणाम खतरनाक होता है।¹

पुण्य बंध का उदाहरण इस प्रकार दिया कि एक व्यक्ति सुंदर औषधमिश्रित भोजन करता है, यद्यपि स्वाद उसे रुचिकर नहीं लगेगा, परंतु परिणाम अच्छा होगा।² पुण्य बंध में सुख या रुचि नहीं होती पर उसका परिणाम रुचिकर अवश्य होता है।³

तत्त्वार्थ सूत्र में पुण्य को शुभ योग वाला और पाप को अशुभ योग वाला कहा है।⁴

हिंसा, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काययोग असत्य, कठोर, असत्य वचन, अशुभ वचनयोग, मारने का विचार, अहितकारी विचार आदि अशुभ मनोयोग है। इनसे विपरीत शुभ काययोग, शुभ वचनयोग, शुभमनोयोग है।⁵

जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य और जो आत्मा को शुभ से बचावे वह पाप है। पुण्य का उदाहरण साता वेदनीय एवं पाप का उदाहरण असातावेदनीय है।⁶

भगवती में बंध का कारण कांक्षामोहनीय कर्म को माना है। प्रमाद और योग के निमित्त से जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधता है। प्रमाद योग से उत्पन्न होता है, योग वीर्य से एवं वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है। (जीव नामकर्मयुक्त हो तभी शरीर उत्पन्न करता है।) जब बंध का कारण शरीर है तो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम भी जीव से ही होता है।⁷

आश्रव, संबर, निर्जरा और जीव:—आश्रव का अर्थ है द्वार! कर्मों के आगमन

1. समयसार 146.

2. स. सा. 147.50.

3. भगवती 7.10.15-18.

4. त. सू. 6.3.

5. स.सि. 6.3. 614.

6. वही.

7. भगवती 1.3.8.9.

या प्रवेश द्वार को आश्रव कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में¹ उमास्वाति ने पाँच एवं कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में² आश्रव के चार भेद बताये हैं- मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। कुंदकुंद ने प्रमाद के अतिरिक्त चारों माने हैं।

आश्रव द्रव्याश्रव एवं भावाश्रव रूप से दो प्रकार का है। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आश्रव होता है, उसे भावाश्रव एवं जानावरणीय आदि कर्मों के आश्रव को द्रव्याश्रव कहते हैं।³

श्रीमद् नेमीचंद्र ने आश्रव पाँच माने हैं और उनके क्रमशः पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद भी किये हैं।⁴

ठाणांग सूत्र में इन आश्रवों का अर्थ करते हुए लिखा है- मिथ्यात्व- विपरीत श्रद्धा, अविरति - व्रतरहित जीवन, प्रमाद-आत्मिक अनुत्साह, कषाय-आत्मा का रागद्वेषात्मक उत्ताप, योग-मन वचन और काया का व्यापार।⁵

हरिभद्र सूरि ने भी कर्म बंध का कारण मिथ्यात्व आदि को आश्रव कहा है।⁶

कर्मों के आगमन के जैसे पाँच द्वार हैं, वैसे ही आते हुए उन कर्मों को रोकने के भी पाँच द्वार हैं- सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, अयोग।⁷

तत्त्वार्थ सूत्र में संवर की परिभाषा दी “जो आश्रव का निरोध करे/रोके वह संवर है।”⁸

यह संवर दो प्रकार का है। द्रव्यसंवर एवं भावसंवर! संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसंवर एवं इसका निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्म पुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसंवर है।⁹ यही परिभाषा नेमिचन्द्र ने दी है।¹⁰

1. त.सू. 8.1.

2. स.सा. 164.

3. वृ.द्र.स. 29.

4. वृ.द्र.स. 30.

5. ठाणांग 5.109.

6. षड्दर्शनसमुच्चय का 50.

7. ठाणांग 5.110.

8. त.सू. 9.1.

9. स.सि. 9.1.785.

10. वृ.द्र.स. 34.

हरिभद्र सूरि ने भी कहा है कि “संवरस्तन्निरोधः” आश्रव निरोध करने वाला संवर है।¹

गुणरत्नसूरि ने इसे सर्वसंवर और देशसंवर के नाम से विभक्त किया है। जिस समय मन, वचन और काया का सूक्ष्म और स्थूल दोनों व्यापारों का सर्वथा निषेध हो जाय, उसे संवर कहते हैं। यह अयोगीकेवलीगुणस्थानमें अर्थात् सिद्धात्मा में होता है। मन, वचन, काया की संयत प्रवृत्ति रूप चारित्र से देशसंवर होता है।²

आश्रव और संवर जैन दर्शन के महत्वपूर्ण बिंदु है। प्रथम अंग आचारांग के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में भी आश्रव संवर की व्याख्या उपलब्ध होती है।

आचारांग में क्रिया करना, करवाना और उसका अनुमोदन करना आश्रव है।³ और यही आश्रव संसार परिभ्रमण का कारण है⁴ और इन सभी कर्म समारंभों को जानकर त्यागना, यही संवर है। इसे साधने वाला ही मुनि होता है।⁵

कर्म और आश्रवः—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं। इन आठ कर्मों के आश्रवों को अलग-अलग इस प्रकार से समझा जा सकता है। प्रदोष, निह्वव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आश्रव है।⁶

श्री पूज्यपाद ने निह्वव आदि का अर्थ किया है- तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है, उसका गुणगान करने पर उस समय नहीं बोलने वाले के भीतर जो पैशुन्यरूप परिणाम है वह प्रदोष है। किसी कारण से “ऐसा नहीं है, मैं नहीं जानता” इत्यादि कहकर ज्ञान का अपलाप करना निह्वव है। ज्ञान का अभ्यास किया है, वह देने योग्य भी है, फिर भी जिस कारण (ईर्ष्या) से नहीं दिया जाता वह मात्सर्य है। ज्ञान का विच्छेद करना अंतराय है। दूसरा कोई ज्ञान का

1. षड्दर्शनसमुच्चय 51.

2. षड्दर्शनसमुच्चय टीका. 51.229.

3. आचारांग 1.1.6.

4. आचारांग 1.1.8.

5. वही 1.1.7.12.

6. त. सू. 6.10.

प्रकाश फैला रहा हो उस समय शरीर या वचन से उसका निषेध करना आसादन है। प्रशंसनीय ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है।¹

अपने में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिवेदन ये असाता वेदनीय कर्म के आश्रव हैं।²

प्राणी अनुकंपा, ब्रती, अनुकंपा, दान और सरागसंयम आदि का योग, शांति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आश्रव हैं।³

केवली, श्रुत, संघ, धर्म, और देव इनका अवर्णवाद बोलना (गुणीपुरुषों में दोषों की अविद्यमानता होने पर भी उन में उन दोषों का उद्भावन करना) दर्शनमोहनीय कर्म का आश्रव है।⁴

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र आत्मपरिणाम को चारित्रमोहनीय कर्म का आश्रव कहते हैं।⁵

धवला में इसे और भी स्पष्ट किया है। मिथ्यात्व, असंयम, और कषाय पाप की क्रियाएं हैं। इन पापरूप क्रिया की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। जो कर्म इस चारित्र को आच्छादित करता है, उसे चारित्र मोहनीय आश्रव कहते हैं।⁶

अत्यंत आरंभ और परिग्रह का भाव नरकायु का आश्रव, कपट (माया) तिर्यंचायु का, अल्पारंभ और अल्प परिग्रह का भाव एवं स्वभाव की मृदुता मनुष्यायु का और सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आश्रव हैं।⁷

योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्म के आश्रव हैं तथा योग की सरलता और अविस्वादा ये शुभ नाम कर्म के आश्रव हैं।⁸ शुभ नाम कर्म अत्यंत महत्वपूर्ण है। दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील, सदाचार, ब्रतों का

1. स.सि. 6.10 628.

2. त.स. 6.11.

3. त. सू. 6.12.

4. त. सू. 6.13.

5. त. सू. 6.14.

6. धवला 22.6.1.9-11 पृ. 40.

7. त.सू. 6.15-17.19.

8. त. सू. 6: 22.23.

अतिचार रहित पालन, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, तप, साधु-समाधि, वैयावृत्य, अरिहंतभक्ति, आचार्य भक्ति बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य तीर्थकर नाम कर्म के आश्रव है।¹

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन, और असद्गुणों का उद्भावन ये नीच गोत्र के आश्रव है।² अकलंक ने उच्छादन और उद्भावन का अर्थ किया है - प्रतिबन्धक कारणों से वस्तु का प्रकट नहीं होना उच्छादन है और प्रतिबन्धक के हट जाने पर प्रकाश में आ जाना उद्भावन है।³

इनसे विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा, सद्गुणों का उद्भावन, असद्गुणों का उच्छादन, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्र के आश्रव हैं।⁴

अनुत्सेक अर्थात् अहंकार रहित होना है जो गूयते अर्थात् शब्द व्यवहार में आवे, यह गोत्र है।⁵

ज्ञान सत्कार दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गंध, माल्य, आच्छादन आदि में विघ्न करना आदि-2 अंतराय आश्रव के कारण है।⁶

संवरनिर्जरा:—इन आठों कर्मों के कर्म प्रवेश द्वार रूप आश्रव को रोकना संवर है।

संवर का तात्पर्य हुआ-कर्मद्वार को बंध करना। जो पूर्व में या अतीत में जीव कर्मबंधन कर चुका है उनसे मुक्त होने को निर्जरा कहते हैं। हरिभद्र सूरि ने इसकी परिभाषा दी है—“बंधे हुए कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं।”

निर्जरा दो प्रकार से होती है - सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। कर्मों को झड़ा देने की इच्छा से जो साधु दुष्कर तप तपते हैं, श्मसान में रात्रि के वक्त खड़े होकर ध्यान करते हैं, भूख प्यास, सरदी, गरमी आदि

1. त. सू. 6.24.

2. त. सू. 6.25.

3. त. रा. वा. 6.25.530.

4. त. सू. 6.27.

5. त. रा. वा. 6.25.531.

6. त. रा. वा. 6.27.531.

7. षड्दर्शन समुच्चय का. 51.

विविध परिषहों को सहन करते हैं, बाधाएँ सहते हैं, लोच करते हैं, अठारह प्रकार के शील को धारण करते हैं, बाह्य तथा आभ्यंतर राग द्वेष का त्याग करते हैं, उन उग्र तपश्चरण करने वाले शरीरासक्ति रहित मुनियों के कर्मों की निर्जरा सकाम निर्जरा है। वे कर्मों को निमंत्रित कर उन्हें झाड़ते हैं। यह निर्जरा पुरुषार्थ से होती है।

जो शांत परिणामी व्यक्ति कर्मों के उदय से होने वाले लाखों प्रकार के तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को साता से भोग लेते हैं, वह अकाम निर्जरा है अर्थात् आये हुए कर्मों को शांति से भोगना परंतु उनके साथ झड़ाने की इच्छा से छेड़छाड़ न करना।¹

तत्त्वार्थ सूत्र में तप को निर्जरा का कारण बताया है। पूज्यपाद ने निर्जरा दो प्रकार की बतायी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से होने वाली निर्जरा को अबुद्धिपूर्वा निर्जरा कहते हैं तथा परिषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला निर्जरा होती है।²

तत्त्वार्थसूत्र में परिषह 22 माने गये हैं। इन परिषहों को सहन करना कर्मों की निर्जरा है। क्षुधा, प्यास, शीत, गर्मी, दंशमशक, नम्रता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।³

तप बारह प्रकार का होता है। अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता यह छः प्रकार का बाह्य एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग छः प्रकार का आभ्यंतर तप कहलाता है।⁴

इन बारह प्रकार के तप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है।⁵

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा में वेदना तो अत्यधिक होती है, परंतु निर्जरा अल्प होती है। भगवती में इस प्रश्न पर चर्चा उपलब्ध होती है। “भगवन्! नैरयिकों को जो वेदना है, क्या वह निर्जरा कही जा सकती है? नहीं गौतम! यह

1. षड्दर्शन समुच्चय टीका 52.336.

2. स.सि. 9.7.807.

3. त. सू. 9.9. एवं नवतत्त्व प्र. 27.28.

4. नवतत्त्व प्रकरण 35.36.

5. “बारसविहं तवो णिज्जराय” नवतत्त्वप्र. 34.

संभव नहीं है क्योंकि वेदना कर्म हैं और निर्जरा नो कर्म हैं।”¹

बंध और मोक्ष:—जीव और पुद्गल का परस्पर एकमेक होकर मिल जाना बंध है और सर्वथा वियोग हो जाना मोक्ष है।²

भगवती के अनुसार “जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट हैं, मिले हुए हैं, परस्पर चिकनाई से जुड़े हुए हैं और परस्पर गाढ़ हो कर रह रहे हैं। लबालब भरे तालाब में कोई व्यक्ति दो सौ छिद्रों वाली जहाज (नौका) डाल दे, उसमें जैसे पानी भर जाता है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर एकमेक हो कर रहते हैं।³

भगवती में बंध के दो प्रकार बताये हैं:—प्रयोगबंध और विस्रसाबंध।⁴ जो जीव के प्रयोग से बंधता है, वह प्रयोगबंध और जो स्वाभाविक रूप से बंधता है, वह विस्रसाबंध है। यह भगवती सूत्र के 8 वें शतक का नौवाँ उद्देशक बंध की चर्चा से संबंधित है।

जीव और कर्म के बनने योग्य पुद्गल स्कंध का परस्पर अनुप्रवेश—एक का दूसरे में घुस जाना ही बंध है। यह पानी और दूध की उपमा से उपमित किया गया है।⁵

बंध के कारण पाँच हैं - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।⁶

बंध के प्रकार चार हैं - प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश।⁷ योग से प्रकृति और प्रदेश का तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग का बंध होता है।⁸

इसे श्री पूज्यपाद से यों समझाया है—जिस प्रकार नीम की प्रकृति कडुवापन है, गुड़ की प्रकृति मीठापन है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है—ज्ञान नहीं होने देना, दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति है—अर्थ का अवलोकन नहीं होने देना, वेदनीय कर्म की प्रकृति है—साता और असाता का संवेदन कराना, तत्त्व

1. भगवती 7.3.11.

2. षड्दर्शन समु. 51

3. भगवती 1.6.26.

4. भगवती 8.9.1.

5. षड्दर्शन समुच्चय टीका 51.230.

6. त. सू. 8.1.

7. त. सू. 8.3

8. बृ. द्र. सं. 33.

की श्रद्धा नहीं होने देना, दर्शन मोहनीय की एवं असंयमभाव में रहना चारित्रमोहनीय की, भवधारण करना आयु कर्म की, नारक आदि नामकरण नाम कर्म की, उच्च और नीच स्थान की प्राप्ति गोत्र कर्म की, दान आदि में विघ्न करना अंतराय कर्म की प्रकृति है।¹

स्थिति दो प्रकार की हैं—जघन्य और उत्कृष्ट।²

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटाकोटि सागरोपम है।³ बह उत्कृष्ट स्थिति मात्र मिथ्यादृष्टि, संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक को ही प्राप्त होती है।⁴ नाम और गोत्र की बीस, आयु कर्म की तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।⁵

इन सभी कर्मबंधों की जघन्य स्थिति इस प्रकार है—वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त और अवशिष्ट कर्मों की एक अन्तर्मुहूर्त है।⁶

बकरी, गाय, भैंस, आदि के दूध में जिस प्रकार दो प्रहर तक मधुर रस रहने की कालमर्यादा है, उसी प्रकार कर्मों की स्थिति भी समझना चाहिये। जीव के प्रदेशों में जितने काल तक कर्म संबंध रूप से स्थिति है, उसे स्थिति बंध कहते हैं।⁷

जैसे दूध में तारतम्यता से रस संबंधी शक्ति विशेष होती है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों पर लगे कर्म के स्कंधों में भी सुख अथवा दुःख देने की शक्ति विशेष को अनुभाग बंध कहते हैं।⁸

आत्मा के एक एक प्रदेश पर सिद्धों के अनंतवें भाग प्रमाण और अभव्य जीवों की संख्या से अनंतगुणे अनंतानंत परमाणु प्रतिक्षण बंधते हैं, उसे प्रदेशबंध कहते हैं।⁹

1. स. सि. 8.3.736 एवं बृहद्र. द्र. सं. 33, पृ. 106.

2. स.सि. 8.13.760.

3. त. सू. 8.14.15.

4. स.सि. 8.14.760.

5. त.सू. 8.16.17.

6. त. सू. 8.18.20.

7. बृ. द्र. सं. टी. 33. पृ. 107.

8. बृ. द्र. सं. टी. 33.107. एवं त. सू. 8.21.

9. त. सू. 8.24 एवं बृ. द्र. सं. टी. 107.

कुंदकुंदाचार्य ने बंध का कारण जीव के मिथ्यादृष्टि (रागादिरूप होने से) युक्त अध्यवसाय को कहा है। 'मैं जीवों को सुखी दुःखी करता हूँ'—यह दृष्टि की मूढ़ता ही शुभाशुभ कर्म को बांधती है।¹

बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं अपितु अध्यवसाय ही बंध का कारण है।²

बंध और आश्रव का भेद:—प्रथम क्षण में कर्म स्कंधों का आगमन आश्रव और आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण में जीव के प्रदेशों में उन कर्मों का रहना बंध है।³

मोक्ष का स्वरूप:—मोक्ष का अर्थ है मुक्त होना।

पूज्यपाद के अनुसार - "जब आत्मा कर्म-मैल रूपी शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है, तब उसके जो अचिंत्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।"⁴

कुंदकुंद के अनुसार "आठों कर्मों को क्षय करने वाले, अनंतज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों से युक्त परम लोक के अग्रभाग में सिद्ध (मुक्तात्मा) स्थिर हैं।"⁵

व्यवहार नय से ज्ञानपुंज ऐसे वे सिद्धभगवान् चैतन्यघन से ठोस चूड़ामणि रत्न की तरह है, निश्चय नय से सहजपरमचैतन्य चिंतामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निज रूप में रहते हैं।⁶

मोक्ष में जीव का शुद्ध स्वरूप ही रहता है। दीपक बुझने पर जैसे प्रकाश के परमाणु अंधकार में बदल जाते हैं, उसी प्रकार समस्त कर्मक्षय होने पर आत्मा शुद्ध चैतन्य अवस्था में बदल जाती है।⁷ कुंदकुंद ने भी पंचास्तिकाय में मोक्ष में आत्मा का सद्भाव सिद्ध किया है। "अगर जीव का मोक्ष में असद्भाव

1. स. सा. 259.

2. स. सा. 265.

3. वृ. द्र. सं. टी. 108.

4. स. सि. 1.4.18.

5. नि. सा. 72.

6. स. सा. ता. वृ. 101.

7. तरा. वा. 10.4. पृ. 644.

हो तो शाश्वत-उच्छेद, भव्य-अभव्य, शून्य अशून्य और विज्ञान अविज्ञान भावों का अभाव हो जायेगा, जो अनुचित हैं।”¹ उत्तराध्ययन के अनुसार सिद्धात्मा के शरीर की अवगाहना अंतिम भव में जो शरीर की ऊँचाई थी, उससे तृतीय भाग हीन होती है।² सिद्धों के अंतिम शरीर से कुछ कम होने का कारण यह है कि चरम शरीर के नाक, कान, नाखून आदि खोखले होते हैं। शरीर के कुछ खोखले भागों में आत्मप्रदेश नहीं होते। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने के कारण पहले शरीर से कुछ कम, मोमरहित सांसे के बीच आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के आकार वाली होती है।³

सिद्ध बनने के पश्चात् उनमें पुनः संसार या कर्मबंध की संभावना नहीं होती, क्योंकि बंधन रूप कार्य का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। कारण समाप्त होने के कारण कार्य हो तो जीव का मोक्ष नहीं हो सकता।⁴ भगवती में भी इसी प्रकार की चर्चा है जिसने संसार का निरोध किया है, वह पुनः मनुष्यभव की धारण नहीं करता।⁵

सिद्धों के अवगाहन शक्ति होती है। अल्प अवगाह में भी अनेक सिद्धों का अवगाह हो जाता है। जब मूर्त्तिमान दीपकों का भी अल्पाकाश में अविरोधी अवगाह देखा गया है, तब सिद्धों के अमूर्त्त होने के कारण विरोध का प्रश्न ही नहीं है। संसारी सुख सांत तथा उतार-चढ़ाव वाला है, परन्तु सिद्धात्मा का सुख परम अनंत है।⁶

संपूर्ण कर्म क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।⁷

उमास्वाति ने ऊर्ध्वगमन के कारण बताये हैं—पूर्व के संस्कार से, कर्म के संगरहित हो जाने से, बंधन के टूटने से, और ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन ही करते हैं।⁸

1. प. का. गा. 46.

2. उत्तराध्ययन 36.64.

3. वृ. द्र. सं. टीका 51 पृ. 106.

4. तत्त्वार्थ रा.वा. 10.4.4.642.

5. भगवती 2. 1. 9 (2)

6. त. रा. वा. 10.4.9.11 पृ. 643.

7. त. सू. 10.5

8. त. सू. 10.6.

पूर्व के संस्कारः—जिस प्रकार कुम्हार अपना हाथ हटा ले तो भी पूर्व प्रयोग के कारण संस्कार क्षय तक चक्र घूमता रहता है, वैसे ही संसारी आत्मा ने अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है, परन्तु कर्मसहित होने के कारण बिना नियम गमन करता है और कर्ममुक्ति होने के कारण नियमपूर्वक गमन करता है।¹

कर्म से असंगः—मिट्टी के लेप से वजनदार तूबडी पानी में डूब जाती है परन्तु ज्योंही मिट्टी का लेप हटता है, तूबडी ऊपर आ जाती है, उसी तरह कर्म से भारी आत्मा भटकता रहता है, पर कर्ममुक्त बनते ही ऊर्ध्वगमन कर जाता है।²

बंध छेदः—जिस प्रकार बीज कोश से बंधन टूटने से एण्ड ऊपर की ओर जाता है, वैसे ही गति नाम आदि कर्मों के बंधन से हटते ही मुक्तात्मा की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।³

अग्निशिखावत्ः—जैसे तिरछी बहने वाली वायु के अभाव में दीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही मुक्तात्मा भी नाना विकारों के कारण कर्म के हटते ही ऊर्ध्वगतिस्वभाव से ऊपर की जाती है।⁴

तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने चारों उदाहरणों को सूत्र द्वारा स्पष्ट भी किया है।⁵

लोकाग्र तक ही सिद्धात्मा जाता है, उससे आगे नहीं जा पाता क्योंकि गमन का कारण धर्म द्रव्य है जिसका अलोक में अभाव है।⁶

मोक्षावस्था में भी केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व इन चार भावों का क्षय नहीं होता।⁷

उनमें पुनः संसार में आकर जन्म मरण करने की बाधा भी नहीं है। मूर्त्त अवस्था में ही प्रीति, परिताप आदि बाधाओं की संभावना थी।⁸

मुक्ति की प्राप्ति के भेदः—क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र्य, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अंतर संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भेद पाया जाता है।⁹

1. त. सू. वा. 10.7.2.645.

2. त. रा. वा. 10.7.3.645.

3. त. रा. वा. 10.7.5.645.

4. त. रा. वा. 10.7.6.645.

5. त. सू. 10.7.

6. त. सू. 10.8.

7. त. सू. 10.4.

8. यस्मिन्नेव देशे कर्मविप्रमोक्षस्तस्मिन्नेवावस्थानं प्राप्नोति पुनर्गतिकारणाभावादिति, तन्नः किं कारणम् साध्यत्वाद्' त. वा. 10.4.19.644.

9. त. सू. 10.9.

मुक्ति का साधन:—तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को माना है।¹

समयसार में कुंदकुंदाचार्य के अनुसार जो आत्मा को और बंध को जानकर बंध से विरक्त होता है, वही मोक्ष की प्राप्ति करता है।²

आत्मा और बंध प्रज्ञारूपी छेदी द्वारा भिन्न किये जाते हैं।³

प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया हुआ (बंध और चैतन्य) शुद्ध आत्म-स्वरूप ही मेरा है, अन्य सब पर द्रव्य हैं, ऐसा मानना चाहिये।⁴

कुंदकुंदाचार्य ने समयसार में आगे यह भी स्पष्ट किया है कि मात्र जानना ही पर्याप्त नहीं है। बंध, स्थिति, स्वभाव, आदि को जानने मात्र से मुक्ति नहीं मिलती, परंतु उन बंधनों को काटने की अनुकूल प्रक्रिया अपनाने पर ही अर्थात् रागादि भाव से जीव जब शुद्ध होता है, तभी उसे मुक्ति प्राप्त होती है।⁵

अनंत जीव आज तक मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, परंतु संसार में आत्माएँ फिर भी बनी रहती हैं, उसमें कोई कमी नहीं आयी क्योंकि जीव अनादि अनंत हैं।

गणित का भी यह नियम है कि अनंत में से अनंत निकालें, फिर भी बाकी अनंत ही रहेंगे।

जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव निगोद से निकलते हैं। अतः संसार में जीव जितने हैं, उतने ही रहते हैं। निगोद का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है - गोल असंख्यात हैं, एक गोल में असंख्यात निगोद रहते हैं। जितने जीव व्यवहार राशि से निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अव्यवहार राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।⁶

जीव के अनेक नामों के कारण:—जीव बाह्य तथा आभ्यंतर श्वास और निःश्वास लेता है इसीलिये प्राण कहलाता है। वह भूतकाल में था, वर्तमान में हैं और भविष्य में रहेगा, अतः उसे भूत कहना चाहिये, वह जीवन जीता है, जीवत्व एवं आयुष्यकर्म का अनुभव करता है, अतः उसे सत्व कहना चाहिये। वह रसों का ज्ञाता है, अतः उसे विज्ञ कहना चाहिये। वह सुख-दुःख का वेदन करता है, अतः उसे वेद कहना चाहिये।⁷

1. त. सू. 1.1.

2. स. सा. 294.

3. स. सा. 294.5.

4. स. सा. 296.

5. स. सा. 288.9.

6. स्याद्वादमंजरी 29. पृ. 259 पर उद्धृता।

7. भगवती 2.1.8 (2)

अजीव का स्वरूप

इस चौथे अध्याय में जीव के विरुद्ध स्वभाव वाले अजीव का विवेचन करेंगे। भगवती में अस्तिकाय के संबंध में प्रश्न पूछा गया-अस्तिकाय कितने हैं?

भगवान् ने कहा-अस्तिकाय पाँच हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।¹ अस्तिकाय का अर्थ है बहुप्रदेशी। जिनके टुकड़े न हो सके ऐसे अविभागी प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं।²

धर्मास्तिकाय का लक्षण:-धर्मास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य है, क्षेत्र की अपेक्षा लोकप्रमाण है, काल की अपेक्षा वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, अतः वह ध्रुव निश्चित, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है। गुण की अपेक्षा गमन गुण है, गति में उदासीन सहायक है।³

उत्तराध्ययन में भी धर्मास्तिकाय के गमन गुण की पुष्टि की गई है।⁴

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने भी धर्मास्तिकाय को गमन में उपकारी बताया है।⁵

श्री पूज्यपाद स्वामी ने गति की व्याख्या की है। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने को गति कहते हैं।⁶

टीकाकार गुणरत्नसूरि के अनुसार धर्मद्रव्य लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश वाले सभी प्रदेशों में पूरी तरह से व्याप्त है। इसके भी लोकाकाश की तरह

1. भगवती 2.10.1 एवं ठाणांग 5.170.

2. षड्दर्शन समुच्चय टीका 4.9.165

3. ठाणांग

4. गद्द लक्षणों धम्मो। उत्तराध्ययन 28.9

5. त.सू. 5.17

6. स.सि. 5.17.559

असंख्यात प्रदेश हैं। यह स्वयं गमन करनेवाले जीव और पुद्गल की गति में अपेक्षा कारण है, प्रेरणा करके इनको चलाता नहीं है। अगर चलते हैं तो चलने में सहकारी कारण अवश्य बनता है।¹

पंचास्तिकाय के अनुसार धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अगंध, अवर्ण, अशब्द, लोकव्यापक, अखण्ड, विशाल और असंख्यात प्रदेशी है।²

स्पर्शादि से रहित होने के कारण ही धर्मास्तिकाय अमूर्त स्वभाववाला है और इसीलिए अशब्द भी है। संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त रहने के कारण लोकव्यापक है। अयुत सिद्ध प्रदेशी होने के कारण अखंड है। स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है। निश्चयनय से एक प्रदेशी होने पर भी व्यवहार नय से असंख्यात प्रदेशी है।³

द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य है। यह लक्षण धर्मास्तिकाय में भी प्राप्त होता है। धर्मास्तिकाय अगुरु लघु रूप से सदैव परिणमित होता है, फिर भी नित्य है, गतिक्रिया में कारण भूत होने पर भी स्वयं अकार्य है।⁴

जैसे मछलियों को पानी चलने में सहयोग देता है वैसे ही धर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गल को उदासीन सहयोग करता है।⁵

कारणों के प्रकार:—षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने कारण तीन प्रकार के बताये हैं- परिणामी कारण, निमित्तकारण और निर्वर्तक कारण।

परिणामीकारण:—जो स्वयं कार्यरूप से परिणमन करे, कार्य के आकार में बदल जाय वह परिणामी कारण है जैसे घड़े में मिट्टी (इसे उपादान कारण भी कहते हैं)।

निमित्त कारण वे हैं जो स्वयं कार्यरूप से परिणेत तो न हो, पर कर्ता को कार्य में सहायक हो, जैसे घड़े की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र आदि।

निर्वर्तक कारण—कार्य का कर्ता निर्वर्तक कारण होता है जैसे कि घड़े

1. षड्दर्शन समुच्चय टीका 49.166
2. पंचास्तिकाय 83
3. पं.का.टी. 83
4. वही 84
5. वही 85

की उत्पत्ति में कुम्हार।'

तत्त्वार्थसूत्रभाष्य में उद्धृत इस पद्य से भी इसकी पुष्टि होती है।²

निमित्तकारण दो प्रकार के हैं- एक तो शुद्ध निमित्तकारण तथा दूसरा अपेक्षा निमित्त कारण। स्वाभाविक तथा कर्त्ता के प्रयोग से जहाँ क्रिया होती है, वह शुद्ध निमित्तकारण एवं जहाँ स्वाभाविक परिणमन मात्र होता हो, वह अपेक्षा निमित्त कारण कहलाता है।³

साधारण बोलचाल की भाषा हो या धर्म साहित्य हो, धर्म शब्द की परिभाषा या उसका प्रयोग शुभ, प्रशंसनीय, उचित व्यवहार आदि में किया जाता है। यहाँ धर्मास्तिकाय इन सभी व्यावहारिक अर्थों में प्रयुक्त न होकर एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जैन दर्शन ने जीव द्रव्य की तरह धर्मास्तिकाय को भी द्रव्य माना है तथा उसे भी गुण और पर्याय युक्त कहा है।

अन्य द्रव्यों की तरह धर्म में भी सामान्य और विशेष दोनों गुण उपलब्ध होते हैं। अमूर्त, निष्क्रिय, द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व आदि सामान्य एवं इसका विशेष गुण गति प्रदान करना है।⁴

धर्मास्तिकाय को तत्त्वार्थ सूत्र में निष्क्रिय द्रव्य⁵ कहा है क्योंकि क्रिया की परिभाषा है- अंतरंग और बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है, वह क्रिया कहलाती है।⁶

यहाँ प्रश्न होता है, जब धर्मास्तिकाय निष्क्रिय है तो इसमें उत्पाद आदि संभव नहीं है और उत्पाद आदि लक्षणों के अभाव में इसे द्रव्य नहीं कहा जा सकता।

श्री पूज्यपाद ने समाधान दिया- यद्यपि धर्म निष्क्रिय है तथापि इसमें

1. षड्दर्शनसमुच्चय टीका 49.167

2. "निर्वतक- निमित्त परिणामी च त्रिषेष्यते हेतुः। कुम्हारी धर्वा मुञ्चेति समसंख्यम्" उद्धृतये त. भा.टी.पृ517.

3. षड्दर्शन समुच्चय टीका 49.168.

4. "गमणनिमित्तं धर्मम्" नियमसार 30.

5. "निष्क्रियाणिच" त. सू. 5.7

6. स.सि. 5.7.539.

उत्पादादि द्रव्य के लक्षण घटित होते हैं। इनमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है तथापि अन्य प्रकार से उत्पाद है, क्योंकि उत्पाद दो प्रकार का है- स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। प्रत्येक द्रव्य में आगम के अनुसार अनंत अगुरुलघुगुण स्वीकार किये हैं जिनका षटस्थानपति हानि और वृद्धि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से होता है। इसी प्रकार परप्रत्यय का भी उत्पाद आदि होता रहता है। जैसे ये धर्मादि द्रव्य गति आदि के कारण होते हैं, इनके गति स्थिति आदि में क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है अतः इनका कारण भिन्न-भिन्न होना चाहिये। इस प्रकार धर्मादि द्रव्य में परप्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद व्यय है¹ और जो उत्पाद व्यय युक्त है वह द्रव्य है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें निष्क्रिय होने के कारण स्वभाव पर्याय ही पायी जाती है, विभाव पर्याय नहीं। स्वभाव पर्याय में परिणमन पर द्रव्यों की अपेक्षा से रहित होता है और जो परिणमन स्कंध रूप से होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है।² विभाव परिणमन जीव और पुद्गल में पाया जाता है।

धर्मास्तिकाय की उपयोगिता:—जीव तथा पुद्गल दोनों ही इस लोकाकाश में इधर से उधर भ्रमण करते हैं। स्थूल गति क्रिया तो इन्द्रियग्राह्य है, परन्तु सूक्ष्म गति क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती। सूक्ष्म और स्थूल इन दोनों ही गतिक्रिया में धर्म सहायक बनता है। धर्मास्तिकाय को मानने के दो कारण हैं:—

1. गति का सहयोगी कारण एवं
2. लोक अलोक की विभाजक शक्ति

अगर धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता तो जीव और पुद्गल की गति अव्यवस्थित होती। जीवादि सभी पदार्थों के अस्तित्व युक्त को लोक कहते हैं। जहाँ जीवादि का संपूर्ण अभाव हो वह अलोक है। अगर जीव पुद्गल को बहिरंग निमित्त धर्मादि न मिले तो अलोक में उनके गमन को रोका नहीं जा सकता। धर्मास्तिकाय के कारण ही गतिव्यवस्था नियंत्रित होती है और

1. स.सि. 5.7.539.

2. नियमसार 28

लोक अलोक के मध्य विभाजक रेखा भी बनती है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व पृथक् है, अतः भिन्न हैं, पर दोनों एक ही क्षेत्रावगाही होने के कारण अविभक्त भी हैं। साथ ही संपूर्ण लोक में गति आदि में अनुग्रह करते हैं अतः लोकप्रमाण भी है। भगवती के अनुसार लोक के तीनों भागों का धर्मास्तिकाय स्पर्श करता है। अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से अधिक भाग को तिर्यग्लोक असंख्येय भाग को, ऊर्ध्वलोक कुछ कम धर्मास्तिकाय के आधे भाग का स्पर्श करता है।² भगवती में गौतम स्वामी पूछते हैं कि धर्मास्तिकाय द्वारा जीवों के क्या गतिविधि होती है? भगवान कहते हैं— धर्मास्तिकाय द्वारा ही जीवों के आगमन, गमन, उन्मेष, (नेत्र खोलना) मनोयोग, वचनयोग, और काययोग की प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त भी जितने चलभाव हैं वे सब धर्मास्तिकाय द्वारा प्रवृत्त होते हैं। धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिरूप है।³

गति में उदासीन सहायता धर्म द्रव्य का लक्षण है, परंतु यह स्वयं प्रेरित नहीं करता। जैसे बिजली के तार बिजली को, रेल की पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करती अपितु उदासीन भाव से सहायक मात्र होती है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी उदासीन सहायक मात्र बनता है।

धर्मास्तिकाय जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। किसी भी दर्शन में धर्मास्तिकाय संबंधी चिंतन चर्चा आंशिक भी उपलब्ध नहीं होती।

प्रमेय कमलमार्तण्ड के अनुसार अनेक द्रव्य की एक साथ प्रवृत्ति या गति होना ही धर्म द्रव्य की यथार्थता और द्रव्यता को प्रमाणित करता है। उनके अनुसार सभी जीवों और पुद्गल द्रव्यों की पृथक्-पृथक् गतियों के लिये एक सामान्य और आन्तरिक परिस्थिति पर निर्भर होना अनिवार्य है। जैसे एक तालाब के पानी से असंख्य मछलियों की गति निर्भर करती है।⁴

जिस प्रकार स्वयं चलने में समर्थ लंगड़े को लाठी सहारा देती है या दर्शन समर्थ नेत्र को दीपक का सहारा होता है उसी प्रकार स्वयं गति परिणत जीवों को व पुद्गलों को धर्म गति में सहायता प्रदान करता है। लंगड़े व्यक्ति

1-2. पं. का. गाथा 87

3. भगवती 13.4.24

4. प्रमेयकमल मार्तण्ड परि. 4.10 पृ. 623

को लाठी न तो गति में प्रेरणा देती है, न कर्ता बनती है और न दर्शन शक्ति के अभाव में दीपक दर्शन की शक्ति उत्पन्न कर सकता है, लाठी और दीपक तो मात्र सहयोगी बनते हैं।¹

जिस गति सहायक पदार्थ को जैन दर्शन ने धर्मास्तिकाय कहा, आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप उसी से मिलते हुए द्रव्य को विज्ञान ने “ईथर” कहा है।

18वीं/19वीं शताब्दि में भौतिक विज्ञानवेत्ताओं के सामने एक बात स्पष्ट हो गयी कि यदि प्रकाश की तरंगों का अस्तित्व है तो उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये जैसे पानी सागर की तरंगों को पैदा करता है और हवा उन कंपनों को जन्म देती है जिन्हें हम ध्वनि कहते हैं। जब यह लगा कि प्रकाश शून्य से भी होकर विचरण करता है, तब वैज्ञानिकों ने “ईथर” तत्व की कल्पना की, जो उनके अनुसार समस्त आकाश और ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

बाद में फ़ैरेडे ने एक अन्य प्रकार के “ईथर” की कल्पना की जो विद्युत् एवं चुंबकीय शक्तियों का वाहक माना गया। अन्ततः यह “ईथर” की निश्चित और स्पष्ट मान्यता मेक्स्वेन वैज्ञानिक के बाद सिद्धांत रूप में स्वीकार कर ली गयी। उन्होंने प्रकाश को “विद्युत् चुंबकीय विकोभ” (Electromagnetic disturbance) के रूप में मान्यता दी। अब ईथर का स्वरूप और अस्तित्व निश्चित सा हो गया।²

अमेरिकन भौतिक विज्ञानवेत्ता ए.ए. माइकेलसन और ई. डब्ल्यू मोरले ने क्लीवलेण्ड में सन् 1881 में ईथर के संबन्ध में एक भव्य परीक्षण किया।

उस परीक्षण के पीछे उनका तर्क था कि यदि संपूर्ण आकाश केवल ईथर का गतिहीन सागर है तो ईथर के बीच पृथ्वी का ठीक उसी तरह पता लगना चाहिये और पैमाइश होना चाहिये जैसे नाविक सागर में जहाज के वेग नापते हैं। नाविक जहाज की गति का माप सागर में लट्ठा फेंककर और उससे बंधी रस्सी की गांठों के खुलने पर नजर रखकर लगाते हैं। अतः मोरले और माइकेलसन ने लट्ठा फेंकने की क्रिया की। यह लट्ठा प्रकाश

1. त.वा. 5.17.24.463

2. डॉ. आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड-लिकन वारनेट पृ 42

की किरण के रूप में था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर में फैलता है तो इसकी गति पर पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पड़ना चाहिये। विशेष तौर पर पृथ्वी की गति की दिशा में फेंकी गयी प्रकाश किरण में ईथर की धारा से उसी तरह हल्की बाधा पहुँचनी चाहिये, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पड़ता है। इसमें अंतर बहुत थोड़ा होगा क्योंकि प्रकाश का वेग एक सेकण्ड में 1,86,284 मील है जबकि सूर्य के चारों ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रतिसेकण्ड होता है। अतएव ईथर धारा को विपरीत दिशा में फेंके जाने पर प्रकाश किरण की गति 1,86,264 मील होनी चाहिए और सीधी दिशा में फेंकी जाय तो 1,86,304 मील। इन विचारों को मस्तिष्क में रखकर माइकेलसन और मोरले ने एक यंत्र का निर्माण किया।

इस यंत्र की सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुँची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग में प्रति सैकण्ड एक-एक मील के अंतर को भी अंकित कर लेता था। इस यंत्र को उन्होंने व्यतिकरण मापक (Interferometer) नाम दिया। कुछ दर्पण इस तरह लगाये हुए थे कि एक प्रकाश किरण को दो भागों में बांटा जा सकता था और एक ही साथ दो दिशा में उन्हें फेंका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित किया कि संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। इसका निष्कर्ष सरल भाषा में यह रहा कि प्रकाश किरणों के वेग में चाहे वे फेंकी गयी हो, कोई अंतर नहीं पड़ता।'

आइंस्टीन के अनुसार:—इस निष्कर्ष से वैज्ञानिक जगत में हलचल प्रारंभ हो गयी क्योंकि इस निष्कर्ष से भी अधिक मान्य कोपरनिकस सिद्धांत को, जिसमें यह सिद्ध किया था कि “पृथ्वी स्थिर नहीं, गतिशील है” को छोड़े या ईथर सिद्धांत को।

बहुत से भौतिक विज्ञान वेत्ताओं को यह लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है बनिस्पत इसके कि तरंगे, प्रकाश तरंगे, विद्युत चुंबकीय तरंगे बिना किसी सहारे के अस्तित्व में रह सकती हैं। इन्हीं विभिन्न मतधाराओं के कारण पच्चीस वर्ष पर्यंत एक मत नहीं बन पाया। नयी कल्पनाएँ हुई, परीक्षण हुए, परंतु निष्कर्ष यही रहा कि “ईथर” में पृथ्वी

1. जैन दर्शन और अनेकांत:- युवाचार्य महाप्रज्ञ पृ. 25-26

का प्रत्यक्ष वेग शून्य है।

ईथर प्रकाश की गति को प्रभावित नहीं करता इसलिये आइंस्टीन ने उसके अस्तित्व का निरसन किया। परंतु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि गति नियामक तत्व के अभाव में पदार्थ अनंत में भटक जाते और एक दिन वर्तमान विश्व प्रकाश शून्य हो जाता।

‘ईथर’ के विषय में भौतिक विज्ञानवेत्ता डॉ. ए.एस. एडिंगटन लिखते हैं: Now a days it is agreed that **ETHER** is not a kind of matter, being non material, its properties are quite unique characters such as mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in **ETHER** but the **ETHER** will have new definite characters of its own non material ocean of **ETHER**.

आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि “ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है। भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है। भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा, परंतु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे।”²

प्रोफेसर जी.आर. जैन M.S.C. धर्म और ईथर की तुलना करते हुए लिखते हैं: "Thus it is proved that science and Jain Physics agree absolutely so far as they call Dharm (**ETHER**) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space in divisible and as a necessary medium for motion and one which does not itself move."

अर्थात् यह सिद्ध हो गया है कि “विज्ञान और जैन दर्शन दोनों यहाँ तक एकमत है कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड आकाश के समान व्यापक गति में अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।”

वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत यह ‘ईथर’ गति तत्व का ही दूसरा नाम है। ईथर संबंधी ये सारी मान्यताएँ मध्ययुगीन वैज्ञानिक युग से संबंधित है।

1. डॉ. आइंस्टीन और ब्रह्माण्ड पृ. 43-46.

2. The nature of the Physical world p. 31

अगर धर्मास्तिकाय की कल्पना नहीं होती तो पुद्गल और जीव की गति में निमित्त कौन होता? क्योंकि जीव और पुद्गल तो स्वयं उपादान कारण है। हवा स्वयं गतिशील है तो पृथ्वी, पानी लोक में सर्वत्र व्याप्त नहीं है। अतः हमें ऐसी शक्ति की अपेक्षा है जो स्वयं गतिशून्य और संपूर्ण लोक में व्याप्त हो, साथ ही अलोक में नहीं।'

अधर्मास्तिकाय का स्वरूप एवं लक्षणः—अधर्मास्तिकाय वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श रहित है अर्थात् अरूपी, अजीव, शाश्वत, लोक प्रमाण है एवं जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक तत्व है।² उत्तराध्ययन सूत्र में भी अधर्म को स्थिति लक्षण वाला सूचित किया है।³

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार भी जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन सहायक को अधर्मास्तिकाय कहा है।⁴

श्री पूज्यपाद ने अधर्मास्तिकाय का उदाहरण देते हुए बताया कि जिस प्रकार घोड़े को ठहरने में पृथ्वी साधारण निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को ठहरने में अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है।⁵

लघु द्रव्य संग्रह के अनुसार स्थित होते जीवों और पुद्गलों को जो स्थिर होने में सहकारी कारण हैं उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं, जैसे छाया यात्रियों को स्थिर होने में सहकारी है, परंतु वह गमन करते जीव और पुद्गल को स्थिर नहीं करती।⁶

षड्दर्शन समुच्चय की टीका में भी अधर्मास्तिकाय के इसी लक्षण को पुष्ट किया है।⁷ अधर्मास्तिकाय का अपना कोई स्वतंत्र कार्य नहीं है। स्थूल रुकना तो स्पष्ट दृष्टि गत होता है, परंतु सूक्ष्म स्थिति तो दृष्टिगत होती नहीं है। परंतु सूक्ष्म ठहरना पदार्थ के मुडने के समय होता है। चलता-चलता ही पदार्थ यदि मुडना चाहे तो उसे मोड पर जाकर क्षणभर ठहरना पड़ेगा।

1. प्रज्ञापना वृ.प. 1

2. भगवती 2.10.2. एवं ठाणांग 5.171

3. अधम्मो ठाण लक्खणो उत्तरा. 28.9

4. त. सू. 5.17

5. स.सि. 5.17.599

6. लघु द्रव्य संग्रह 9

7. षड्दर्शन समुच्चयटीका 49.169

यद्यपि रुकना दृष्टिगत नहीं हुआ पर होता अवश्य है। इस सूक्ष्म तथा स्थूल रूकने में जो सहायक तत्व हैं, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं।¹

इस पर से यह न समझे कि जो सदा सर्वदा से रूका हुआ है उसमें भी अधर्मास्तिकाय का सहयोग है। अधर्मास्तिकाय उसे सहयोग करती है, जो चलते-चलते ठहरे। जो चलता ही नहीं, उसे ठहराने का प्रश्न ही नहीं है। जैसे आकाश चलता ही नहीं तो उसे ठहराने का प्रश्न ही नहीं है।

पंचास्तिकाय में कुंदकुंदाचार्य के अनुसार न धर्मास्तिकाय गमन करता है और न अधर्मास्तिकाय स्थिर करता है। जीव और पुद्गल स्वयं अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं।²

फिर प्रश्न होता है कि तब धर्म और अधर्म को मानने का क्या कारण है? इसका समाधान अमृतचंद्राचार्य देते हैं। उनके अनुसार “अगर धर्म और अधर्म गति और स्थिति के मुख्य हेतु मान लिये जाय तो जिन्हें गति करनी है, वे गति ही करेंगे और जिन्हें स्थिति रखनी है वे स्थिति ही रखेंगे। दोनों गति और स्थिति एक पदार्थ में नहीं पायी जाती जबकि गति और स्थिति दोनों ही एक धर्म में पाये जाते हैं। अतः अनुमान है कि ये व्यवहारनय द्वारा स्थापित उदासीन कारण है।”³

अधर्मास्तिकाय की उपयोगिता:—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा भगवन्! अधर्मास्तिकाय से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान ने कहा—अगर अधर्मास्तिकाय नहीं होता तो जीव खड़ा कैसे होता? बैठना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, निस्पंद होना, करवट लेना आदि जितने भी स्थिर भाव है, वे अधर्मास्तिकाय के कारण है।⁴

सिद्धसेन दिवाकर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्वतंत्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते, वे इन्हें द्रव्य की पर्याय मात्र स्वीकार करते हैं।⁵

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व की सिद्धि:— प्रश्न होता है आकाश

1. पदार्थ विज्ञान : जिनेद्र वर्णी पृ. 190

2. पं. का. 89

3. पं. का. ता. वृ. 89.

4. भगवती 13.4.25

5. “प्रयोगविस्साकार्म, तद्भाविस्थितिस्तथा। लोकानुभाववृतात, किं धर्माधर्मयोः फलं. नि. द्वा. 24

सर्वगत है, अतः उसे ही गति और स्थिति में सहायक मान लेना चाहिये। अलग से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को मानने की क्या तुक है? इसका समाधान है कि आकाश धर्म और अधर्म सभी का आधार है। जैसे नगर समस्त भवनों का आधार है। आकाश का उपकार अवगाहन निश्चित है तो उसके अन्य उपकार नहीं माने जा सकते, अन्यथा तरलता और उष्ण गुण भी पृथ्वी के मान लेने चाहिये। अगर आकाश को गति और स्थिति का सहायक माना जाय तो जीव और पुद्गल की गति अलोकाकाश में भी होनी चाहिए और तब लोक और अलोक की विभाजन रेखा ही समाप्त हो जायेगी। लोक से भिन्न अलोक का होना तो अनिवार्य हैं, क्योंकि वह "अब्राह्मण" की तरह नञ्युक्त सार्थक पद है।

जिस प्रकार मछली की गति जल में ही संभव है, जल रहित पृथ्वी पर नहीं, उसी तरह आकाश की उपस्थिति होने पर भी धर्म अधर्म हो तो जीव और पुद्गल की गति और स्थिति हो सकती है।¹

यदि आकाश से ही धर्माधर्म का कार्य लिया जाता है तो सत्व गुणों से ही प्रसार और लाघव की तरह रजोगुण के शोष और ताप तथा तमोगुण के सादन और आवरण रूप कार्य हो जाना चाहिये। शेषगुणों का मानना निरर्थक है। इसी तरह सभी आत्माओं में एक चैतन्यतत्व समान है, तब एक ही आत्मा माननी चाहिये, अनंत नहीं। बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कंध मानते हैं। यदि एक में ही अन्य के धर्मों को माना जाय तो विज्ञान के बिना अन्य स्कंधों की प्रतीति नहीं होती, अतः एक विज्ञान स्कंध ही मानना चाहिये। उसी से सारे कार्य संपन्न हो जायेंगे। और शेष स्कंधों की निवृत्ति होने पर निरावलंबन विज्ञान की भी स्थिति नहीं रहेगी और तब सर्वशून्यता उत्पन्न हो जायेगी। अतः व्यापक होने पर भी आकाश में गति और स्थिति के उपकारक धर्म अधर्म की योग्यता नहीं मानी जा सकती।²

धर्म और अधर्म चूँकि अमूर्त होने के कारण दृष्टिगत नहीं होते, परंतु इससे खरविषाण की तरह इनकी अनुपलब्धि नहीं माननी चाहिये क्योंकि ऐसी स्थिति में तीर्थंकर, पुण्य, पाप आदि सभी पदार्थों का अभाव हो जायेगा।

1. तत्त्वार्थराजवाक्यिक 5.17 20-22 पृ. 462

2. वही 5.17 23. पृ. 463

साथ ही उपलब्धि प्रसिद्ध हैं, क्योंकि तीर्थंकर परमात्मा आदि द्वारा प्रणीत आगमों में धर्म और अधर्म की उपलब्धि होती है। अनुमान से भी गति और स्थिति में साधारण निमित्त के रूप में उपलब्धि होती है।¹

यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि जिस प्रकार ज्ञानादि आत्मपरिणाम और दही आदि पुद्गलपरिणामों की उत्पत्ति परस्पराश्रित हैं, उसके लिये धर्म और अधर्म जैसे किसी अतीन्द्रिय द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। अकलंक उनके समाधान में कहते हैं- ज्ञानादि पर्यायों की उत्पत्ति के लिए “काल” नामक साधारण बाह्य कारण की आवश्यकता है उसी तरह धर्म और अधर्म की भी गति और स्थिति के लिये आवश्यकता है।²

अमूर्त होने से ही धर्म और अधर्म का अभाव नहीं किया जाता क्योंकि अमूर्त प्रधान अहंकार (सांख्य के अनुसार) आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष के भोग में निमित्त होता है, विज्ञान अमूर्त होकर भी नाम रूप की उत्पत्ति का कारण होता है (बौद्ध)। अदृष्ट अमूर्त होकर भी पुरुष के उपभोग और साधनों में निमित्त होता है, उसी तरह धर्म और अधर्म भी अमूर्त होने पर भी गति और स्थिति में साधारण निमित्त माने जाने चाहिये।³

इस प्रकार अगर धर्म और अधर्म की मान्यता नहीं होती तो शुद्धात्मा आज तक उड़ान ही भरती रहती और उसकी इस अनंत यात्रा का कभी अंत नहीं होता। क्योंकि आकाश का कहीं अंत नहीं है, परंतु धर्म और अधर्म के अस्तित्व के कारण मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाती है क्योंकि गतिसहायक धर्मास्तिकाय की अलोक में अनुपस्थिति है और ग्रह उपग्रह आदि का परस्पर घर्षण भी अधर्मास्तिकाय के कारण संभव नहीं है क्योंकि अपनी ही परिधि में निरंतर भ्रमणशील इनका संतुलन अधर्मास्तिकाय स्थापित कर देता है।

आकाशास्तिकाय का लक्षण और स्वरूप:-अस्तिकाय में तीसरा अस्तिकाय द्रव्य आकाशास्तिकाय है। ठाणांग में इसका विवेचन और लक्षण इस प्रकार बताया है। आकाशास्तिकाय अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श, अरूप, अजीव, शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अंशभूत द्रव्य है।

1. त. रा.वा. 5.17.28. 464

2. वही 5.17.36.465

3. वही 5.17.41.466

द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्य है, क्षेत्र की अपेक्षा लोक तथा अलोक प्रमाण है। काल की अपेक्षा अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों में शाश्वत है। भाव की अपेक्षा अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। गुण की अपेक्षा अवगाहन गुण वाला है।¹

उत्तराध्ययन में भी आकाश के अवगाहन गुण को ही पुष्ट किया है।²

यहाँ प्रबुद्ध वर्ग में एक समस्या उभर सकती है कि हम आकाश कहे किसे? जो हमें नीला, पीला दिखायी देता है, वह आकाश है? परंतु नीला पीला तो आकाश हो नहीं सकता, क्योंकि आकाशास्तिकाय का लक्षण तो अवर्ण है तथा अमूर्त्त है। वह तो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। यह सर्दी/ गर्मी जो कुछ हमें प्रतीत होता है वह वायु की है, आकाश की नहीं। यह वायु आकाश में व्याप्त है। सुगंध/दुर्गन्ध आदि पुद्गल स्कंधों की हैं, आकाश की नहीं। नीला पीला दीखता है ये भी वायु मंडल में तैरने वाले क्षुद्र अणुओं के रंग हैं और सूर्य की किरणों को प्राप्त करके इस रंग में रंग जाते हैं।

वैशेषिक³ शब्द को आकाश का गुण मानते हैं और इसे सिद्ध करने के प्रयास भी करते हैं, परंतु शब्द आकाश का गुण न होकर पौद्गलिक है। क्योंकि 'वैशेषिकोनेजोहेतु उपस्थित किये हैं, वे असिद्ध हैं।' शब्द आकाश का गुण न होकर पुद्गल का गुण है क्योंकि अनेक पुद्गलों के टकराने से शब्द उत्पन्न होता है और वायुमण्डल में एक कंपन विशेष उत्पन्न करता है।

हमारे चारों ओर जो भी खाली जगह (Vaccum) दिखायी देती है, वही आकाश है, जिसे अंग्रेजी भाषा में space कहा जाता है। Sky और Space में अंतर है। Sky तो वह है जो पुद्गल के रूप में विवेचित किया है अर्थात् रंगबिरंगा दिखता है।⁴

आकाश का उपकार है—धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल को अवगाह देना।⁶

1. टाणांग 5.172 एवं भगवती 2.10.4

2. भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाह लक्खणं, उत्तराध्ययन 28.9

3. वैशेषिक सूत्र 22.1.27, 29-32 एवं तत्र आकाशस्य गुणाः शब्द संख्यपरिमाणं पृथक्त्वं संयोग विभागा..... प्रशस्त भा.पृ. 23-25.

4. स्याद्वादमंजरी 14 पृ. 127-128.

5. पदार्थ विज्ञान पृ. 167 ले. जिनेद्र वर्णी

6. सभाष्यतत्त्वार्थसिद्धिगम सूत्र 5.18 पृ. 262

धर्म और अधर्म आकाश का अवगाहन करके रहते हैं, यह एक औपचारिक प्रयोग है। हंस जल का अवगाहन करके रहता है, इस तरह का मुख्य प्रयोग नहीं है। आधार और आधेय में जहाँ पौर्वापर्य संबंध हो, वह मुख्य प्रयोग होता है। संपूर्ण लोकाकाश और धर्म और अधर्म की व्याप्ति है।¹

धर्मास्तिकायादिको अवगाहन देने वाला लोकाकाश है,² परंतु आकाश का अपना कोई आधार नहीं है, क्योंकि आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः अनंत यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। आकाश का आधार अन्य, फिर उसका कोई अन्य आधार मानने में अनवस्था होती है।³

एवंभूतनय की दृष्टि से सारे द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं। इनमें आधार आधेय भाव नहीं है। व्यवहार नय से आधार आधेय की कल्पना होती है। व्यवहार से ही वायु का आकाश, जल का वायु, पृथ्वी का जल, सभी जीवों का पृथ्वी, जीव का अजीव, अजीव का जीव, कर्म का जीव और जीव का कर्म, धर्म, अधर्म तथा काल का आकाश आधार माना जाता है। परमार्थ से तो वायु आदि समस्त स्वप्रतिष्ठित है।⁴

धर्म और अधर्म को भी आकाश ही अवगाहन देता है, परंतु इनमें पौर्वापर्य संबंध नहीं है, जैसा कुण्ड और बोर में है। इनका संबंध शरीर और हाथ जैसा है। हाथ और शरीर में आधार आधेय भाव हैं फिर भी न तो पूर्वापरिकाल हैं, न युतसिद्धि। दोनों युगपत् उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध होते हैं।⁵

धर्म और अधर्म तिलों में तैल की तरह सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके रहता है।⁶

अवगाह दो प्रकार का माना गया है-पुरुष के मन की तरह और दूसरा दूध में पानी की तरह अथवा जैसे आत्मा संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही धर्म और अधर्म भी संपूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके रहते हैं।⁷

1. त. रा. वा. 5.18.2.466

2. लोकाकाशेवगाहः त.सू. 5.12

3. त. रा. वा. 5.12 2-4, 454

4. वही 5.12.5, 6,454, 55

5. वही 5.12.8.9. 455

6. त.सू. 5.13

7. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र 5.13.257

जीव और पुद्गल तो जिस प्रकार से जल में हंस अवगाहन करता है, वैसे ही लोकाकाश में करते हैं। ये अल्पक्षेत्र और असंख्येय भाग को रोकते हैं और क्रियावान् हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। अतः इनके अवगाहन में संयोग और विभाग द्वारा आकाश उपकार करता है।”¹

धर्म और अधर्म के अनादिसंबंध और अयुतसिद्धत्व के विषय में अनेकांत हैं। पर्यायार्थिकनय की गौणता और द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता होने पर व्यय और उत्पाद नहीं होता और पर्यायार्थिकनय की मुख्यता और द्रव्यार्थिकनय की गौणता होने पर सादिसंबंध और युतसिद्धत्व हैं क्योंकि आकाश भी द्रव्य है और इस अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होना इसका लक्षण है।²

आकाश द्रव्यों से अनन्य है और द्रव्य आकाश से अनन्य है:—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, तथा काल लोक से अनन्य है और लोक इन पाँचों द्रव्यों से अनन्य है। लोक के बिना अवशिष्ट पाँचों द्रव्यों का अस्तित्व नहीं है और लोकाकाश भी इनसे रहित नहीं होता।³ धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों अस्तिकायों का एक क्षेत्रावगाही और समान परिमाण वाले होने के कारण एकत्व है। फिर भी इन तीनों के लक्षण भिन्न हैं। और भिन्न हैं, अतः अन्यत्व भी है।⁴

अन्य द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, परंतु आकाश अनंतप्रदेशी है।⁵

रिक्त स्थान को आकाश कहते हैं। यद्यपि इस खाली जगह में वायु होने के कारण वायुमंडल कहा जाता है, परंतु वायु और आकाश अलग-अलग हैं। वायु जिसमें रहती है, संचार करती है, वह आकाश है। ऊपर अंतरिक्ष जहाँ आज के भेजे गये वैज्ञानिक यंत्र स्पूतनिक आदि घूम रहे हैं वहाँ वायु नहीं है, परंतु आकाश अवश्य है। जिस खाली जगह में ये वैज्ञानिक उपकरण घूम रहे हैं वह आकाश है।

चतुष्टयी की अपेक्षा लोकः—लोक सादि है या अनादि एवं लोक सांत है या अनंत! इस संबंध में स्कंदक को जिज्ञासा हुई। वे महावीर के पास पहुँचे

1. सभाष्यतत्त्वार्थसिद्धिगम सूत्र 5.18.262

2. त. रा. वा. 5.18.5.466, 67

3. पं. का. 91

4. पं. का. 96

5. “लोयालोयप्पमाणमेते अणते चैव” भगवती 2.10.4 एवं “आकाशस्यानंताः” त. सू. 5.9

और इस संबंध में समाधान चाहा। भगवान् ने कहा- “लोक चार प्रकार का है- द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक।

द्रव्यलोक की अपेक्षा:—लोक एक है और अंतवाला है।

क्षेत्रलोक की अपेक्षा:—असंख्य कोड़ाकोड़ी योजन तक लंबा है, असंख्य कोड़ाकोड़ी परिधि वाला है, फिर भी सांत है।

काल की अपेक्षा:—भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में शाश्वत है। ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित, अव्यय, और नित्य है।

भावलोक की अपेक्षा:—अनंत वर्णपर्यायरूप, गंधपर्यायरूप, रस पर्यायरूप और स्पर्श पर्यायरूप है। इसी प्रकार अनंतसंस्थान पर्यायरूप, अनंतगुरुलघुपर्यायरूप, एवं अनंतअगुरु लघुपर्यायरूप है। इसका अंत नहीं है।

इस प्रकार द्रव्यलोक एवं क्षेत्रलोक अन्तसहित है, काल एवं भावलोक अंतरहिता¹।

आकाशास्तिकाय के भेद:—भगवती एवं ठाणांग के अनुसार आकाश दो प्रकार का है- लोकाकाश और अलोकाकाश²।

लोकाकाश और अलोकाकाश में क्या भिन्नता है? तब भगवान् ने कहा लोकाकाश में जीव, जीव के देश और जीव के प्रदेश हैं। अजीव भी है। अजीव के देश और अजीव के प्रदेश भी है। उन जीवों में नियमतः एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय है। अजीव भी रुपी और अरुपी दोनों है। रुपी के स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणुपुद्गल इस प्रकार चार भेद हैं। जो अरुपी है उनके पाँच भेद-धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, और धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय है।³

अलोकाकाश में न जीव है न अजीवप्रदेश है। वह एक अजीवद्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनंत अगुरुलघुगुणों से संयुक्त है। अनंतभागकम सर्वाकाशरूप है।⁴

1. भगवती 2.1.24

2. “दुबिहे आगेसे पण्णते तं जहा- लोयागासे य अलोयागासे य” भगवती 2.10.10 ठाणांग 2.152

3. भगवती 2.10.11

4. भगवती 2.10.12

यह अलोकाकाश न तो धर्मास्तिकाय से, न अधर्मास्तिकाय से, न आकाशास्तिकाय से स्पष्ट है। आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश से ही स्पष्ट है। पृथ्वीकाय अथवा अद्वाकाल से भी स्पष्ट नहीं है।¹ जबकि लोक धर्मास्तिकाय से एवं उसके प्रदेश से स्पष्ट है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय से एवं उसके प्रदेश से स्पष्ट है। आकाशास्तिकाय के देश और प्रदेश से स्पष्ट है। पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पृथ्वीकायादि से वनस्पति तक स्पष्ट है। त्रसकाय से कथंचित् स्पष्ट है कथंचित् स्पष्ट नहीं है। (जब केवली समुद्घात करते हैं, तब चौथे समय में वे अपने आत्मप्रदेशों से समग्र लोक को व्याप्त कर लेते हैं। केवली त्रसकाय के अंतर्गत आते हैं।) अद्वासमय देश से स्पष्ट होता भी है और नहीं भी।² (अद्वाकाल अढाई द्वीप में ही है, आगे नहीं।)

बृहद्द्रव्यसंग्रह के अनुसार जो धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल को अवकाश दे, वह लोकाकाश और उस लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश है।³

लोक का विवेचन बौद्ध मत में:—आचार्य वसुबंधु ने लोक के संबंध में इस प्रकार मंतव्य स्पष्ट किया है—

“लोक के अधोभाग में सोलह लाख योजन ऊँचा अपरिमित वायुमंडल है।⁴ उसके ऊपर 11 लाख 20 हजार योजन ऊँचा जल मंडल है। उसमें तीन लाख बीस हजार योजन कंचन मय भूमण्डल है।⁵ जल मंडल और कंचन मंडल का विस्तार 12 लाख 3 हजार 450 योजन तथा परिधि 36 लाख 10 हजार 350 योजन प्रमाण है।⁶

कंचनमय वायुमंडल के मध्य में मेरु पर्वत है। यह 80 हजार योजन नीचे जल में डूबा हुआ है तथा इतना ही ऊपर निकला हुआ है।⁷ इससे आगे 80 हजार योजन विस्तृत और दो लाख चालीस हजार योजन प्रमाण परिधि से संयुक्त प्रथम समुद्र है जो मेरु को घेर कर अवस्थित है। इससे

1. प्रज्ञापना 15.1.1005
2. प्रज्ञापना 15.1.1002
3. बृहद् द्रव्य संग्रह 22.
4. अभिधर्मकोष 3.45
5. अभिधर्मकोष 3.46
6. अभिधर्मकोष 3.47, 48
7. अभिधर्मकोष 3.50

आगे चालीस हजार योजन विस्तृत युगंधर पर्वत बलयाकार से स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार से एक-एक समुद्र को अन्तरित करके आधे-आधे विस्तार से संयुक्त क्रमशः युगंधर, ईशाधर, खदीरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निर्मिधर पर्वत है। समुद्रों का विस्तार उत्तरोत्तर आधा-आधा होता गया है।'

उक्त पर्वतों में से मेरू चतुरलमय, शेष सात स्वर्णमय है। सबसे बाहर अवस्थित महासमुद्र का विस्तार तीन लाख बाईस हजार योजन प्रमाण है। अंत में लौहमय चक्रवाल पर्वत स्थित है।

निर्मिधर और चक्रवाल पर्वतों के मध्य में जो समुद्र स्थित है उसमें जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय अर उत्तरकुरु ये चार द्वीप हैं। इनमें जम्बूद्वीप मेरू के दक्षिण भाग में है। उसका आकार शकट के समान है। उसकी तीन भुजाओं में से दो भुजाएँ दो-दो हजार योजन की और एक भुजा तीन हजार पचास योजन की है।²

जम्बूद्वीप में उत्तर की ओर बने कीटादि और उनके आगे हिमवान् पर्वत अवस्थित है। हिमवान् पर्वत से आगे उत्तर में पाँच सौ योजन विस्तृत अनवतप्त नाम का अगाध सरोवर है। इससे गंगा, सिंधु, वक्षु और सीता ये चार नदियाँ निकली हैं। इस सरोवर के समीप जंबूवृक्ष है। इससे इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है।³

नरकलोकः—जम्बूद्वीप के नीचे बीस हजार योजन विस्तृत अवीचि नरक है। उसके ऊपर क्रमशः प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीव नाम के सात नरक और हैं।⁴

ज्योतिर्लोकः—मेरू पर्वत की भूमि से चालीस हजार योजन ऊपर चन्द्र और सूर्य परिभ्रमण करते हैं। चन्द्रमण्डल का प्रमाण पचास योजन और सूर्य मण्डल का प्रमाण इक्यावन योजन है। जिस समय जम्बूद्वीप में मध्याह्न होता है, उस समय उत्तरकुरु में अर्धरात्रि, पूर्वविदेह में अस्तगमन और अवरगोदानीय में सूर्योदय होता है।⁵

1. अभिधर्मकोष 3.51., 52

2. गणितानुयोग भूमिका पृ. 83

3. अभिधर्मकोष 3.57

4. अभिधर्मकोष 3.58

5. अभिधर्म कोष 3.60

भाद्र पद मास के शुक्ल पक्ष की नवमी से रात्रि की वृद्धि और फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की नवमी से उसकी हानि प्रारंभ होती है। रात्रि की वृद्धि दिन की हानि और दिन की वृद्धि रात्रि की हानि होती है। सूर्य के दक्षिणायन में रात्रि की वृद्धि और उत्तरायण में दिन की वृद्धि होती है।¹

स्वर्गलोकः—मेरू के शिखर पर स्वर्गलोक है। इसका विस्तार अस्सी हजार योजन है। यहाँ पर त्रायस्त्रिंश देव रहते हैं। इसके चारों विदिशाओं में वज्रपाणि देवों का निवास है।²

त्रायस्त्रिंश लोक के मध्य में सुदर्शन नामक नगर है। वह सुवर्णमय है। इसका एक-एक पार्श्व भाग ढाई हजार योजन विस्तृत है। इसके मध्य भाग में इंद्र का अढाई सौ योजन विस्तृत वैजयंत नामक प्रासाद है। नगर के बाहरी भाग में चारों ओर चैत्ररथ, पारुष्य, मिश्र और नंदनवन ये चार वन हैं।³ त्रायस्त्रिंश लोक के ऊपर विमानों में देव रहते हैं। कुछ देव मनुष्यों की तरह कामसेवन करते हैं और कुछ क्रमशः आर्लिगन, हस्तमिलाप, हसित और दृष्टि द्वारा तृप्ति प्राप्त करते हैं।⁴

बौद्ध और जैन मत में विवेचित लोक की तुलनाः—बौद्धों ने दस लोक माने हैं- नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और छः देवलोक।⁵ प्रेतों को जैनों ने देवों के अन्तर्गत माना है। (इसका विवेचन जीवास्तिकाय में हम कर आये हैं।) प्रेतलोक को देवयोनि के अन्तर्गत मानने पर नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव चार लोक ही सिद्ध होते हैं। जैन इसे चार गति के रूप में स्वीकार करते हैं।

बौद्धों ने प्रेतयोनि की पृथक् योनि मानकर पाँच योनियाँ स्वीकार की है।⁶

वैदिक धर्मानुसार लोक वर्णनः—विष्णु पुराण के द्वितीयांश के द्वितीयाध्याय में बताया गया है कि इस पृथ्वी पर जम्बू, लक्ष, शाल्भल, कुश, क्रोंच, शाक और पुष्कर नाम वाले सात द्वीप हैं। ये सभी चूड़ी के समान गोलाकार और क्रमशः सात समुद्रों से वेष्टित हैं। इन सभी के मध्य जंबू द्वीप है। इसका

1. अभिधर्मकोष 3.61

2. अभिधर्मकोष 3.65

3. अभिधर्मकोष 3.66.67

4. अभिधर्मकोष 3.39

5. "नरक प्रेत तिर्यको मानुषाः षड् दिवीकसः" अभिधर्मकोष 3.1

6. "नरकादिस्वनालोका गतयः पञ्च तेषु ताः" अभिधर्मकोष 3.4

विस्तार एक लाख योजन है। इसके मध्य भाग में 84 हजार योजन ऊँचा स्वर्णमय मेरुपर्वत है। इसकी नींव पृथ्वी के भीतर 16 हजार योजन है। मेरु का विस्तार मूल में 16 हजार योजन है, फिर क्रमशः बढ़कर शिखर पर 32 हजार योजन हो गया है।¹

आगे जाकर हिमवान आदि छः वर्ष पर्वतों से इस जंबूद्वीप के सात भाग हो जाते हैं।

मेरु पर्वत के पूर्वादिक दिशाओं में क्रमशः मंदर, गंधमादन, विपुल और सुपाश्व नाम वाले चार पर्वत हैं। इनके ऊपर क्रमशः 1100 योजन ऊँचे कदम्ब, जम्बू, पीपल और वटवृक्ष हैं। इनमें से जम्बूवृक्ष के नाम से यह जम्बूद्वीप कहलाता है।²

जंबूद्वीप के इन पर्वतों द्वारा भी सात भाग होते हैं- भारतवर्ष, किम्पूरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु।³

इन सात क्षेत्रों में से मात्र जंबूद्वीप में ही काल परिवर्तन होता है। किंपुरुषादिक में काल परिवर्तन नहीं होता। यहाँ के निवासियों को किसी प्रकार के शोक, परिश्रम, क्षुधा आदि की बाधा नहीं होती। स्वरूप-सुखी, आतंक रहित इनका जीवन होता है। यह भोगभूमि है। यहाँ पर पाप आदि भी नहीं है। स्वर्ग, मुक्ति, आदि की प्राप्ति के लिये की जाने वाली तपश्चर्या व्रतादि भी यहाँ नहीं है। मात्र भारतवर्ष के लोग ही मुक्ति आदि को पाने का प्रयास कर सकते हैं।⁴ यहाँ के लोग असि, मषि आदि कर्म करते हैं, अतः यह कर्मभूमि भी कहलाती है। यह सभी क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र माना गया है।⁵

इस भूमण्डल के नीचे दस-दस हजार योजन के सात पाताल हैं। यहाँ उत्तम भवनों से युक्त भूमियाँ हैं तथा दानव, दैत्य, यक्ष और नाग आदि यहाँ

1. विष्णु पुराण द्वितीयांश द्वितीय अध्याय श्लोक 5.9
2. विष्णु पुराण द्वितीयांश द्वितीयांश द्वितीय अध्याय श्लोक 17-19
3. विष्णु पुराण द्वितीयांश द्वितीय अध्याय श्लोक 10-15
4. "कर्मभूमिरयं स्वर्ग मपवर्गच गच्छताम्" अग्निपुराण अध्यायन 2 गाथा 118
5. उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमादेश्च दक्षिणम्। बर्षं तद्भारतं नाम, भारती यत्र संतति। नवयोजनसाहस्रो, विस्तारोस्य महामुने। कर्मभूमिरियं स्वर्ग मपवर्गच गच्छताम्॥ अतः संप्राप्यतिस्वर्गो, मुक्तिमस्मात् प्रायन्ति वै। तिर्यक्त्वं नरकं चापि, यान्यतः पुरुषामुने॥ इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च, मध्यं चान्तश्च गम्यते। तत्सत्त्वन्वत्र मर्यानां, कर्मभूमौ विधीयते॥" विष्णुपुराण द्वितीयांश का तीसरा अध्यायन गा. 19.22.

रहते हैं।¹

पाताल के नीचे विष्णु भगवान का शेष नामक तामस शरीर स्थित है, जो अनंत कहलाता है। यह शरीर सहस्र फणों से संयुक्त होकर समस्त पृथ्वी को धारण करके पाताल मूल में स्थित है। कल्पांत के समय इसके मुँह से निकली संकर्षात्मक रुद्र विषाग्नि-शिखा तीनों लोकों का भक्षण करती है।²

नरकलोकः—पृथ्वी और जल के नीचे रौरव, सूकर रौध, लाल विशासन महाज्वाल, इत्यादि नाम वाले अनेक महान भयानक नरक है। पापी जीव मृत्यु पाकर इन नरकों में जन्म ग्रहण करते हैं।³ नरक से निकलकर ये जीव क्रमशः स्थावर कृमि, जलचर, मनुष्य, देव आदि होते हैं। जितने जीव स्वर्ग में हैं, उतने ही जीव नरक में भी है।⁴

ज्योतिर्लोकः—भूमि से एक लाख योजन की दूरी पर सौर मण्डल है। इससे एक लाख योजन ऊपर नक्षत्र मण्डल, इससे दो लाख योजन ऊपर बुध, इससे दो लाख योजन ऊपर शुक्र, इससे दो लाख योजन ऊपर मंगल, इससे दो लाख योजन पर बृहस्पति, इससे दो लाख योजन पर शनि, इससे एक लाख योजन पर सप्तर्षिमण्डल तथा इससे एक लाख योजन ऊपर ध्रुवतारा है।⁵

महर्लोक (स्वर्गलोक)—ध्रुव से एक योजन ऊपर महर्लोक है। वहाँ कल्पकाल तक जीवित रहने वाले कल्पवासियों का निवास है। इससे दो करोड़ योजन ऊपर जनलोक है। यहाँ नन्दनादि से युक्त ब्रह्माणी के पुत्र रहते हैं। इससे आठ करोड़ योजन ऊपर तपलोक है, जहाँ वैराज देव निवास करते हैं। इससे बारह करोड़ योजन ऊपर सत्य लोक है, यहाँ कभी न मरने वाले अमर रहते हैं। इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। भूमि और सूर्य के मध्य में सिद्धजनों और मुनिजनों से सेवित स्थान भुवन लोक कहलाता है। सूर्य और ध्रुव के मध्य चौदह लाख योजन प्रमाण क्षेत्र स्वर्लोक नाम से प्रसिद्ध है।⁶

1. विष्णुपुराण दि. अ. पंचम अध्याय गा. 2.4
2. विष्णुपुराण दि. अ. पंचम अध्याय 93-96
3. विष्णुपुराण दि. अ. पंचम अध्याय गा. 1-6.
4. विष्णुपुराण दि. अ. पंचम अध्याय गा. 34.
5. विष्णुपुराण द्वितीय अंश सप्तम अध्याय गा. 2-9.
6. विष्णुपुराण द्वितीय अंश षष्ठम अध्याय 12-18.

समीक्षा:—वैदिक और जैन दर्शन द्वारा मान्य लोक के विवेचन में समानता और असमानता दोनों हैं। वैदिक दर्शन भोगभूमि और कर्मभूमि मानता है और जैन भी। द्वीपों में समानता और असमानता दोनों हैं। समुद्र, क्षेत्र, पर्वत आदि की अपेक्षा से भिन्नता भी है और समानता भी।¹

भारत वर्ष को दोनों ने कर्मभूमि मानते हुए सर्वश्रेष्ठ भूमि बताया है।

लोक के भेद प्रभेद:—क्षेत्रलोक तीन प्रकार का होता है- अधोलोक क्षेत्रलोक, तिर्यक्लोक क्षेत्रलोक एवं ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक।²

अधोलोक क्षेत्रलोक सात प्रकार का है:—रत्नप्रभापृथ्वी, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभापृथ्वी अधोलोक

तिर्यक्लोक क्षेत्र लोक:—यह असंख्यात प्रकार का है।³ इसमें जंबूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभनामवाले समुद्र हैं।⁴ लोक में जितने भी शुभनाम हैं, उन सभी नामों वाले वे द्वीप समुद्र हैं। जम्बूद्वीप से स्वयंभूरमण पर्यंत असंख्यात द्वीप समुद्र इस तिर्यक्क्षेत्रलोक में हैं।⁵

वे सभी द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने व्यासवाले पूर्व पूर्व द्वीप और समुद्र को वेष्टित करने वाले और चूड़ी के आकार वाले हैं।⁶ अर्थात् इन द्वीप और समुद्रों का विस्तार और रचना नगरों की तरह न होकर उत्तरोत्तर वे द्वीप और समुद्र एक दूसरे को घेरे हुए हैं।⁷

उन सभी के बीच गोल और लाख योजन विस्तार युक्त जम्बूद्वीप है जिसके मध्य में नाभि की तरह मेरु पर्वत स्थित है।⁸ जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं और उन सात क्षेत्रों में एक भरत क्षेत्र भी है।⁹ (जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार इसी भरतक्षेत्र के हम निवासी हैं।) इस भरत क्षेत्र का विस्तार

1. गणितानुयोग प्रस्तावना पृ. 88.

2. भगवती 11.10.3 एवं त.सू. 3.1

3. भगवती 11.10.

4. त.सू. 3.7

5. स.सि. 3.7.379.

6. "द्विद्विविष्मन्माः पूर्व पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः.. त.सू. 3.8

7. स.सि. 3.8.381

8. त.सू. 3.9

9. त.सू. 3.10

पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन का छह बटा उन्नीस भाग है।¹

इस भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह समयों की अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है। (इसका विवेचन काल के अन्तर्गत किया जायेगा।) इसका तात्पर्य यह नहीं कि क्षेत्र की न्यूनाधिकता होती है, अपितु इस क्षेत्र के निवासियों की आयु, अनुभव, प्रमाण आदि की अपेक्षा से हानि वृद्धि होती है।

ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोकः—ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक पन्द्रह प्रकार का होता है। सौधर्मकल्प ऊर्ध्वलोक से लेकर अच्युतकल्प क्षेत्रलोक, प्रैवेयक, अनुत्तर विमान, एवं ईषत्प्राग्भारपृथ्वी ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक पर्यंत ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक होता है।²

प्रशमरति में लोक का विवेचन इस प्रकार उपलब्ध होता है। यह लोक पुरुष है। अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर दो पैर फैलाकर खड़े पुरुषाकार की तरह है।³ लोक को कुल चौदह रज्जु प्रमाण बताया है। सुमेरू पर्वत के तल से नीचे सात रज्जु प्रमाण अधोलोक बताया है और तल के ऊपर से सात रज्जु ऊर्ध्वलोक बताकर कुल चौदह रज्जु प्रमाण लोक बताया है। मध्यलोक की ऊंचाई को ऊर्ध्वलोक में शामिल किया है। क्योंकि सात रज्जु प्रमाण के क्षेत्रफल में एक लाख चालीस योजन का क्षेत्रफल ठीक उसी प्रकार महत्व रखता है, जैसे पर्वत की तुलना में राई।⁴

अब हम यह समझें कि रज्जु का माप क्या है? क्योंकि यह भी जैन दर्शन का अपना विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। रज्जु से तात्पर्य रस्सी नहीं है। अपितु तीन करोड़ इक्यासी लाख सत्ताईस हजार नौ सौ सत्तर मण वजन का एक भार और ऐसे हजार भार का अर्थात् अड़तीस अरब बारह करोड़ उन्नासी लाख सत्तर हजार मण वजन का एक लोहे का गोला छः माह, छः दिन, छः प्रहर और छह घड़ी में जितनी दूरी तय करे, उतनी दूरी को एक रज्जु कहते हैं।⁵

संस्थान के प्रकारः—जिस प्रकार से लोकरचना का विश्लेषण किया उसी

1. त.सू. 3.24 (दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य)
2. भगवती 11.10.6
3. प्रशमरति गा. 210.
4. कातिकेयानुप्रेक्षा गा. 127.
5. गणितानुयोग संपादकीय पृ. 6.

प्रकार उसके आकार का भी विवेचन किया।

अधोलोक का संस्थान किस प्रकार का है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न पर भगवान महावीर ने कहा- अधोलोक क्षेत्रफल का संस्थान तिपाई के समान है। तिर्यग् लोक क्षेत्रलोक का आकार झालर के आकार का है। अधोलोक के क्षेत्रलोक का आकार मृदंग के समान है।¹

लोक का संस्थान सकोरे के आकार का है। वह नीचे से चौड़ा, ऊपर से मृदंग जैसा है। प्रशमरति में उमास्वाति ने भी लोक की आकृति इसी प्रकार से बताया है। अधोलोक का आकार सकोरे के समान (ऊपर संक्षिप्त नीचे विशाल), तिर्यक्लोक आकार थाली के जैसा है एवं ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े रखे गये सकोरे के ऊपर उलटे रखे गये सकोरे के जैसा है।²

अलोक का संस्थान पोले गोले के समान है।³ भगवती में व्याख्याकार ने लोक का प्रमाण इस प्रकार से बताया है, “सुमेरु पर्वत के नीचे अष्टप्रदेशी रुचक है। उसके निचले प्रतर के नीचे नौ सो योजन तक तिर्यग्लोक है। उसके आगे अधः स्थित होने से अधोलोक हैं जो सात रज्जु से कुछ अधिक है तथा रुचक प्रदेश की अपेक्षा नीचे और ऊपर नौ सो-नौ सो योजन तिरछा होने से तिर्यग्लोक है। तिर्यग्लोक के ऊपर कुछ कम सात रज्जु प्रमाण ऊर्ध्वभागवर्ती होने से ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्व और अधोदिशा में कुल ऊँचाई चौदह रज्जु है।⁴

जैन दर्शन की तरह विज्ञान जगत ने भी आकाश को स्वीकार किया है। डा. हेनसा के अनुसार:-

"These four elements (Space, Matter, Time and Medium of motion) are all separate in mind. We can not imagine that the one of them could depend on another or converted into another."

आकाश, पुद्गल, काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारों तत्व हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न है। हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि ये

1. भगवती 11.10.1. एवं वही 7.1.5

2. प्रशमरति प्रकरण 2.11

3. भगवती 11.10.11

4. भगवती 11.10.11 पृ. 53

परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहते हों या एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हों। इससे जैन दर्शन के इस सिद्धांत की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते हैं और कोई द्रव्य किसी द्रव्य में द्रव्यांतर नहीं करता।¹ जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित।² इसकी पुष्टि वैज्ञानिक एडिंग्टन ने भी की है:—

"The World is closed in space dimensions. I shall use the phrase arrow to express this one way properly which has on analogue in space,"

दिक् आयामों में ब्रह्माण्ड परिबद्ध है। एक दिशता को ठीक प्रकार से प्रस्तुत करने के लिए मैं तीर संकेत (मुहावरे) को प्रयुक्त करूंगा, जिसका दिक् में कोई सादृश्य नहीं है।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन, डी. सीटर पोइनकेर आदि की लोक अलोक के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। इन मान्यताओं एवं सिद्धांतों का समन्वय कर देने पर जैन दर्शन में वर्णित लोकालोक का स्वरूप स्वतः फलित होने लगता है।

आइंस्टीन के सिद्धांतानुसार विश्व बेलनकार, वक्र, एकबद्ध आकार को धारण करने वाला व सांत है। जैन दर्शन भी लोक आकाश को वक्र तथा सांत मानता है। आइंस्टीन के मंतव्यानुसार समस्त आकाश स्वयं शांत और परिबद्ध है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार समस्त आकाश द्रव्य तो अनंत, असीम और अपरिमित है, मात्र लोकाकाश सांत व बद्ध है। क्योंकि लोकाकाश में व्याप्त धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय सांत परिमित तथा बद्धाकार वाले हैं। इस कारण लोक भी सांत परिमित तथा बद्धाकार वाला हो जाता है।³

आइंस्टीन के विश्व व्यापक सिद्धांत में समस्त आकाश अवगाहित है, परंतु डच ज्योतिर्वैज्ञानिक "डी. सीटर" ने इसे स्वीकार नहीं किया है। शून्य (पदार्थ रहित) आकाश की विद्यमानता को संभावित सिद्ध किया है।⁴

1. जैन प्रकाश 22.12.68 पृ. 56 ले. कन्हैयालाल लोढा

2. "आगासं वज्जिता सब्बे लोगम्मि चेव णत्थि बहिं" गो.जी. 583.

3. जैन प्रकाश 22.12.68 पृ. 56 ले. कन्हैयालाल लोढा

4. फ्रेम युक्लीड टू एडिंग्टन पृ. 126.

इस प्रकार जहाँ आइंस्टीन का विश्व आकाश संपूर्ण रूप में अवगहित है, वहाँ डी. सीटर का विश्वाकाश संपूर्ण रूप में अवगहित शून्य है। जैन दर्शन लोकाकाश को अवगाहित मानता है और अलोकाकाश को अगाहित शून्य। इससे यह कहा जा सकता है कि विश्व समीकरण में मूलभूत पद लोक आकाश का व परिवर्द्धित पद अलोक आकाश का सूचक है। आइंस्टीन का विश्व लोकाकाश है और डी. सीटर का विश्व अलोकाकाश। इन दोनों के विश्व का समन्वित रूप जैन दर्शन के विश्व लोकालोकाकाश में अभिव्यक्त होता है।¹

विश्व की वक्रता के विषय में विश्व समीकरण के हल वैज्ञानिकों के सामने यह समस्या खड़ी कर देते हैं कि वक्रता धन है अथवा ऋण? धन वक्रता वाला सांत और बद्ध तथा ऋण वक्रता वाला विश्व अनंत और खुला पाया जाता है। आइंस्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है, अतः सांत और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की संभावना भी विश्व समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और वक्रता के आधार पर क्रमशः “सांत और बद्ध” तथा “अनंत और खुले” विश्व की संभावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश की ऋण मानने पर जैन दर्शन का विश्व सिद्धांत पुष्ट हो सकता है। लोकाकाश का आकार धन वक्रता वाला है, यह क्षेत्रलोक के गणितिक विवेचन से स्पष्ट है। अलोकाकाश का आकार इससे स्वतः ऋण वक्रता वाला हो जाता है। इस प्रकार जैन सिद्धांत धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले विश्व सिद्धांत का समन्वय है।²

आकाश को सांत माना है, फिर भी हम उसकी सीमा को नहीं पा सकते। इस सिद्धांत को ‘पोइन्केर’ ने स्पष्ट किया है-“अपना विश्व एक अत्यंत विस्तृत गोले के समान है और विश्व में उष्णतामान का विभागीकरण इस प्रकार हुआ है कि गोले के केन्द्र में उष्णतामान अधिक है और गोले की सतह की ओर क्रमशः घटता हुआ विश्व की सीमा (गोले के अंतिम सतह) पर वह वास्तविक शून्य को प्राप्त होता है। सभी पदार्थों का विस्तार उष्णतामान के अनुपात से होता है। अतः केन्द्र की ओर से सीमा की ओर हम चलेंगे तो हमारे शरीर का तथा जिन पदार्थों के पास से हम गुजरेंगे, उन पदार्थों

1. जैन प्रकाश 22.12.68 पृ. 56 ले. कन्हैयालाल लोढा

2. जैन भारती 15 मई 1966

का भी विस्तार क्रमशः घटना प्रारंभ हो जायेगा, परंतु हमें इस परिवर्तन का कोई अनुभव नहीं होगा। यद्यपि हमारा वेग वही दिखेगा, परंतु वस्तुतः वह घट जायेगा और हम कभी सीमा तक नहीं पहुँच पायेंगे। अतः यदि अनुभव के आधार पर कहें तो हमारा विश्व अनंत है, परंतु वस्तु वृत्त्या हम अंत को पा नहीं सकते। हमारी पहुँच एक सीमा तक है, उसके बाद आकाश अवश्य है, परंतु हमारी पहुँच से बाहर है।”

पोइनेकर ने यह बताने का प्रयास किया है कि हमारे विश्व के उष्णतामान का विभागीकरण इस प्रकार है कि ज्यों-ज्यों हम सीमा के समीप जाने का प्रयत्न करते हैं, त्यों त्यों हमारे वेग में और विस्तार में कमी होती है। परिणामतः हम सीमा को प्राप्त नहीं कर सकते। ठाणांग में आये सूत्र को हम इससे जोड़ सकते हैं—“लोक के सब अंतिम भागों में अबद्ध, पार्श्व, स्पष्ट, पुद्गल होते हैं। लोकांत तक पहुँचते ही सब पुद्गल स्वभाव से ही रुक्ष हो जाते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संगठित नहीं हो सकते, इसलिये लोकांत से आगे पुद्गलों की गति नहीं हो सकती। यह एक लोक स्थिति है।”

रुक्षत्व परमाणुओं का मूलगुण माना गया है। कुछ प्रमाणों के आधार पर यह एक प्रकार का (ऋण अथवा धन) विद्युत् आवेश हो ऐसा लगता है। पोइनेकर के अभिमत को यदि जैन दर्शन के विवेचित सिद्धांत का केवल शब्दांतर ही माना जाय तो अबद्ध, पार्श्व, स्पष्ट, पुद्गल का अर्थ वास्तविक शून्य तापमान वाले पुद्गल हो सकता है। कुछ भी हो, दोनों उक्तियों के बीच साम्य है। यह स्पष्ट है कि पोइनेकर ने आकाश की सांतता और परिमितता के अंतर को स्पष्ट करने के लिये उक्त विचार दिया है, जबकि जैन दर्शन ने लोकाकाश की सांतता और अलोकाकाश में गति स्थिति अभाव के कारण के रूप में उक्त तथ्य बताया है।³

भाव यह है कि आधुनिक विज्ञान जैन दर्शन में वर्णित आकाश के स्वरूप को स्वीकार करता है तथा दोनों में समानता भी है।

लोकालोक का पौर्वापर्यः—आर्य रोह ने पूछा -भगवन्! प्रथम लोक और

1. दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियालिटी पृ. 163 तथा फाउंडेशन्स ऑफ साइंस पृ. 175
2. “सर्ववसु वि णं लोगत्तेपु अबद्ध पासपुट्टा पोग्गला लुक्खताए केज्जति जेण, जीवा य पोग्गला य णो संचायति बहिया लोगंता गमणयाए-एवंपेगा लोगट्ठिति पण्णता” ठाणांग 0.10
3. जैन भारती 15 मई, 1966

फिर अलोक बना या प्रथम अलोक फिर लोक बना। भगवान् ने कहा-रोह! ये दोनों शाश्वत हैं। इनमें पहले पीछे का क्रम संभव नहीं है।¹

आकाशास्तिकाय द्रव्य से जीवों और अजीवों पर क्या उपकार होता है? गौतम स्वामी ने महावीर से पूछा। भगवान् ने कहा-आकाशास्तिकाय से ही तो पाँचों द्रव्य आधार प्राप्त करते हैं। आकाश में ही तो धर्म अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं। जीवों को अवगाहन भी आकाश देता है। काल भी आकाश में ही बरतता है। पुद्गलों का रंगमंच भी आकाश बना हुआ है।²

दिक्:-

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिशा कहलाती है।³

अनुदिशा और दिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है। दिशा का प्रारंभ आकाश के दो प्रदेशों से शुरु होता है। उनमें दो-प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारंभ चार प्रदेशों से होता है। बाद में उनमें वृद्धि नहीं होती।⁴

आचारांग का प्रारंभ ही दिशा की विवेचना के साथ हुआ है। आचारांग में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः दिशाओं का नामोल्लेख प्राप्त होता है।⁵

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिये पूर्व 'जिस तरफ अस्त होता है; वह पश्चिम दिशा है। दाहिने हाथ की ओर दक्षिण बाईं ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप दिशा कहा जाता है।⁶

निमित्त कथन आदि प्रयोजन के लिये दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होता है उसे पूर्व, उसके पृष्ठ भाग में पश्चिम दोनों ओर दक्षिण तथा उत्तर दिशा होती हैं, इन्हें प्रज्ञापक दिशा कहते हैं।⁷

1. भगवती 1.6.17,18

2. भगवती 13.4.25

3. दिश्यते व्यपदिश्यते पूर्वाधितया वस्तवनयेति दिक्-स्या. वृत्ति 3.3

4. आचारांग निर्युक्ति 42.44

5. आचारांग 1.1.1

6. आचारांग निर्युक्ति 47.48

7. आचारांग निर्युक्ति 51.

जैन दर्शन के अनुसार स्वतंत्र द्रव्य आकाश की दिशा एक काल्पनिक विभाग है।

ठाणांग में दिशाएं छ हैं¹ एवं एक अपेक्षा से दिशाएं दस हैं- पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, पश्चिम-उत्तर, उत्तर, उत्तर-पूर्व, ऊर्ध्व, अधस्।²

दो दिशाओं के मध्य कोने में होने से विदिशा दो दिशा के संयुक्त नाम से भी पुकारी जाती है।

न्याय वैशेषिक और आकाशः—जैन दर्शन की मान्यतानुसार आकाश का विवेचन करने के पश्चात् हम देखेंगे कि अन्य भारतीय दर्शनों ने आकाश को किस प्रकार से विश्लेषित किया है।

वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, आत्मा और मन को द्रव्य माना है। इन द्रव्यों के अन्तर्गत आकाश को भी स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मान्यता दी है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार इनके अन्दर शरीरधारी और अशरीरी वस्तुओं का समावेश हो जाता है।³

आकाश सर्वव्यापक बृहत्तम विस्तार युक्त है।⁴ आकाश सर्वव्यापक होते हुए भी शब्द का उत्पादक है।⁵

आकाश एक सकाम, निरंतर, स्थायी, तथा अनंत द्रव्य है। यह शब्द का अधिष्ठान है। यह रंग, गंध, और स्पर्श से रहित है। अपनयन की प्रक्रिया द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि शब्द आकाश का विशिष्ट गुण है।⁶ यह निष्क्रिय है। समस्त भौतिक द्रव्य इसके साथ संयुक्त माने जाते हैं।⁷ परमाणु अत्यंत सूक्ष्म हैं। परमाणु एक दूसरे के पास आकर या संयुक्त होकर किसी बड़े पदार्थ का निर्माण नहीं करता। वे एक दूसरे से अलग रहते हैं फिर भी किसी प्रकार से मिलकर एक व्यवस्था को स्थिर रखते हैं तो मात्र आकाश

1. ठाणांग 6.37

2. ठाणांग 10.31

3. भारतीय दर्शन भाग 2 डा. राधाकृष्णन् पृ. 187

4. प्रशस्तपादकृत पदार्थ धर्म संग्रह पृ. 22

5. तर्कदीपिका पृ. 14

6. वैशेषिकदर्शन 2.1.27.29.31

7. न्यायसूत्र 4.2.21.22

के कारण। परमाणु परस्पर संयुक्त होते हैं। परंतु निरंतर नहीं। वह जो परमाणुओं को परस्पर संयुक्त किये रहता है, आकाश है, परंतु यह आकाश परमाणुओं द्वारा निर्मित नहीं है। आकाश नित्य है, सर्वत्र उपस्थित है, इन्द्रियातीत है, जोड़ने तथा पृथक् करने के व्यक्तिगत गुण रखता है। स्वयं देश न होने पर भी समस्त देश को पूर्ण करता है।¹

पाँचों तत्वों का मिश्रण ही प्रकृति है जो हमारे सामने आती है। इनमें आकाश भी एक तत्व है, जिसका गुण एकमात्र शब्द है।² शब्द गुण का आश्रय दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। शब्द आकाश का अनुमापक भी है। आकाश विभु है।³

जैन दर्शन भी आकाश को सर्वगत, नित्य, व्यापक, रूप, रस, गंध और स्पर्श रहित मानता है, परंतु शब्द को पुद्गल मानता है न कि आकाश का गुण। आज विज्ञान ने रेडियो, टी.वी. आदि द्वारा शब्द तरंगों को पकड़कर स्थानांतरित करके यह सिद्ध भी कर दिया है।

सांख्य के अनुसार आकाशः—सांख्य प्रकृति के विकार मात्र को आकाश कहते हैं। प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से सोलह गुण- पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द पैदा होते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द इन्हें तन्मात्राएँ भी कहते हैं।⁴

इन पाँच तन्मात्राओं में से शब्द से आकाश की उत्पत्ति होती है।⁵ प्रत्यक्ष विषय रूप पाँच इन्द्रियों के अनुरूप पाँच तन्मात्राएँ हैं।⁶ ये भौतिक तत्व रूप हैं, परंतु साधारण प्राणियों के दृष्टि का विषय नहीं बनती। इन अदृश्य सारतत्वों का अनुमान दृश्यमान पदार्थों से होता है। तन्मात्राएँ तब तक इन्द्रियों के लिये उत्तेजक नहीं बनतीं जब तक कि वे परमाणुओं का निर्माण करने के लिये एक दूसरे में संयुक्त न हो जाय। तमोगुण निष्क्रिय एवं पुँज के अतिरिक्त सभी लक्षणों से रहित भी होता है। रजोगुण के सहयोग से यह परिवर्तित

1. भारतीय दर्शन: भाग 2 डॉ. राधाकृष्णन पृ. 192

2. न्यायसूत्र 3.1. 60.61

3. भारतीय दर्शन : डॉ. एन.के. देवराज पृ.326

4. षड्दर्शन समुच्चय का. 37.39

5. "स्वराश्रमः" षड्दर्शनसमुच्चय का. 40 एवं शब्द तन्मात्रादाकाश सा. कार्तिक मार्त. पृ. 37

6. भारतीय दर्शन भाग दो डा. राधाकृष्णन पृ. 269

होकर सूक्ष्म द्रव्य कम्पनशील तेजोमय और शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। भूतादि तथा तन्मात्राओं के मध्य आकाश संक्रमण की कडी बनता है। आकाश के दो भेद करते हैं—कारणाकाश और कार्याकाश। कारणाकाश आणविक नहीं है तथा सर्व व्यापक है। कार्याकाश आणविक है, जो भूतादि अथवा पुंज इकाईयों और शब्द के सारतत्वों के मेल से बना है। शब्द के सारतत्व कारणाकाश में रुके हुए रहते हैं तथा वायु के अणुओं के लिये विकास का माध्यम बनते हैं।¹ जैन दर्शन सांख्य की आकाश विवेचना से असहमत है। उसके अनुसार आकाश को प्रकृति का विकार मानना उचित नहीं है। नित्य और निष्क्रिय अनंत प्रकृति के आत्मा की तरह विकार हो नहीं सकता। आकाश का न आविर्भाव होता है न तिरोभाव। जिस प्रकार घड़ा प्रकृति का विकार होकर अनित्य, मूर्त और असर्वगत होता है, उसी तरह आकाश को भी होना चाहिये। या आकाश की तरह घट को नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिये। एक कारण से दो परस्पर अत्यंत विरोधी विकार नहीं हो सकते।

अद्वैत वेदान्त और आकाशः—यह मत द्वैत को स्वीकार नहीं करता। द्वैतपरक जगत केवल माया है। ब्रह्म एक ही है, अनेक जीवों में विभक्त होना प्रतीति मात्र है। आत्मा की तुलना सर्वव्यापी देश (आकाश) से की है। जीव की तुलना घड़े में सीमित देश (आकाश) के साथ की गयी है। जब ढंकेनेवाला बाह्य आवरण नष्ट हो जाता है तो सीमाबद्ध देश (घटाकाश) व्यापक देश (महाकाश) में मिल जाता है। भेद केवल ऐसे आनुषंगिक पदार्थों में रहते हैं जैसे आकृति, क्षमता, नाम। परंतु स्वयं व्यापक आकाश में यह भेद नहीं होता। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि सीमाबद्ध आकाश व्यापक आकाश का अवयव है या विकार है। ये दोनों एक ही हैं, भेद प्रतीति मात्र हैं।² इसी प्रकार जीव आत्मा का अवयव या विकार है ऐसा हम नहीं कह सकते। ये दोनों एक है, भेद प्रतीतिमात्र हैं, हाँ! व्यावहारिक भेद अवश्य है।³

“आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत का उपादान कारण माना है। इसी ब्रह्म से आकाशादि भूतप्रपंच की उत्पत्ति होती है।⁴ आकाश एक है, अनंत

1. पोजेटिव साइसेस ऑफ दी हिन्दूज सील उद्धृत भारतीय दर्शन भाग दो डा. राधाकृष्णन पृ. 269-70

2. त. रा. 5.18.13.468

3. भारतीय दर्शन भाग दो डा. राधाकृष्णन् पृ. 455

4. भारतीय दर्शन डा. एन.के. देवराज पृ. 495

है, लघु और सूक्ष्म है, क्रियारहित, सर्वव्यापक और सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ हैं।¹

जैन दर्शन वेदान्त की आकाश व्यवस्था से सहमत नहीं है क्योंकि चेतन से अचेतन तत्व कैसे उत्पन्न हो सकता है? आकाश शाश्वत और विभु है, फिर वह समय- विशेष में उत्पन्न कैसे माना जा सकता है? आकाश स्वयं स्वतंत्र और षड्द्रव्यों में से एक द्रव्य है।

बौद्ध मत और आकाश:—बौद्ध दर्शन के अनुसार तत्व चार हैं, पृथ्वी जो कठोर है, जल जो शीतल है, अग्नि जो उष्ण है, वायु जो गतिमान है। आकाश को वे नहीं मानते,² परंतु कई वाक्यों में निरपेक्ष आकाश को भी जोड़ देते हैं। बुद्ध का कहना था “हे आनंद! यह महान पृथ्वी जल पर आश्रित है, जल वायु पर आश्रित है और वायु आकाश पर आश्रित है”³।

आकाश का विवेचन एक अन्य अपेक्षा से भी आता है। “नागसेन! इस संसार में ऐसे प्राणी पाए जाते हैं जो कर्म के द्वारा इस जन्म में आये हैं, दूसरे ऐसे हैं जो किसी के परिणाम के रूप में आये हैं, परंतु दो वस्तुएँ ऐसी हैं जो इन दोनों की श्रेणी में नहीं आती- एक है आकाश और दूसरा है निर्वाण।”⁴

परन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक दो लोक मानते हैं और इनमें परस्पर भेद करते हैं-भाजनलोक जो वस्तुओं का आवास स्थान है और सत्वलोक जो जीवित प्राणियों का संसार है। भाजन लोक सत्वलोक की सेवा के लिये है।⁵

आकाश सभी प्रकार के भेद से स्वतंत्र एवं अनंत है। यह नित्य, सर्वव्यापक और भावात्मक पदार्थ है। यद्यपि इसका कोई रूप नहीं है फिर भी यह सत् है। यह भौतिक पदार्थ भी नहीं है।⁶

जैन दर्शन की मान्यता है कि आकाश आवरण भावमात्र नहीं है, किन्तु वस्तुभूत है। जिस प्रकार से नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण

1. शांकरभाष्य 2.3.7

2. भारतीय दर्शन भाग एक डा. राधाकृष्णन पृ. 350.

3. दीर्घनिकाय 207

4. मिलिन्द 4

5. भारतीय दर्शन भाग एक डॉ. राधाकृष्णन् पृ. 567-68

6. वही पृ. 568

रूप होकर भी सत् है। उसी प्रकार आकाश भी सत् है।¹

आकाशास्तिकाय की सिद्धि:—लोक की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है। जहाँ पुण्य पाप कर्मों का सुखदुःखरूप फल देखा जाता है, वह लोक है। इस व्युत्पत्ति में लोक का अर्थ हुआ— आत्मा एवं जो पदार्थों को देखे/जाने वह लोक अर्थात् आत्मा। इन दोनों ही व्युत्पत्तियों से जीव को ही लोकसंज्ञा प्राप्त होती है तथापि अन्य द्रव्यों को न तो अलोक कहा जायेगा और न छह द्रव्यों का समूह लोक। इसका विरोध होगा क्योंकि परम्परा में क्रिया व्युत्पत्ति का निमित्तमात्र होती है जैसे “गच्छतीतिगोः” इससे न तो सभी चलने वाले गाय बन जायेंगे और न बैठी गाय गाय रूप से मिट जायेगी। इसी तरह लोक शब्द की उपरोक्त व्युत्पत्ति करने पर भी धर्मादि द्रव्यों का लोकत्व नष्ट नहीं होता। आत्मा स्वयं के स्वरूप का लोकन करता है। और सर्वज्ञ बाह्य पदार्थों का एवं स्व स्वरूप का लोकन करता है।²

जो देखा जाय वह लोक, ऐसी व्युत्पत्ति करने में अलोक को भी लोक कहना चाहिये क्योंकि अलोक को भी सर्वज्ञ देखता है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि लोकसंज्ञा रूप है, व्युत्पत्ति मात्र निमित्त है अथवा यह समाधान भी होता है कि “जहाँ बैठ कर सर्वज्ञ देखे वह लोक” ऐसी व्युत्पत्ति करने में भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि अलोक में बैठकर तो केवली लोक को देखता नहीं है।³

आकाश उत्पन्न नहीं होता, अतः खरविषाण की तरह उसका अभाव है। इसका समाधान यह है कि आकाश को अनुत्पन्न कहना असिद्ध है क्योंकि द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की मुख्यता होने पर अगुरुलघु गुणों की वृद्धि और हानि के निमित्त से स्वप्रत्यय उत्पाद-व्यय और अवगाहक जीवपुद्गलों के परिणमन के अनुसार पर प्रत्यय आकाश में उत्पाद व्यय होते रहते हैं। जैसे कि अंतिम समय में असर्वज्ञता का विनाश हो कर किसी मनुष्य की सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहले अनुपलभ्य था वही बाद में उपलभ्य हो गया। अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट हो कर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमें पर प्रत्यय भी उत्पाद विनाश करते रहते हैं।⁴

1. त. रा. बा. 5.11.467-68

2. त. रा. बा. 5.12 10-14 455

3. त. रा. बा. 5.12 15-16 455-56

4. त. रा. बा. 5.18 10.467

काल द्रव्यः—जैन दर्शन षड् द्रव्य मानता है। काल चौथा अजीव द्रव्य है जिसका विवेचन यहाँ हम करने जा रहे हैं।

जैन दर्शन के श्वेतांबर दिगंबर दोनों ही परम्पराओं ने काल द्रव्य को स्वीकार तो किया है, परंतु काल द्रव्य की स्वतंत्रता पर मतभेद है।

जैन दर्शन में दो प्रकार की विचारधारा काल के संबंध में पायी जाती है:—

- (1) काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने वाली और
- (2) दूसरी विचारधारा काल को स्वतंत्र नहीं मानने वाली।

इन दो विचारधाराओं के बावजूद इसमें सभी एकमत हैं कि काल द्रव्य अवश्य है।

प्रथम विचारधारा के समर्थक कुंदकुंदाचार्य, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंदी, नेमीचन्द्र एवं आगमों में भगवती और उत्तराध्ययन हैं एवं द्वितीय विचारधारा के समर्थक ठाणांग, जीवाभिगम, आचार्यों में उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि आदि हैं। अब इन दोनों विचारधाराओं का एवं काल के स्वरूप का हम विवेचन करेंगे।

ठाणांग के टिप्पण के¹ अनुसार काल वास्तविक द्रव्य नहीं है, वह औपचारिक द्रव्य है। वस्तुतः वह जीव और अजीव का पर्याय है। इसलिये उसे जीव और अजीव दोनों कहा है।²

पंचास्तिकाय में कुंदकुंदाचार्य ने काल की दूसरी विचारधारा को ही पुष्ट किया है। काल परिणाम से उत्पन्न होता है और परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। काल क्षणभंगुर भी है और नित्य भी।³

इसे अमृतचंद्राचार्य ने विशेष स्पष्ट किया है। व्यवहार काल जीव और पुद्गल के द्वारा स्पष्ट होता है और निश्चयकाल जीव पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा (जीव और पुद्गल के परिणाम अन्यथा नहीं बन सकते इसलिये) निश्चित होता है।

1. ठाणांग टिप्पण नं. 122 पृ. 140

2. ठाणांग 2.387

3. पंचास्तिकाय वृत्ति 100.

काल नित्य और क्षणिक क्यों और कैसे हैं? इसे भी कुंदकुंदाचार्य ने स्पष्ट किया है। “काल” यह कथन सद्भाव का प्रेरक है, अतः नित्य है। (यह निश्चयकाल की अपेक्षा से हैं।) उत्पन्नध्वंसी व्यवहारकाल (यद्यपि क्षणिक हैं फिर भी) प्रवाह अपेक्षा से दीर्घ स्थिति युक्त भी कहा जाता है।¹”

कुंदकुंदाचार्य ने अगले श्लोक में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव की तरह काल को भी द्रव्य तो माना है, परंतु काय नहीं।² आचार्य उमास्वाति ने यद्यपि अजीव द्रव्यों के अन्तर्गत काल को नहीं गिनाया था, पर आगे जाकर उन्होंने सूत्र में ‘च’ शब्द का प्रयोग करते हुए काल को भी द्रव्य के रूप में मान्यता दे दी³। प्रवचनसार में कुंदकुंद ने स्पष्ट किया है कि एक समय में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य काल में सदा पाये जाते हैं। अतः कालाणु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।⁴

भाष्यकार अकलंक ने इसे “द्रव्य क्यों है?” इसका कारण भी बता दिया है। “उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्” और “गुणपर्यायवत् द्रव्यं” इन लक्षणों से युक्त होने से आकाश आदि की तरह काल भी द्रव्य है। काल में ध्रौव्यतो स्वप्रत्यय है ही क्योंकि वह स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहता है। व्यय और उत्पाद अगुरुलघुगुणों की हानि वृद्धि की अपेक्षा स्वप्रत्यय है तथा पर द्रव्यों में वर्तना हेतु होने से पर प्रत्यय भी है। काल में अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाये जाते हैं। व्यय और उत्पाद रूप पर्यायों भी काल में बराबर होती रहती हैं, अतः वह द्रव्य है।⁵

यहाँ एक अन्य प्रश्न और होता है कि अगर काल द्रव्य है तो उसे धर्म और अधर्म आदि के साथ क्यों नहीं स्पष्ट किया? पूज्यपाद ने इसका समाधान इस प्रकार दिया है - “अगर वहाँ काल द्रव्य का कथन करते तो इसे काययुक्त मानना पड़ता और कालद्रव्य में मुख्य अथवा उपचार दोनों रूप से प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। धर्मादि को मुख्यरूप से प्रदेशप्रचय कहा है और अणु को उपचार से। परंतु काल में दोनों नहीं है अतः काल काय नहीं है।

1. पं. का. 101

2. पं. का. 102

3. त. सू. 5.16

4. प्रवचनसार 143

5. त. रा. वा. 5.39 1-2 501

दूसरा समाधान यह है कि “निष्क्रियाणि च”¹ इस सूत्र द्वारा धर्म से लेकर आकाश तक के द्रव्य को निष्क्रिय कहने पर जैसे अवशिष्ट बचे जीव और पुद्गल को स्वतः सक्रियत्व प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार काल भी सक्रिय बनता।

आकाश से पहले भी काल को नहीं रख सकते। “आकाश तक एक द्रव्य है”² इस सूत्र के अनुसार अगर काल को आकाश से पहले रखते तो काल भी एक द्रव्य होता। इन सभी दोषों से बचने के लिए काल का अलग से ग्रहण किया गया है।³

काल का लक्षणः—उत्तराध्ययन में काल का लक्षण वर्तना बताया गया है।⁴

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने काल के लक्षण वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व माने है।⁵

वर्तना क्या है:—“प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्याय में प्रति समय जो स्वसत्ता की अनुभूति करता है, उसे वर्तना कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का अनुभव करता है। धर्मादि द्रव्य अपनी अनादि या आदिमान पर्यायों में उत्पाद व्ययध्रौवरूपसे परिणत होते रहते हैं। यही स्वसत्तानुभूत वर्तना है। सादृश्योपचार से प्रतिक्षण वर्तना ऐसा अनुगत व्यवहार होने से यद्यपि वह एक कही जाती है, पर वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी वर्तना अलग होती है।⁶

वर्तना का अनुमान हम इस प्रकार से लगा सकते हैं। जैसे चावल को पकाने के लिए बर्तन में डाला, वह आधा घण्टे में पक गया तो यह नहीं समझना चाहिये कि 29 मिनट तो वह ज्यों का त्यों रहा, मात्र अन्तिम समय में पक कर भात बन गया। उसमें प्रथम समय से ही सूक्ष्मरूप से पाकक्रिया प्रारंभ थी, यदि प्रथम समय में पाक न हुआ होता तो दूसरे तीसरे क्षणों में संभव ही नहीं हो सकता था और इस तरह पाक का अभाव हो जाता।⁷

1. त. सू. 5-7

2. त. सू. 5.6

3. स. सि. 5.39 602

4. उत्तराध्ययन सूत्र 28.10

5. “वर्तना परिणाम क्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य” त. सू. 5.22.

6. त. रा. वा. 5.22 4.477

7. त. रा. वा. 5.22.5.477

यह वर्तना लक्षण युक्त काल परमार्थ काल है।¹

द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलाने वाला काल है। अगर ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य हो जाता है, जैसे शिष्य पढ़ता है, उपाध्याय पढ़ाते हैं, यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है। पूज्यपाद इस आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि निमित्त मात्र में हेतुकर्ता रूप कथन (व्यपदेश) देखा जाता है "जैसे कंडे को अग्नि पकाती है" यहाँ कंडे की अग्नि निमित्तमात्र है, उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।²

परिणाम क्या है:—द्रव्य में अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्य से भिन्न नहीं है, फिर भी द्रव्यार्थिक की अविबक्षा और पर्यायार्थिक की प्रधानता में उसका व्यवहार पृथक् हो जाता है। परिणाम का तात्पर्य यही है कि अपनी मौलिक सत्ता को न छोड़ते हुए पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तरपर्याय का उत्पन्न होना ही परिणामन है।

परिणाम दो प्रकार का होता है—एक अनादि, दूसरा आदिमान। लोक की रचना, सुमेरु पर्वत आदि के आकार अनादि परिणाम है। आदिमान परिणाम दो प्रकार का है—एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। चेतन द्रव्य के औपशमिकादि भाव जो मात्र कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा से होते हैं, जिनमें पुरुषप्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वाभाविक परिणाम कहलाते हैं। ज्ञान, शील, भावना आदि गुरु के उपदेश से होते हैं। अतः ये प्रयोगज परिणाम है और मिट्टी आदि में कुम्हार द्वारा होने वाला अचेतन परिणामन प्रयोगज अचेतन परिणामन है। इन्द्रधनुष आदि परिणामन स्वाभाविक अचेतन परिणामन है।³

क्रिया क्या है:—बाह्य और आभ्यंतर निमित्तों से द्रव्य में होने वाला परिस्पंदात्मक परिणामन क्रिया है। वह दो प्रकार की है - प्रायोगिक और स्वाभाविक। बैलगाड़ी आदि में प्रायोगिक तथा बादल आदि में स्वाभाविक क्रिया होती है।⁴

1. "परमार्थकालो वर्तनालक्षण." स. सि. 5.22.569

2. स.सि. 5.22.569

3. त.वा. 5.22.10.477.78

4. रा. वा. 5.22.19.481 एवं स.सि. 5.22.569

परत्व तथा अपरत्व:—परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी हैं और गुणकृत भी। परत्व का तात्पर्य दूरवर्ती एवं अपर का समीपवर्ती कहा जाता है। (क्षेत्र की अपेक्षा) अहिंसा आदि प्रशस्त गुणों के कारण धर्म पर, अधर्म अपर कहा जाता है (गुणकृत की अपेक्षा से) कालकृत भी पर अपर होता है। जैसे सौ साल का वृद्ध पर और सोलह साल का युवक अपर है।¹

इन तीन परत्वापरत्व में से कालकृत परत्वापरत्व ही लिया जाना चाहिये।²

तर्क भाषा में भी परत्वापरत्व की चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें परत्व और अपरत्व को दो प्रकार से माना गया है - कालिक परत्व और कालिक अपरत्व तथा देशिक परत्व और देशिक अपरत्व। कालिक अर्थात् समय से संबंध रखने वाला तथा देशिक अर्थात् स्थान से संबंध रखने वाला। जैसे आयु का बड़प्पन काल का द्योतक होता है, अतः कालिक परत्व कहा जाता है। आयु में छोटेपन को कालिक अपरत्व कहा जाता है। इसी तरह देशिक परत्व तथा देशिक अपरत्व को समझा जा सकता है।

परिणाम के संबंध में कुछ तर्क:—कुछ शंकाकार यहाँ परिणाम जो कि काल का दूसरा लक्षण है, उसे लेकर प्रश्न करते हैं कि बीज अंकुर में है या नहीं? यदि है तो वह अंकुर नहीं कहा जा सकता, यदि नहीं है तो यह मानना होगा कि बीज अंकुर रूप से परिणत नहीं हुआ क्योंकि उसमें बीज स्वभावता नहीं है। इस प्रकार अस्तित्व-नास्तित्व दोनों पक्ष में दोष आयेगे।

अकलंक इसका समाधान करते हैं कि कथंचित् अस्तित्व नास्तित्व में दोषों का आगमन संभव नहीं है। सद असद् वाद नरसिंह की तरह जात्यंतर रूप है। इसे शालिबीजादि के उदाहरण द्वारा और भी स्पष्ट किया है। जैसे शालीबीजादि द्रव्यार्थिक दृष्टि से अंकुर में बीज हैं, यदि उसका संपूर्णतः विनाश हो गया होता तो शालि का अंकुर क्यों कहलाता? शालिबीज और शाल्यंकुर रूप पर्यायार्थिक दृष्टि से अंकुर में बीज नहीं है क्योंकि बीज का यदि परिणमन नहीं हुआ होता तो अंकुर कहाँ से आता?

बीज अंकुर से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो वह बीज का परिणमन नहीं कहा जा सकता। अगर अभिन्न है तो उसे अंकुर नहीं कह

1. रा. बा. 5.22. 22.481

2. "कालोपकारप्रकरणात् कालकृतेऽत्र परत्वा परत्वे गृह्येते" त.रा.बा. 5.22.22.481

सकते। कहा भी है-यदि बीज स्वयं परिणत हुआ है तो अंकुर बीज से भिन्न नहीं हो सकता; परंतु ऐसा नहीं है। अगर भिन्न है तो उसे अंकुर नहीं कह सकते इस प्रकार परिणाम नहीं बनता।'

इसका समाधान तत्त्वार्थवार्तिक में इस प्रकार उपलब्ध होता है - इसका समाधान भी स्याद्वाद में प्राप्त हो जाता है कि अंकुर की उत्पत्ति के पहले बीज में अंकुर पर्याय नहीं थी, बाद में उत्पन्न हुई। अतः पर्याय की दृष्टि से अंकुर बीज से भिन्न है और चूँकि शालिबीज की जातिवाला ही अंकुर उत्पन्न हुआ है, अन्य नहीं, अतः द्रव्य की दृष्टि से अभिन्न भी।

परिणाम माना जा सकता है, परंतु परिणाम में वृद्धि नहीं मानी जा सकती। यदि बीज अंकुर रूप से परिणत होता है तो दूध के परिणाम दही की तरह अंकुर को बीजमात्र ही होना चाहिये बड़ा नहीं। कहा भी है- यदि बीज अंकुरपने को प्राप्त होता है तो छोटे बीज से बड़ा अंकुर कैसे बन सकेगा? यदि पार्थिव और जलीय रस से अंकुर की वृद्धि कही जाती है तो कहना होगा कि वह बीज का परिणाम नहीं होगा। पार्थिव और जलीय तथा अन्य रस द्रव्यों के संचय से वृद्धि की कल्पना भी ठीक नहीं है। जैसे लाख के लपेटने से भी काष्ठ मोटा अवश्य हो जाता है, पर बढ़ता नहीं है, लाख ही बढ़ती है, उसी तरह यदि बीज रहता है और रस बढ़ते हैं तो फिर बीज क्या करते हैं। इस बीज वृद्धि का समाधान यह है कि जैसे मनुष्यायु और नाम कर्म के उदय से उत्पन्न बालक बाह्यसूर्यप्रकाश और माँ के दूध आदि को अपनी भीतरी पाचनशक्ति से पचाता हुआ आहारादि द्वारा बढ़ता है उसी प्रकार वनस्पति भी आयु और नाम कर्म के उदय से बीजाश्रित जीव अंकुररूप से उत्पन्न हो कर भी पार्थिव और जलीय रसभाग को खींचता हुआ बाह्यसूर्यप्रकाश और आंतरिक पाचनशक्ति के अनुसार उन्हें जीर्ण करता हुआ अपने खाद के अनुसार बढ़ता है।

परिणमन संबंधी वृद्धि दोष भी एकांतवादियों में आता है। अनेकांतवाद में अंकुरादि सभी द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं, परंतु पर्यायदृष्टि से अनित्याः²

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि जब परिणमन और वर्तना दोनों ही

1. तर्क भाषा पृ. 188 एवं प्रद्योतपादकृत पदार्थ धर्म संग्रह पृ. 164 से आगे।

2. त. रा. वा. 5.22.11.478

3. त. रा. वा. 5.22.15.16.479.80

परिवर्तन को ही सूचित करते हैं तो उन्हें अलग-अलग मानने की क्या तुक है?

वर्तना और परिणाम में अन्तर

- (1) वर्तना और परिणाम यद्यपि परिवर्तन को ही सूचित करते हैं फिर भी इनमें सूक्ष्मता और स्थूलता का अंतर है। वर्तना सूक्ष्मता को इंगित करती है और परिणामन स्थूलता को, जैसे बालक से युवक।
- (2) वर्तना और परिणाम में प्रमाण का भी अंतर है। वर्तना को प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जान सकते बल्कि उसका अनुमान करना पड़ता है, जबकि परिणाम को हम प्रत्यक्ष प्रमाण से जान सकते हैं। मिट्टी का घट के रूप में परिणामन परिणाम है।

गति और स्थिति क्रिया का जब परिणाम में अन्तर्भाव होता है तो परिस्पंदात्मक क्रिया भी उसी के अंतर्गत आ सकती है। ऐसे में मात्र परिणाम का निर्देश करना चाहिये। क्रिया की अलग से क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान तत्वार्थ वार्तिक में इस प्रकार दिया है कि परिस्पंदात्मक और अपरिस्पंदात्मक दोनों प्रकार के भावों की सूचना के लिये क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। परिस्पंद क्रिया है और अन्य परिणाम।¹

वर्तना आदि द्वारा काल का अनुमान होता है। काल का लक्षण यही बताया है कि जिससे भूर्तद्रव्यों का उपचय और अपचय लक्षित होते हैं वह काल है।²

काल अखंड प्रवेशी नहीं है:-

काल आकाश की तरह अखंड और एकप्रदेशी नहीं है क्योंकि एक पुद्गल परमाणु एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमें जो समय लगता है, अगर गहराई में जाकर देखे तो यह समय ही कालद्रव्य की पर्याय है। यह अतिसूक्ष्म होने से निरंश भी है। यदि कालद्रव्य को लोकाकाश के बराबर अखंड और एक माना जाता है तो इस अखंड समय पर्याय की निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणु को छोड़ कर

1. त. रा. वा. 5.22. 20, 21.481

2. "येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स कालः" रा. वा. 5.23 पृ. 481 (उद्धृत)

दूसरे कालाणु के प्रति गमन करता है, तब वहाँ दोनों कालाणु पृथक्-पृथक् होने से समय का भेद बन जाता है और यदि एक अखंड लोक के बराबर कालद्रव्य हों तो समय पर्याय की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है।

यदि यह तर्क दिया जाय कि कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी हैं, उसके एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के प्रति जाने पर समय पर्याय की सिद्धि हो जायेगी? इसका समाधान यह है कि एक अखंड द्रव्य के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने पर समय पर्याय का भेद नहीं बनता। अतः समय पर्याय में भेद सिद्ध करने के लिए काल द्रव्य को अणुरूप में स्वीकार किया गया है।¹

काल दो प्रकार का है-व्यवहार काल और निश्चय काल। हम व्यवहार के स्वरूप भेद और प्रभेद को प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं, परंतु निश्चय काल की प्रकृति व्यवहारकाल द्वारा ही अनुमानित की जाती है। उसकी प्रकृति स्वरूप सब कुछ इन्द्रियातीत है। एक-एक समय का समुच्चय आवलि, पल आदि काल का जो व्यवहार है, वह व्यवहारकाल है, इसे समय पर्याय भी कह सकते हैं। यह समय पर्याय ही निश्चय काल ज्ञान कराती है।

यहाँ एक यह भी तर्क दिया जा सकता है कि कालाणु को न मानकर मात्र समयपर्याय रूप वृत्ति ही स्वीकार करें तो क्या कठिनाई है? इसका समाधान अमृतचंद्राचार्य ने यह दिया है कि मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) काल नहीं हो सकती क्योंकि वृत्ति वृत्तिमान के बिना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो यह प्रश्न होगा कि वृत्ति तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकता स्वरूप होनी चाहिये। अकेली वृत्ति उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है? अथवा यह कहा जाय कि अनादि अनंत अनंतर (परस्पर अंतर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण एकात्मता होती है इसलिये पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है और उत्तर-उत्तर अंशों का उत्पाद होता है तथा एकात्मकता रूप ध्रौव्य रहता है, इस प्रकार अकेली वृत्ति भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है, परंतु ऐसा संभव नहीं है।

1. स. सि. 5.39 पृ. 241 का विशेष विवेचन

जिस अंश में नाश है और जिस अंश में उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नहीं हो सकते। अतः उत्पाद, व्यय का ऐक्य संभव नहीं है तथा नष्ट अंश के सर्वथा समाप्त होने पर और उत्पन्न होने वाले अंश का अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से नाश और उत्पाद की एकता में प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँ से आयेगा? ऐसा होने पर त्रिलक्षणात्मकता नहीं रहेगी।

अतः इन दूषणों के परिहार के लिये वृत्तिमान स्वीकार करना अनिवार्य है और वह वृत्तिमान प्रदेश ही है क्योंकि जो अप्रदेश, है उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं हो सकता।¹

अतः हमें काल को एक प्रदेशी के रूप में तो स्वीकार करना ही है क्योंकि प्रदेश रहित द्रव्य तो शून्य होता है।²

काल अनंत समययुक्त है:—काल को अनंतसमय युक्त बताया है।³ काल अनंतसमय वाला किस अपेक्षा से है इसे पूज्यपाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है - वर्तमान काल तो यद्यपि एक समय वाला है, परंतु अतीत और अनागत तो अनंत समय वाला है। अतः अतीत और अनागत की अपेक्षा काल अनंत समययुक्त और वर्तमान की अपेक्षा एक समययुक्त है।⁴

काल के प्रकार:—काल के भेद की चर्चा भगवती सूत्र में इस प्रकार उपलब्ध होती है। जब भगवान से यह प्रश्न पूछा कि काल कितने प्रकार का है? सुदर्शन की इस शंका का भगवान ने काल के निम्न के चार भेद बताते हुए समाधान किया-

- (1) प्रमाण काल
- (2) यथायुर्निवृत्ति काल,
- (3) मरणकाल
- (4) और अद्धाकाल⁵

1. प्र. सा. ता. पृ. 144

2. प्र.सा. 144

3. त. सू. 5.40

4. स. सि. 5.40. 604

5. भगवती 11.11.77

- (1) प्रमाण काल क्या है इसे स्पष्ट करते हुए भगवन् ने कहा-प्रमाण काल दो प्रकार का है, दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल।
जिससे रात्रि, दिवस, वर्ष, शतवर्ष आदि का प्रमाण जाना जाय, उसे प्रमाणकाल कहते हैं।
- (2) यथायुर्निवृत्तिकाल-आत्मा ने जिस प्रकार की आयु का बंध बांधा है उसी प्रकार उसका पालन करना, भोगना, यथायुर्निवृत्ति काल है।
- (3) मरणकाल-शरीर का जीव से या जीव का शरीर से वियुक्त होना, अलग होना मरणकाल है।
- (4) अद्धाकाल-अनेक प्रकार का है। सूर्यचन्द्र आदि की गति से संबंध रखने वाला अद्धाकाल है।

काल का मुख्य रूप अद्धाकाल है, शेष तीनों इसके विशिष्ट रूप हैं। अद्धाकाल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक में ही होता, और इसलिये मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है, उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धाकाल के हैं। समय उसे कहते हैं जो अविभाज्य है।¹ इसको कमलपत्रों के भेदन एवं वस्त्र विदारण द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है-

- (क) एक दूसरे से सटे हुए सौ कमल के पत्तों को कोई बलवान् व्यक्ति सुई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते एक साथ छिद गये, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता कि सब पत्ते एक साथ छिद गये। जिस समय पहला पत्ता छेदा गया, उस समय दूसरा नहीं। सभी अलग-अलग समय में ही छेदे जाते हैं और यह क्रमशः होता है।
- (ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण शीर्ण वस्त्र या साड़ी को शीघ्र ही फाड़ देता है और इतनी शीघ्र यह क्रिया होती है कि ऐसा लगता है कि एक ही समय में सारा वस्त्र फट गया, परंतु ऐसा होता नहीं। वस्त्र अनेक तंतुओं से बनता है, जब तक ऊपर के तंतु नहीं फटते, तब तक नीचे के तंतु नहीं फटते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल भेद होता है।

1. भगवती 11.117,8

2. भगवती 11.11.46

वस्त्र अनेक तंतुओं का बना होता है। प्रत्येक तंतु में अनेक रोएं होते हैं। उसमें भी ऊपर का रोयां पहले छिद्रता है, तब कहीं उसके नीचे का रोयां छिद्रता है। अनंत परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनंत संघातों का एक समुदाय और अनंत समुदायों की एक समिति होती है और ऐसी अनंत समितियों के संगठन से तंतु के ऊपर का एक रोयां बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तंतु के पहले रोयें के छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यंत सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग समय कहलाता है।

काल का उपकार:—पदार्थों में चाहे वे सजीव हो या निर्जीव हो परिवर्तन काल के कारण ही संभव है। वह काल सूक्ष्म भी हो सकता है, स्थूल भी। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह किसी पदार्थ में मजबूरन परिवर्तन लाता है। क्रिया मात्र काल के कारण ही संभव है।¹

परिवर्तन दो प्रकार का होता है- क्षेत्रात्मक और भावात्मक। क्षेत्रात्मक परिवर्तन कभी-कभी और कहीं-कहीं संभव होता है, परन्तु भावात्मक परिवर्तन सर्वत्र और सदैव रहता है। क्षेत्रात्मक परिवर्तन किसी-किसी पदार्थ में होता है। परंतु भावात्मक परिवर्तन सदा पदार्थों में होता है। चाहे वह मूर्तिक हो या अमूर्तिका?²

भावात्मक परिवर्तन दो प्रकार का होता है-सूक्ष्म तथा स्थूल। सूक्ष्म परिवर्तन वह है जो प्रतिपल पदार्थों में होता है, स्थूल परिवर्तन प्रतीति में आ जाता है। हम इन्द्रियज्ञान से स्थूल परिवर्तन देख सकते हैं। परंतु इससे यह नहीं समझें कि सूक्ष्म परिवर्तन होता ही नहीं। सूक्ष्म के अभाव में स्थूल परिवर्तन संभव नहीं है। स्थूल परिवर्तन जीव और पुद्गल में ही होता है, परंतु सूक्ष्म परिवर्तन तो छहों द्रव्यों में पाया जाता है। क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त ही द्रव्य हो सकता है। सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के परिवर्तन में काल ही उपकारी या सहायक है।³

क्रिया में सहायक काल है:—जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सारी काल के कारण ही संभव है।⁴ अगर काल न हो तो हमारी गतिक्रिया या रेल

1. भगवती अ. वृत्ति पृ. 535

2. धवला 4.1.5.1.7.317

3. पदार्थ विज्ञान- ले. जिनेन्द्रवर्णी पृ. 196.97

4. जैनेन्द्र सिद्धांतकोष पृ.83

की पटरी या आयुसंबंधी किसी प्रकार का अनुक्रम नहीं बन सकेगा। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आकाश प्रदेश से द्रव्यों में वर्तना होती है? (जैसे सुई का कांटा एक स्थान से आगे बढ़ता हुआ दूसरे कांटे तक पहुँचता है और दोनों कांटों के बीच जो दूरी है वह आकाश है।) तो काल को क्रिया का हेतु मानने की क्या आवश्यकता है? अकलंक समाधान देते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि पकाने के लिए बर्तन आधार है, परंतु अग्नि होना भी तो अनिवार्य है अन्यथा पाक क्रिया कैसे संभव होगी? उसी प्रकार आकाश वर्तना वाले द्रव्यों का आधार तो हो सकता है, परंतु वर्तना की उत्पत्ति में सहायक तो काल ही होगा।¹

पंचास्तिकाय की वृत्ति में भी यही शंका उठायी गयी कि सूर्य की गतिक्रिया आदि में धर्म द्रव्य सहकारी कारण हैं, काल की क्या आवश्यकता है, परंतु यह संभव नहीं लगता क्योंकि गति परिणति के धर्म द्रव्य तथा काल दोनों सहकारी कारण होते हैं और सहकारी कारण तो बहुत सारे होते हैं जैसे-घट की उत्पत्ति में कुम्हार, चक्र आदि कई सहकारी कारण हैं। इसी प्रकार काल द्रव्य भी सहकारी है।²

व्यवहार के भेद:—काल दो प्रकार का माना है- एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार काल। समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल है, वह व्यवहार काल है, इसे पराश्रित काल भी कहते हैं।³

नियमसार में इसी व्यवहार काल की अपेक्षा से दो भेद बताये हैं और तीन भी। समय और आवलि के भेद से व्यवहार काल के दो भेद होते हैं। अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा से तीन प्रकार होते हैं।⁴

व्यवहार की परिभाषा तात्पर्य वृत्ति में स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं “एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मंदगति से लांघे उतना काल” वह समयरूप व्यवहार काल है।⁵

1. त. रा. वा. 5.228.477

2. पं. का. ता. वृ. 25

3. पं. का. 25

4. नि.सा. 31

5. नि.सा.ता. 31 एवं प्र. सा.त.प्र. 139

यह समय अविभाज्य है और काल द्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है। समय उत्पन्न होता है और नष्ट भी। जैसे आकाश द्रव्य के भाग करना संभव नहीं है, वैसे ही समय भी निरंश है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब पुद्गल परमाणु शीघ्र गति द्वारा एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, तब वह चौदह राज तक आकाश प्रदेशों में श्रेणीबद्ध जितने कालाणु है, उन सबको स्पर्श करता है। अतः असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से समय के असंख्य अंश होने चाहिये। इसका समाधान यह है कि कोई परमाणु एक समय में असंख्य कालाणुओं का उल्लंघन करके, लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, यह परमाणु के विशेष प्रकार के परिमाण के कारण ही है। इससे समय के असंख्य अंश नहीं होते। जैसे अनंत परमाणु का कोई स्कंध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में एक परमाणु जितना ही होता है, यह परमाणुओं के विशेष प्रकार के अवगाह के कारण है।¹ गोम्मतसार के जीवकाण्ड में भी समय की यही व्याख्या दी है। संपूर्ण द्रव्यों के पर्याय की जघन्य स्थिति एक क्षणमात्र की होती है। दो परमाणुओं के अतिक्रमण करने के काल का जितना प्रमाण है, उसको समय कहते हैं।²

सूर्यगति निमित्तक व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्र में ही चलता है, क्योंकि लोक के ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं और बाहर के ज्योतिर्देव अवस्थित हैं।³

ध्वला में भी इसी बात की पुष्टि होती है कि त्रिकालगोचर अनंतपर्यायों से परिपूरित एक मात्र मनुष्य क्षेत्र संबंधी सूर्यमण्डल में ही काल है अर्थात् काल का आधार मनुष्य क्षेत्र संबंधी सूर्यमण्डल है।⁴

निश्चय काल का लक्षण:—काल पाँच वर्ण, पाँच रस रहित, दो गंध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु अमूर्त और वर्तन लक्षण वाला है।⁵ जो निश्चय काल है, वही परिणमन करने में कारण होता है।⁶

1. प्रवचनसार ता. वृत्ति 139.
2. गोम्मतसार जीवकाण्ड 172
3. गोम्मतसार जीवकाण्ड 577
4. ध्वला 4.151.320-5
5. पंचास्तिकाय 24
6. न.च. वृत्ति 135

परिवर्तन रूप कोई भी कार्य बिना कारण हो नहीं सकता। इसलिये कोई न कोई सत्ताभूत पदार्थ इसका कारण होना चाहिये, यह सत्ताभूत पदार्थ ही निश्चयकाल है।

व्यवहार और निश्चय काल में अंतरः—मुख्य काल के अस्तित्व की सूचना देने के लिये स्थिति से पृथक् काल का ग्रहण किया गया है। व्यवहार काल पर्याय और पर्यायों की अवधि का परिच्छेद करता है।¹ व्यवहार काल जीव और पुद्गल के परिणमन का आधार होता है और निश्चयकाल अणुरूप और इन्द्रियानुभवातीत है।

कालचक्र की अवधारणाः—जैन दर्शन में कालचक्र की अवधारणा दो भागों में विभक्त करके की है। एक नीचे से ऊपर अर्थात् दुःख से सुख की ओर जाने वाला और दूसरा ऊपर से नीचे आनेवाला अर्थात् सुख से दुःख की ओर आने वाला। जैसे गाड़ी का पहिया घूमता है अर्थात् पहिये का नीचे वाला भाग ऊपर आता है और पुनः नीचे जहाँसे चला था वहाँ पहुँच जाता है, इसी प्रकार काल का पहिया भी बराबर घूमता रहता है। सुख से दुःख की दिशा में जाने वाला अवसर्पिणी और दुःख से सुख की दिशा में जानेवाला भाग उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी यह दोनों मिलकर पूरा एक काल चक्र बन जाता है। इसे युग भी कहते हैं।²

उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों ही को छह भागों में विभक्त करके पूरे काल को 12 विभागों में विभाजित किया गया है। उत्सर्पिणी काल क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता है अतः दुःखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, सुखमा-सुखमा। अवसर्पिणी काल ठीक इसके विपरीत चलता है। सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा दुखमा, दुखमा सुखमा, दुखमा और दुःखमा दुःखमा।³

वर्तमान में अवसर्पिणी का पाँचवां भाग चल रहा है अर्थात् उत्तरोत्तर नैतिक तथा आध्यात्मिक शांति की हानि होती जा रही है।

काल के ज्ञान की आवश्यकता :—काल हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग है।

1. त. रा. वा. 1.8.20,43

2. ठाणांग 2.74

3. ठाणांग 6.23,24

हम मौत को भी काल कहते हैं,¹ जो वास्तव में व्यावहारिक काल है। प्रत्येक पदार्थ काल के आश्रित है। परिवर्तन या क्रिया जो कुछ भी होती है और जिसके कारण सृष्टि का सौंदर्य और संतुलन है, वह सारा काल का ही उपकार है।

वैशेषिक दर्शन में काल:—वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं, जिसमें काल भी एक द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।² काल को वैशेषिक आकाश की तरह सर्वव्यापक मानते हैं³ तथा प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते। काल को ये भी उत्पन्न सभी पदार्थों के साधन रूप कारण मानते हैं।⁴

प्रकृति में होने वाला मूर्त परिवर्तन जैसे वस्तु की उत्पत्ति, विनाश, स्थिरता के लिये भी काल का होना अनिवार्य है। यह वह शक्ति है जो अनित्य पदार्थों में परिवर्तन लाती है। यह समस्त गति की आवश्यक अवस्था है।⁵ काल स्वतंत्र यथार्थ सत्ता माना गया है जो समस्त विश्व में व्यापक है और वस्तुओं की गति को व्यवस्थित बनाता है। भिन्न-भिन्न समय में होने के संबंधों और शीघ्र अथवा विलंब के भावों का आधार काल ही है।⁶ काल एक ही है जो विस्तार में सर्वत्र उपस्थित है। यह काल नित्य एक द्रव्य है और समस्त वस्तुओं का आधार है।⁷

जैन दर्शन काल को एक और सर्वव्यापी नहीं मानते हुए असंख्यात और अणुरूप मानते हैं।⁸ काल में भी अनेकांतवाद सिद्धांत निश्चय नय की दृष्टि से एक है एवं व्यवहार नय की दृष्टि से कालाणु असंख्यात द्रव्य है।⁹

सांख्य और काल:—सांख्य में तो मात्र दो तत्वों की ही स्वीकृति है। वे तो इसके अतिरिक्त तीसरा द्रव्य मानते ही नहीं है। काल इनमें स्वतंत्र द्रव्य नहीं है।¹⁰

इस प्रकार से हम देखते हैं कि कोई भी क्रिया काल के अभाव में

1. भारतीय दर्शन भाग 1 डा. राधाकृष्णन पृ. 291
2. भारतीय दर्शन भाग 1 डा. राधाकृष्णन पृ. 187
3. भारतीय दर्शन भाग 1 डा. राधाकृष्णन पृ. 187,88
4. प्रशस्तपाद कृत पदार्थ धर्मसंग्रह पृ. 25
5. वैशेषिक सूत्र 2.2.6
6. वैशेषिक सूत्र 2.2.6
7. अतीतादिव्यवहारहेतुः तर्कसंग्रह 15
8. द्रव्य संग्रह 22.
9. लघु द्रव्य संग्रह 12
10. सांख्य तत्व कौमुदी 33. पृ. 209

सिद्ध नहीं की जा सकती। प्रत्येक दर्शन काल को सैद्धांतिक रूप से स्वीकृति दे या नहीं दे, परंतु व्यवहार के माध्यम से तो उसे स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि नया, पुराना, बच्चा, जवान आदि समस्त काल के ही उदाहरण है। काल की यह विशेषता है कि परिणामी होने पर भी दूसरे द्रव्य रूप में स्वयं परिणत नहीं होता और न दूसरे द्रव्यों का अपने स्वरूप अथवा भिन्न द्रव्य स्वरूप में परिणमन लाता है; परंतु अपने स्वभाव से ही अपने-अपने योग्य परिणामों से परिणत होने वाले द्रव्यों के परिणमन में यह काल द्रव्य उदासीनता पूर्वक स्वयं बाह्य सहकारी निमित्त बन जाता है। इस प्रकार काल के आश्रय से प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने पर्यायों से परिणत होता है।¹

आधुनिक विज्ञान ने भी परिणमन में उदासीन सहयोगी काल के इस तथ्य को मान्यता दे दी है। आइन्स्टीन ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि - देश और काल भी घटनाओं में भाग लेते हैं।²

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जिन्स का कथन है कि हमारे दृश्य जगत की सारी क्रियाएँ मात्र फोटोन और द्रव्य अथवा भूत की क्रियाएँ हैं तथा इन क्रियाओं का एक मात्र मंच देश और काल है। इसी देश और काल ने दीवार बनकर हमें घेर रखा है।³

आज के विज्ञान युग में समय की सूक्ष्मता आश्चर्यजनक नहीं लगती। इसका व्यावहारिक उदाहरण टेलीफोन द्वारा भी समझा जा सकता है। कल्पना करें, दो हजार किलोमीटर दूर बैठे हुए किसी व्यक्ति से हम टेलीफोन पर बात कर रहे हैं। हमारी ध्वनि विद्युत् तरंगों में परिणत होकर तार के सहारे चल कर दूरस्थ व्यक्ति तक पहुँचती है और उसकी ध्वनि हम तक। इसमें जो समय लगा वह इतना कम है कि हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है और ऐसा लगता है मानों कुछ भी समय नहीं लगा हो और हम उस व्यक्ति के सामने बैठकर ही बात कर रहे हों। चार हजार मील तार को पार करने में तरंग को लगा समय भले ही आपको प्रतीत न हो रहा हो फिर भी समय तो लगा ही है। कारण कि वह तरंग एकदम ही वहाँ नहीं पहुँची है बल्कि एक-एक मीटर और मिली मीटर को क्रमशः पारकर के आगे बढ़ती

1. गोम्पटसार जीवकांड 569-70

2. स्वाध्याय शिक्षा अगस्त 1989 पृ. 55

3. स्वाध्याय शिक्षा - अगस्त 1989 पृ. 55

हुई वहाँ पहुँची है। अब हम अनुमान लगायें कि उस तरंग को टेलीफोन के तार के एक मीटर या मिलीमीटर को पार करने में कितना समय लगा होगा? हम संपूर्णतः अनुमान लगा सकें या नहीं, परंतु तरंग को एक मिलीमीटर तार पार करने में समय तो लगा ही है। जैन दर्शन में वर्णित समय इससे भी असंख्यात गुणा अधिक सूक्ष्म है।

इस प्रकार काल संबंधी चर्चा में हमने देखा कि यद्यपि जैन दार्शनिकों में काल के संबंध में दो मत चलते हैं- एक मत काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने वाला और दूसरा काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानने वाला, फिर भी ये दोनों विरोधी नहीं है।

भगवती,¹ उत्तराध्ययन,² प्रज्ञापना³ आदि में काल संबंधी ये दोनों मान्यताएं हैं। आचार्य उमास्वाति,⁴ जिनभद्रगणि,⁵ हरिभद्रसूरि⁶ आदि ने भी दोनों ही मत स्वीकार किये हैं।

उपरोक्त दोनों मत परस्पर अविरोधी हैं क्योंकि सापेक्ष है। निश्चय नय से उसे जीव और अजीव की पर्याय मात्र मानने से ही सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार दृष्टि से ही उसे स्वतंत्र और पृथक् द्रव्य माना है।

पुद्गलास्तिकायः—अब हम चौथे अध्यायके अंतिम उपभेद पुद्गलास्तिकाय की चर्चा करेंगे।

पुद्गल क्या है और उसका स्वरूप क्या है? इसका विस्तृत विवेचन हम यहाँ करने का प्रयास करेंगे। षड्द्रव्यों में से एक पुद्गल ही ऐसा है जो रूपी या मूर्त है। संसार भ्रमण का मुख्य कारण शुद्धस्वरूपी आत्मा की पुद्गल से संगति होना है। विज्ञान ने पुद्गल को 'मैटर' कहकर ऊर्जा का मूल स्रोत स्वीकार किया है।

इस लोक में मुख्य दो ही पदार्थ हैं जिनके द्वारा यह सृष्टि निर्मित है- जीव और पुद्गल। अवशिष्ट ये चारों धर्म, अधर्म आकाश और काल; सहयोग

1. भगवती 25.4.734

2. उत्तराध्ययन 28.7.8

3. प्रज्ञापना 1.3

4. तत्त्वार्थसूत्र 5.38,39 पर सिद्धसेन की भाष्य व्याख्या

5. विशेषावश्यकभाष्य 926 एवं 2068

6. धर्मसंग्रहणी गाय 32 की मलयगिरि टीका

मात्र देने वाले उदासीन उपकारी होते हैं- “पुद्गल” यह जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है।

पुद्गल एक विचित्र सा शब्द लगता है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, कीड़े, मकोड़े आदि सभी जो दृश्य हैं, वह पुद्गल है। यद्यपि पुद्गल के अनेकों भेद हैं पर जैनदर्शन ने उसे षट्काय में विभक्त कर दिया है। यों तो ये जीव के भेद कहलाते हैं पर इनका विभाजन काय या इन्द्रिय की अपेक्षा होता है और काय तथा इन्द्रियाँ पुद्गल है। जब तक इनके साथ जीव है तब तक जीवों के शरीर कहलाते हैं और जीव का वियोग होते ही ये पुद्गल कहलाते हैं। अनंत काल से जीव और पुद्गल क्षीर नीर की तरह रहने पर भी पुद्गल जीव नहीं बना या जीव पुद्गल के रूप में परिवर्तित नहीं हुआ।

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण:—यह पुद्गल शब्द रूप नहीं, परंतु व्युत्पत्तिक है। जिस प्रकार से भा को करने वाला भास्कर कहलाता है, उसी तरह जो भेद संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हो वे पुद्गल हैं।¹ यह शब्द पृषोदरादि गण से निष्पन्न होता है। परमाणुओं में भी शक्ति की अपेक्षा गलन और पूरण है तथा प्रतिक्षण अगुरुलघुगुण कृत गुणपरिणमन गुणवृद्धि और गुणहानि होती रहती है। अतः उनमें भी पूरण और गलन व्यवहार मानने में कोई आपत्ति नहीं है अथवा यह भी हो सकता है कि जीव शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदि के रूप में निगले/ग्रहण करें, वे पुद्गल है। परमाणु भी स्कंध दशा में जीवों द्वारा ही निगले जाते हैं।² यह पुद्गल दो शब्दों के मेल से बना है। यह शब्द इस प्रकार से निष्पन्न हुआ है— ‘पूरणात् पुत् गलयतीति गलपूरणं-गलानान्वर्थं संज्ञत्वात् पुद्गलाः’ अर्थात् पूर्ण स्वभाव से पुत् और गलन स्वभाव से गल, इन दो अवयवों के मेल से पुद्गल शब्द बना है यानि पूरण और गलन को प्राप्त होने से पुद्गल का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है जुड़ना, टूटना और पुनः जुड़ना। “गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः”³ अर्थात् जो गलन-पूरण स्वभाव सहित है। (पृथक् होने और एकत्रित होने के स्वभाव वाला है) वह पुद्गल है।

इससे तीन बातें स्पष्ट हुईं।

1. भगवती 8.10.361

2. त. रा. वा. 5.1 24-26, 434

3. नियमसार वृत्ति 9. एवं बृहद् द्रव्य संग्रह वृत्ति 15

- (1) पुद्गल गलन और पूरण स्वभाव वाला होता है।
- (2) भेद और संघात के अनुसार जिसमें पूरण गलन क्रिया अन्तर्भूत होती है।
- (3) जीव जिन्हें शरीर, आहार विषय और इन्द्रिय उपकरणादि के रूप में निगलता है या ग्रहण करता है वे पुद्गल है।

जैन दर्शन में छहद्रव्यों की प्ररुपणा है। उन षड्द्रव्यों में पाँच¹ द्रव्य तो अरुपी और अमूर्त है, परंतु पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो मूर्तिक/रुपी है।²

यह पुद्गल पाँचवर्ण, पाँचरस, दो गंध, आठस्पर्श रुपी, अजीव शाश्वत, अवस्थित तथा लोक का एक अंशभूत द्रव्य है।³

पुद्गल के भेद:—पुद्गल दो प्रकार के होते हैं। परमाणु पुद्गल और नो परमाणु पुद्गल⁴ (स्कंध)।

परमाणु के लक्षण—स्कंध का अंतिम भाग अविभागी, एक शाश्वत मूर्तरूप से उत्पन्न होने वाला और अशब्द है।⁵

भगवती सूत्र में भी परमाणु की व्याख्या इस प्रकार से बतायी है। एक वर्ण, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श वाला परमाणु पुद्गल कहा गया है। एक वर्ण वाला या तो लाल, पीला, काला, नीला या सफेद होगा। एक गंध में या तो सुगंध होती है या दुर्गन्ध। यदि एक रस हो तो या तो तीखा या कड़वा या कसैला या खट्टा या मीठा। दो स्पर्श में शीत-स्निग्ध या शीत-रुक्ष या उष्ण-स्निग्ध या उष्ण-रुक्ष होगा। (अर्थात् स्पर्श दो होंगे और वे विरोधी होंगे।)⁶

महावीर ने हजारों वर्षों पूर्व ही परमाणु के संबंध में तलस्पर्शी समाधान दे दिये थे। आज वैज्ञानिक अणु के अन्वेषण करने में जुटे हुए हैं, किन्तु अणु के संबंध में जिस सूक्ष्मता से महावीर ने विवेचन किया, आज के वैज्ञानिक वहाँ तक नहीं पहुँच पाये है। आज के वैज्ञानिक जिसे अणु कहते हैं, महावीर उसे स्कंध कहते हैं। महावीर की दृष्टि में परमाणु इन्द्रियातीत है। वह स्कंध

1. "रुपिणः पुद्गलाः" त. सू. 5.4

2. ठाणांग 5.174

3. ठाणांग 2.228

4. पंचस्तिकाय 77.

5. भगवती 20.5.1

से भिन्न निरंश तत्व है। परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य एवं अदाह्य है।¹ ऐसा कोई उपचार या उपाधि नहीं, जिससे उसका उपचार किया जा सके।

परमाणु का वही आदि, वही मध्य और वही अंत है।² कहा भी है—
“अन्तादि अन्तमज्जं, अंतन्तं णेव इंविए नेज्जं। जं बब्बं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि।”³

ये इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। परमाणु मात्र कारण ही नहीं, कार्य भी है क्योंकि वह स्कंधों के भेद पूर्वक उत्पन्न होता है। परमाणु में स्नेह आदि गुण उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। अतः कथंचित् वह अनित्य भी है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—क्या यह एक प्रदेशी परमाणु कांपता है? परमात्मा ने स्याद्वाद के अन्तर्गत इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा में दिया—वह कांपता भी है और नहीं भी।⁴

अगला प्रश्न पूछा—क्या परमाणु तलवार की धार या उस्तरे की धार पर अवगाहन करके रह सकता है? भगवान ने कहा—वह अवगाहन करके रह सकता है।⁵

अब हमें यह जिज्ञासा हो सकती है कि उपरोक्त लक्षणों से युक्त परमाणु पुद्गल कितने समय तक रहता है। भगवान ने फरमाया कि परमाणु पुद्गल जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहता है।⁶

अगर वास्तव में देखा जाय तो मूल पदार्थ तो परमाणु ही है। यह परमाणु स्वतंत्र है। यह न तो तोड़ा जा सकता है, न देखा जा सकता है। इसकी लंबाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि परमाणु निराकार है क्योंकि निराकार तो गुणधारण नहीं कर सकता। आकारवान् पदार्थ ही गुणों को धारण करते हैं और गुणों के समूह को धारण करने के कारण ही द्रव्य माना जाता है।

अब अगर यह प्रश्न हो कि वह आकार कैसा है तो इसका जवाब यही दिया जा सकता है कि यह परमाणु स्वयं ही अपना आकार है। यही उसकी

1. भगवती 5.7.3(2)

2. भगवती 5.7 10(1) एवं त.सू. 5.25

3. त. रा. वा. 4.5.25 गृह 491 से उद्धृत।

4. भगवती 5.7 3(11)

5. भगवती 5.7.3 (1)

6. भगवती 5.7 14(1)

लंबाई, चौड़ाई और मोटाई है।

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं यद्यपि वे इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, परंतु देखे नहीं जा सकते, परंतु वे मूर्तिक है क्योंकि मूर्तिक का इन्द्रियों के माध्यम से देखना, यह तो मात्र समझाने के लिये लक्षण किया गया है। वास्तविक नहीं।

परमाणु का स्वभाव चतुष्टयः—परमाणु चार प्रकार के होते हैं। द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु और भाव परमाणु।

द्रव्य परमाणु चार प्रकार का होता है जैसे-अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य। क्षेत्र परमाणु भी चार प्रकार का होता है-अनर्द्ध, अमर्घ्य, अप्रदेश और अविभाज्य। काल परमाणु भी चार प्रकार का होता है-अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श। भाव परमाणु भी चार प्रकार का होता है-वर्णवान्, गंधवान्, रसवान्, स्पर्शवान्।¹

पुद्गल के लक्षणः—तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने पुद्गल का लक्षण स्पर्श रस, गंध और वर्ण युक्त किया है।²

उत्तराध्ययन सूत्र में पुद्गल को पाँच लक्षण युक्त कहा है-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान।³

वर्णः—वर्ण पाँच प्रकार का होता है-काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद।⁴

गंधः—गंध दो प्रकार की होती है। सुगंध और दुर्गंध।⁵

रसः—रस (स्वाद) पाँच प्रकार का होता है- तीखा, कडवा, कसैला खट्टा और मीठा।⁶

स्पर्शः—स्पर्श आठ प्रकार का होता है- कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा।⁷

1. भगवती 20.5 16-19

2. त.सू. 5.23 एवं द्रव्य प्रकाश 2.4

3. उत्तराध्ययन 36.15

4. उत्तराध्ययन 36.16

5. उत्तराध्ययन 36.17

6. उत्तराध्ययन 36.18

7. उत्तराध्ययन 36.19.20

संस्थानः—(आकार) संस्थान पाँच प्रकार का होता है। परिमण्डल संस्थान वृत्त (गोल) संस्थान, त्रयंस संस्थान, समचतुस्र (चौरस) संस्थान और आयत (लंबे) संस्थान।¹

इन वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से युक्त ही पुद्गल हो सकता है। ऐसा नहीं कि एक भौतिक पदार्थ में वह गुण हैं, दूसरे में नहीं।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता ठीक इसके विपरीत है। वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं। इन नौ द्रव्यों के अपने-अपने गुण हैं।

रूप, रस, गंध तथा स्पर्श गुण से युक्त जल रूप तथा उष्ण स्पर्श गुण से युक्त अग्नि और स्पर्श गुण से युक्त वायु है,² परंतु जैन दर्शन की यह मान्यता नहीं है। तर्क से भी इस बात की सिद्धि हो सकती है। प्रत्येक पदार्थ में चारों ही गुण पाये जाते हैं, चाहे वह पृथ्वी हो या जल। यदि ऐसा नहीं होता तो पृथ्वी को विज्ञान द्वारा जल बना दिये जाने पर उसमें से गंध गुण कहाँ जाता है और जल को पृथ्वी बनाने पर उसमें जल गुण कहाँ से आता है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि किसी में किसी प्रकार का गुणोत्पाद नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्येक पुद्गल स्कंध में चारों गुण मानने ही होंगे।

वास्तव में कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जो रूप, रस, गंध और स्पर्श रहित हो। यह अलग बात है कि कोई गुण किसी में व्यक्त है किसी में अव्यक्त।

यह विवेचन दो नय की अपेक्षा से चलता है। भगवती सूत्र में गुड़ और भ्रमर के उदाहरण द्वारा यह विवेचन स्पष्ट किया गया है। व्यवहार दृष्टि से गुड़ मीठा है, परंतु निश्चय नय की दृष्टि से गुड़ पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्श वाला होता है। भ्रमर काला है, तोते की पाँख हरी है, मजीठ लाल है, हल्दी पीली है, शंख सफेद है और पटवास (कपड़े में सुगंध देने वाली पत्ती) सुगंधित है। लाश दुर्गंध युक्त है, नीम कड़वा है, सूँठ तीखी है, कपिठ कसैला है, इमली खट्टी है आदि, परंतु यह व्यक्त गुण है और व्यवहार दृष्टि से है, परंतु निश्चय दृष्टि से तो पाँचों वर्ण, दो गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श सबमें होते ही हैं।³

1. उत्तराख्यान 36.21

2. भारतीय दर्शन भाग 2. डॉ. राधाकृष्णन पृ. 204.

3. भगवती 18.6. 1.5

पुद्गल के भेद:—पुद्गल के चार भेद होते हैं या इसे यों भी कह सकते हैं कि पुद्गल के भेद संघात की क्रिया चार प्रकार से होती है- स्कंध, स्कंधदेश, प्रदेश और परमाणु।¹

- (1) स्कंध:—अनेक परमाणुओं के पिण्ड को स्कंध कहते हैं।
- (2) स्कंधदेश:—स्कंध के किसी कल्पित भाग को स्कंधदेश कहते हैं।
- (3) प्रदेश:—स्कंध के निरंश अंश (अविभाज्य अंश को) को प्रदेश कहते हैं।
- (4) परमाणु:—स्कंध से पृथक् हुए निरंश भाग को परमाणु कहते हैं।²

इन चार भेदों में मुख्य भेद तो स्कंध और परमाणु ही है।³ इन स्कंध और परमाणु की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। इन स्कंधों की उत्पत्ति तीन प्रकार से बतायी गयी है- भेद से, संघात से तथा भेद और संघात दोनों से।⁴

भेद:—अंतरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकार के निमित्तों से संहत स्कंधों के विदारण को भेद कहते हैं।

संघात:—भिन्न-भिन्न हुए पदार्थों के बंध होकर एक हो जाने को संघात कहते हैं।

भेद संघात:—दो परमाणुओं के स्कंध से दो प्रदेशवाला स्कंध उत्पन्न होता है। दो प्रदेशवाले स्कंध और अणु के संघात से या तीन अणुओं के संघात से तीन प्रदेशवाला स्कंध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनंतानंत अणुओं के संघात से उतने-उतने प्रदेशों वाले स्कंध उत्पन्न होते रहते हैं। इन्हीं संख्यात आदि परमाणुवाले स्कंधों के भेद से दो प्रदेशवाले स्कंध तक होते हैं। इस प्रकार एक समय में होने वाले भेद और संघात इन दोनों से दो प्रदेश वाले आदि स्कंध होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कंध से भेद होता है और अन्य का संघात तब एक साथ भेद और संघात इन दोनों से स्कंध की उत्पत्ति होती है।⁵

1. उत्तराख्ययन 36.10 एवं पंचास्तिकाय 74.

2. पंचास्तिकाय 75

3. त.सू. 5.25 एवं भगवती 2.10.11

4. त.सू. 5.26

5. स.सि. 5.26 576

अणु या परमाणु की उत्पत्ति तो विभाजन से ही या भेद से ही होती है।¹ जो चाक्षुष हैं वे भेद संघात से उत्पन्न होते हैं और अचाक्षुष हैं वे संघात से, भेद से और संघातभेद तीनों से उत्पन्न होते हैं।² चाक्षुष का अर्थ है— चक्षुरिन्द्रिय का विषय।

सूक्ष्म और बादरः—पुद्गल के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा दो भेद होते हैं।³ साधारणतः बड़ा कहते हैं स्थूल को तथा सूक्ष्म कहते हैं छोटे को, परंतु यह सामान्य अवस्था के अर्थ है, अन्यथा कई बार ऐसा होता है कि बड़ा पदार्थ सूक्ष्म हो सकता है और छोटा स्थूल, जैसे खसखस (पोस्ता) का दाना छोटा है और जल की बूंद बड़ी, परंतु पानी वस्त्र से पार हो जाता है और दाना नहीं। वायु शीशे में से पार नहीं होती पर प्रकाश पार हो सकता है। अतः एक दूसरे में से पार करने की शक्ति को ध्यान में रखकर सूक्ष्म और स्थूल का विश्लेषण करना चाहिये।

जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को न रोक सके, न किसी से स्वयं रुके अथवा एक दूसरे में समाकर रह सके या एक दूसरे से पार हो जाय उसे सूक्ष्म कहते हैं तथा जो पदार्थ दूसरे को रोके अथवा दूसरे से रुक जाय और एक दूसरे में न समा सके, वह स्थूल कहलाता है।

इसमें भी तारतम्य होता है। कोई पदार्थ पूर्णतः सूक्ष्म हैं तो कोई कम स्थूल हैं। जो किसी से भी किसी प्रकार न रुके, वह पूर्ण सूक्ष्म हैं। जो हर पदार्थ से रुके वह पूर्ण स्थूल है।

अंग्रेजी भाषा में सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान लगाने के लिये इन्हें तीन विभागों में विभाजित किया है जैसे Positive degree, Comparative degree and superlative degree.⁴

पुद्गल के पर्यायः—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया एवं आतप ये सभी पुद्गल की पर्याय हैं।⁵

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार,

1. त.सू. 5.27

2. त.सू. 5.28

3. ठाणाग 2.229

4. जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान ले. जिनेन्द्रवर्णी पृ. 155

5. द्रव्य प्रकाश 2010 एवं उत्तराध्ययन 28.12

छाया, तप एवं प्रकाश ये पुद्गल की पर्याय है।¹ द्रव्य का परिणमन पर्याय हैं। इन उपरोक्त पर्यायों में पुद्गल ही परिणत होता है।

शब्दः—जो अर्थों को कहता है वह शब्द है। शब्द का प्रयोग 'ध्वनि' अर्थ में हुआ है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—(क) भाषात्मक (ख) अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द (अ) अक्षर और (आ) अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। अक्षरकृत शब्दों से शास्त्र की अभिव्यक्ति होती है। यह आर्य और म्लेच्छ आदि जाति के मनुष्यों के व्यवहार का माध्यम बनती है। अनक्षरात्मक शब्द बेइन्द्रिय आदि के जीवों के होते हैं। अनक्षरात्मक शब्द के भी (1) प्रायोगिक (2) स्वाभाविक दो भेद होते हैं।

अप्रायोगिक शब्द भी चार प्रकार का होता है—

तत-पुष्कर, भेरी, तबला, ढोलक आदि में चमड़े के तनाव से शब्द जो होते हैं वे तत है।

विततः—वीणा, सुघोष, आदि से जो शब्द होता है वह वितत है।

घनः—ताल, घंटा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन है।

सौषिरः—बांसुरी, शंख आदि से निकलने वाला शब्द सौषिर है।²

(आ) **स्वाभाविकः**—मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे स्वाभाविक या वैलसिक है।³

जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन हैं जिसने शब्दादि को पुद्गल की पर्याय के रूप में स्वीकार किया है। वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, परंतु जैन शब्द को पुद्गल की पर्याय विशेष मानकर उसे नित्यानित्य मानते हैं। शब्द पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से नित्य और श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्यायसामान्य की दृष्टि से कालान्तर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा क्षणिक हैं।⁴

1. त.सू. 5.24

2. त.रा.वा. 5.24.2/485 एवं ठाणांग 2.212-217

3. त.रा.वा. 5.24 572

4. त. रा. वा. 5.24.5 887

जैन दर्शन की शब्द विषयक मान्यता को पुष्ट करते हुए प्रो. ए. चक्रवर्ती ने लिखा है—

"The Jain account of sound is a Physical concept. All other Indian Systems spoke of sound as a quality of space. But explains in relation with material particles as a result of collision of atmospheric molecules. To prove this the Jain thinkers employed arguments which are now generally found in text book of Physics."

अन्य सब भारतीय विचारधाराएं शब्द को आकाश का गुण मानती हैं जबकि जैन दर्शन उसे पुद्गल मानता है। जैन दर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया।

ध्वनि के विविध प्रयोगः—आज के युग में ध्वनि के प्रयोग होने लग गये हैं। उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि का उपयोग घड़ी को बिना खोले उसके कल पुर्जे साफ करने में किया जाता है। धातु के बने पुर्जे के दांते कांटने तथा जोड़ने (वेल्डिंग) में भी इसका उपयोग होता है। इसका चिकित्सालय में विशेष उपयोग होता है। क्योंकि वस्त्र व औजार साफ होने के साथ-साथ इससे जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं। कपड़े धोने में भी इसका उपयोग हो सकता है। धोने योग्य वस्त्रों को जल में डालकर जल में श्रवणोत्तर ध्वनि प्रवेश करवाई जाती है। उस बुलबुलाहट से रासायनिक परिवर्तन द्वारा हाइड्रोजन पर आक्साइड पैदा हो जाता है जो उसके मैले रंग को साफ कर देता है।

चिकित्सा क्षेत्र में भी इसका उपयोग है। पथरी के रोगी को एक टेबल पर सुलाकर पथरी की ओर एक ध्वनि फैकी जाती है। उस ध्वनि से मांस में कोई परिवर्तन नहीं होता और पथरी टूट-टूट कर पेशाब द्वारा बाहर आ जाती है। मोतिया बिंद का इलाज भी इससे संभव है। धातु की बनी एक बारीक नली की नोक से ध्वनि आँख में लेंस जिसे मोतियाँ बिंद कहते हैं उस पर फैकी जाती हैं उससे वह मोतिया बिंद तरल पदार्थ में रुपांतरित हो जाता है और तरल पदार्थ को नली के खोखले मार्ग से बाहर खींच लिया जाता है।

अपराधियों को पकड़ने में ध्वनि कैमरा पर्याप्त सहयोगी बनता है। ध्वनि कैमरे में ध्वनि का चित्रांकन किया जाता है। अंगुलियों की छाप की तरह ध्वनि छाप भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती है। जैसे अंगुलियों की छाप अपराधियों को पकड़ने में सहायक बनती है वैसे ही यह ध्वनि छाप भी उपयोगी बनती है।

इसी प्रकार इलेक्ट्रॉनिक संगीत में भी विशिष्ट उपयोग है। इलेक्ट्रॉनिक संगीत यंत्र में एक ऐसा छानक यंत्र होता है जो ध्वनि की अनावश्यक तीव्रता उतार चढाव आदि को छान कर अलग कर देता है। इस यंत्र में संश्लेषक (सिंपेसाइजर) का भी प्रयोग होता है। इसके द्वारा प्राकृतिक ध्वनियों को कृत्रिम रूप से तैयार किया जाता है।

इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द पुद्गल है। शब्द की गति के विषय में पन्नवणा में विचार किया गया है।

“हे गौतम! जो भाषा भिन्न रूप में निःसृत या प्रसारित होती है, वह अनंतगुणी वृद्धि को प्राप्त होती हुई लोक के अंतिम भाग को स्पर्श करती हैं अर्थात् व्याप्त होकर संसार के पार तक पहुँच जाती हैं और जो भाषा अभिन्न रूप में निःसृत होती है, वह संख्यात योजन जाकर नाश को प्राप्त होती है तथा असंख्यात योजन जाकर भेद को प्राप्त होती है।”¹

इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा के दो रूप हैं:—एक अभिन्न रूप और दूसरा भिन्न रूप। अभिन्न रूप भाषा के मूल रूप का द्योतक होता है तथा भिन्न रूप भाषा मूल में परिवर्तित होकर रूपांतरित होने का सूचक है।

शब्दोत्पत्ति के कारण:—दो कारणों से शब्द की उत्पत्ति होती है। पहला कारण है— जब पुद्गल संहति को प्राप्त हो तब, जैसे घडी का शब्द एवं दूसरा कारण है— जब पुद्गल भेद को प्राप्त हो तब जैसे बांस के फटने का शब्द।²

बंध:—जो बंधे या जिसके द्वारा बांधा जाय वह बंध है।³ बंध के दो भेद हैं:-

(1) प्रायोगिक

(2) स्वाभाविक

(1) प्रायोगिक:—जो प्रयोग जन्य हैं, जिसमें मन वचन काया का पुरुषार्थ हो। यह प्रायोगिक बंध भी दो प्रकार का है—(अ) अजीवविषयक (आ) जीव और अजीव विषयक।

1. पन्नवणा 11.41.

2. ठाणांग 2.220

3. त. रा. वा. 5.24.1.485

अजीव विषयक बंधः—लाख और काठ आदि का बंध अजीवविषयक बंध है।

जीव और अजीव विषयक बंधः—कर्म और नो कर्म बंध जीव और अजीव विषयक बंध है। कर्मबंध ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार का हैं, नो कर्मबंध औदारिकादि शरीर विषयक है।¹

स्वाभाविक बंधः—यह भी दो प्रकार का होता है—(1) आदिमान (2) अनादिमान

आदिमान बंधः—स्निग्ध रुक्ष गुणों के निमित्त से बिजली, उल्का, जलधारा, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल बंध आदिमान है।

अनादिमान बंधः—यह नव प्रकार का है—धर्मास्तिकाय बंध, धर्मास्तिकाय देश बंध, धर्मास्तिकाय प्रदेश बंध, अधर्मास्तिकाय बंध, अधर्मास्तिकाय देश बंध, अधर्मास्तिकाय प्रदेश बंध, आकाशास्तिकाय बंध, आकाशास्तिकाय देश बंध, आकाशास्तिकाय प्रदेश बंध।²

बंध की प्रक्रियाः—तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने बंध को भी पुद्गल पर्याय बताया और साथ ही बंध की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया। बंध क्यों और कैसे होता है? उमास्वाति ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि स्निग्ध (स्नेह) और रूक्षता के कारण ही बंध होता है।³

स्निग्धता और रुक्षता को अकलंक ने समझाते हुए स्पष्ट किया कि बाह्य और आभ्यंतर कारणों से स्नेह पर्याय की प्रकटता से जो चिकनापन है, वह स्नेह है उसके विपरीत रुक्षता है। दो स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं में बंध होने पर द्वयणुक स्कंध होता है। स्नेह और रुक्ष इन दोनों के अनंत भेद है। अविभाग परिच्छेद एक गुणवाला स्नेह सर्वजघन्य हैं प्रथम हैं। इसी तरह दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंतगुण स्नेह रुक्ष के विकल्प है। जैसे जल से बकरी के दूध/घी में, बकरी के दूध से गाय के दूध और घी में अधिक स्निग्धता है। उसी तरह क्रमशः धूल से प्रकृष्ट रुखापन तुषखंड में और उससे भी प्रकृष्ट रुक्षता रेत में पायी जाती है। इसी तरह परमाणुओं में भी स्निग्धता और रुक्षता के प्रकर्ष और अपकर्ष का अनुमान होता है।⁴

1. त. रा. वा. 5.24.9.487

2. त. रा. वा. 5.24.7.487

3. त.सू. 5.33

4. त. रा. वा. 5.33. 1-5, 497.98

परंतु सर्वजघन्य गुणवाले (अविभागी और एकगुणवाला सर्वजघन्य कहलाता है।) परमाणुओं में बंध नहीं होता।¹

समान अंश, समान गुण (दो, चार, छ, और केवल स्निग्ध या केवल रुक्ष सदृश परमाणु) रहने पर भी बंध नहीं होता।²

स्निग्धता या रुक्षता में दो अंश आदि अधिक हो तो सदृश परमाणु मिलकर स्कंध बना सकते हैं। जैसे दो परमाणु का चार परमाणुओं के साथ बंध हो सकता है।³ बंध होने पर अधिकगुणवाला न्यूनगुणवाले का अपने रूप में परिणमन करवा लेता है।⁴

इसको अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से अंकलंक ने कहा- “तात्पर्य यह कि दो गुण स्निग्ध परमाणु को चारगुण रुक्ष परमाणु पारिणामिक होता है, बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। अन्यथा सफेद और काले धागे के संयोग होने पर भी दोनों से रखे रहेंगे। जहाँ पारिणामिकता होती है वहाँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि में परिवर्तन हो जाता है। जैसे शुक्ल और पीत रंगों के मिलने पर हरे रंग के पत्र आदि उत्पन्न होते हैं।⁵ बंध के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में कुछ असमानता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवे अध्याय के सूत्र 37 में कुछ पाठभेद हैं। दिगम्बर परम्परा में “बंधेधिका पारिणामिकौच” हैं, जबकि श्वेताम्बर परंपरा में “बंधे समाधिकौ पारिणामिकौ” पाठ है। इसका तात्पर्य है, स्निग्ध का द्विगुण रुक्ष भी पारिणामिक होता है, जबकि दिगम्बर मान्यता है, चाहे सदृश हो या विसदृश दो अधिक गुणवालों का ही बंध होता है, अन्य का नहीं। जैसे दो का चार के साथ और तीन का पाँच के साथ।⁶

सूक्ष्मता:—इसका अर्थ है छोटापन। यह दो प्रकार की है—अत्यंत सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अत्यंत सूक्ष्मता परमाणु में पायी जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता— यह दो वस्तुओं की तुलना द्वारा ज्ञात होती है जैसे आँवले की अपेक्षा

1. त. सू. 5.34

2. त. सू. 5.35

3. त. सू. 5.36

4. त. सू. 5.37

5. त. रा. वा. 5.37.2.500

6. त. रा. वा. 5.36.2.499

बेर अधिक सूक्ष्म है।

स्थूलता:—इसका तात्पर्य है बड़ापन। यह भी दो प्रकार का होता है। अत्यंत स्थूलता और आपेक्षिकस्थूलता। अत्यंत स्थूल है- अचित्त महास्कंध और आपेक्षिक स्थूलता है- बेर की अपेक्षा आंवले की स्थूलता।¹

संस्थान:—संस्थान (आकृति) पर्याय दो प्रकार का होता है- (1) इत्थंलक्षण और (3) अनित्यंलक्षण।

इत्थंलक्षण:—जिसको परिभाषित किया जा सके जैसे गोल, तिकोना, चौकोना, लम्बा, चौड़ा आदि।

अनित्यंलक्षण:—जिसको परिभाषित नहीं किया जा सके। जैसे बादल की आकृति आदि।²

भेद पर्याय:—भेद अर्थात् विभाजन। यह स्कंध के टूटने से बनती है। यह छः प्रकार की होती है, उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटण।

उत्कर:—करोत आदि से लकड़ी आदि को जो चीरा जाता है, वह उत्कर है।

चूर्ण:—जौ, गेहू आदि का सत्तु कनक आदि जो बनाया जाता है, वह चूर्ण है।

खंड:—घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं, खंड है।

चूर्णिका:—उड़द और मूँग आदि के जो खण्ड किए जाते हैं, वे चूर्णिका है।

प्रतर:—बादल के बिखर-बिखर कर अलग-अलग जो पटल बन जाते हैं, वह प्रतर कहलाता है।

अणुचटण:—तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो फुलंगे निकलते हैं वह अनुचरण है।³

अंधकार पर्याय:—दृष्टि का प्रतिबंधकर्ता अंधकार है। दीपक उस अंधकार को हटाने वाला होने के कारण प्रकाशक होता है।⁴

1. त. रा. वा. 5.24 10-11 488 एवं स. सि. 5.24 572

2. त. रा. वा. 5.24 12.13 488-89

3. स. सि. 5.24 573

4. त. रा. वा. 5.24 15.489

कुछ दार्शनिक अंधकार को पुद्गल की पर्याय न मानकर प्रकाश का अभाव कहते हैं और उसके चार कारण बताते हैं:-

- (1) क्योंकि इसमें कठोर अवयव नहीं है।
- (2) क्योंकि यह अप्रतिघाती है।
- (3) क्योंकि इसमें स्पर्श का अभाव है।

(4) इसमें खण्डित अवयवीरूप द्रव्य विभाग की प्रतीति नहीं होती। परंतु जैन दर्शन इनका खण्डन करते हुए कहता है कि अंधकार भी प्रकाश की तरह चक्षु का विषय है। प्रकाश के परमाणु ही अंधकार के पर्याय में परिणत होते हैं। यह भी दृष्टिगत होता है, अतः स्पर्शवान् है क्योंकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण में से किसी एक के रहने पर बाकी के तीन गुण उसमें अवश्य रहते हैं। यही पुद्गल का लक्षण भी है। अतः प्रकाश और अंधकार में किसी प्रकार का अंतर नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि दीपकके परमाणु अंधकार पर्याय (विसदृश) में कैसे परिणत हो सकते हैं? निम्नलिखित उदाहरण से इस प्रश्न का समाधान हो जायेगा। प्रकाशवान् अग्नि से गीले इंधन के सहयोग से अप्रकाशवान् धुएँ की उत्पत्ति होती है। अतः यह नियम नहीं हो सकता कि सदृश से सदृश कार्य ही उत्पन्न हो। अमुक सामग्री मिलने पर विसदृश कार्य भी उत्पन्न होते हैं।¹

विज्ञान ने भी अंधकार को प्रकाश की तरह स्वतंत्र पदार्थ माना है। विज्ञान के अनुसार अंधकार में भी उपस्तु रक्त ताप किरणों के सद्भाव हैं जिनमें बिल्ली और उल्लू की आँखें तथा कुछ विशिष्ट अचित्रिय² पट (Photographic Plates) प्रभावित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि अंधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश से (visible light) से पृथक् है।

छाया:—प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है।³ प्रकाश पथ में अपारदर्शक कार्यों (Opaque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है। छाया अंधकार की कोटि का ही एक रूप है। यह भी प्रकाश का अभाव

1. स्याद्वादमंजरी 5.16.18

2. हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ. 385

3. स.सि. 5.24.572

न होकर पुद्गल की पर्याय है। छाया दो प्रकार की होती है। दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्यों में आदर्श के रंग आदि की तरह मुखादि का दिखना, तद्वर्ण परिणत छाया तथा दूसरी प्रतिबिम्ब मात्र होती है।'

विश्व में प्रत्येक इन्द्रियगोचर होने वाले मूर्त पदार्थ से प्रतिपल तदाकार प्रतिच्छाया प्रतिबिम्ब के रूप में निकलती रहती है और वह पदार्थ के चारों ओर निरंतर आगे बढ़ती रहती है। मार्ग में जहाँ उसे अवरोध मिलता है, वहाँ ही वह दृश्यमान होती रहती है। प्रतिच्छाया के रश्मिपथ में दर्पणों (Mirrors) और अणुवीक्षों (Lenses) का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण है। इसी प्रकार के आवरण से वास्तविक (Real) और अवास्तविक (Virtual) प्रतिबिम्ब बनते हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं। वर्णादि विकार परिणत और प्रतिबिम्ब मात्रात्मक।²

वर्णादि विकार परिणत छाया में विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जा सकते हैं, जो विपर्यस्त (Inverted) हो जाते हैं और जिनका परिमाण (Size) बदल जाता है। ये प्रतिबिम्ब प्रकाश रश्मियों के वास्तविक (Actually) मिलन से बनते हैं। प्रतिबिम्बात्मक छाया के अन्तर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिम्ब (Virtual Images) रखे जा सकते हैं जिनमें केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है। प्रकाश रश्मियों के मिलने से ये प्रतिबिम्ब नहीं बनते।³

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे एलेक्ट्रानिक तोलमापी यंत्र तैयार किये हैं जिनकी सूक्ष्म मापकता अकल्पनीय है, जिनमें 1000 पृष्ठों के ग्रन्थों के अंत में बढ़ाये हुए एक फुलस्टाप, परछाईं जैसी 'न कुछ' वजनी वस्तुओं के भार भी ज्ञात किये जा सकते हैं।⁴ विज्ञान लोक का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि परछाईं पदार्थ है। और वह इतना भारवान भी है कि उसे तौला जा सकता है।

प्रतिबिम्ब कभी-कभी मृग मरीचिकाओं के रूप में भी प्रकट होते हैं। गर्मी में दोपहर के समय रेगिस्तान जहाँ मीलों तक पानी का नामोनिशान नहीं होता, वहाँ पानी से भरे जलाशय दिखते हैं। मृग अपनी प्यास बुझाने जाता है, पर उसे वहाँ पानी नहीं मिलता। वह दूसरी जगह जाता है, जहाँ उसे

1. त. रा. वा. 5.24 16., 17.489

2. स. सि. 5.24 572

3. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ. 385

4. विज्ञान लोक दिसम्बर 1964 पृ. 42

पानी नजर आता है, पर वहाँ भी नहीं मिलता। वह इधर-उधर दौड़ता है और अंत में तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे देता है। इस प्रकार के सभी दृश्य जो सचमुच कुछ नहीं होते, केवल दिखायी देते हैं, उसे मृग मरीचिका के नाम से संबोधित किये जाते हैं।

ये मृग मरीचिका वस्तुओं का अस्तित्व न होने पर भी दिखायी देना, एक वस्तु होने पर भी उसके अनेक प्रतिबिंब दिखना, वस्तुओं का अदृश्य होना आदि अनेक रूपों में स्पष्ट होती है।

मीमांसक की मान्यता “दर्पण में छाया नहीं पड़ती, परंतु नेत्र की किरणें दर्पण से टकराकर वापस लौटती हैं और अपने मुख को ही देखती हैं” उचित नहीं है। क्योंकि नेत्र की किरणें जैसे दर्पण से टकरा कर मुख को देखती हैं, उसी तरह दीवाल से टकराकर भी उन्हें मुख को ही देखना चाहिये। इस तरह जब किरणें वापस आती हैं तो पूर्वदिशा की तरफ जो मुख है, वह पूर्वाभिमुख ही दिखना चाहिये, पश्चिमाभिमुख नहीं। मुख की दिशा बदलने का कोई कारण नहीं है।¹

आतपः—जैन दर्शन में आतप को पुद्गल की ही पर्याय कहते हैं।² आतप शब्द तप धातु से बना हुआ है, जिसका अर्थ है ताप या उष्ण किरणें। सूर्य की धूप मात्र को आतप कहना अर्थ का संकोच है।

जैन दर्शन में अग्नि को आतप नहीं माना है। धूप को आतप माना है। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि वस्तु में रही हुई उष्णता वस्तु या द्रव्य का गुण है और उष्णता का वस्तु से अलग अस्तित्व वस्तु या द्रव्य का पर्याय है। आग रूप कोयला, लकड़ी आदि इंधन की उष्णता कोयला आदि वस्तुओं का उष्ण गुण है, आतप यह नहीं है। आतप है आग की आंच जो आग्नेय पदार्थों से भिन्न हो चारों ओर फैलती है और जिसका अनुभव आग से दूर बैठा व्यक्ति करता है। यद्यपि यह आग से निकली है, फिर भी इसका अस्तित्व आग से अलग है, जैसे सूर्य से निकली किरणों का सूर्य से अलग अस्तित्व है। ताप या धूप पर्याय होने के कारण स्थानान्तरित होती है।

जिस प्रकार इलेक्ट्रॉन तथा प्रोट्रॉन एक दृष्टि से पदार्थ है और दूसरे

1. त. रा. बा. 5.24 17.489

2. त. रा. बा. 5.24 18.489

दृष्टिकोण से वैद्युतिक तरंगों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी प्रकार प्रकाश विकिरण के संबंध में हम कह सकते हैं कि वह पदार्थ का तरंग रूप है और पदार्थ के संबंध में कह सकते हैं कि यह विकिरण का बर्फ की तरह जमा हुआ रूप है।¹

जैन दर्शन में आतप के लिये सूर्य की धूप को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। विज्ञान ने भी सूर्य की धूप को ही आधार मानकर खोज की है। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध खगोल शास्त्री विलियम हर्शेल ने एक प्रयोग किया था। उसने सूर्य किरणों के एक पुँज को प्रिज्म द्वारा झुकाकर थर्मामीटर की सहायता से यह जाना कि वर्णक्रम में लालरंग के नीचे थर्मामीटर रखा जाता है तो वह सबसे अधिक गर्म होता है। इससे यह परिणाम सामने आया कि सूर्य से आती अदृश्य किरणें जिन्हें अवरक्त किरणें कहा जाता है, यही किरणें आतप की किरणें हैं।

जिस प्रकार प्रकाश ऊर्जा की तरंगें हैं, उसी प्रकार अवरक्त किरणें भी ऊर्जा की तरंगें हैं और आज तो इस आतप रूप ऊर्जा का उपयोग बहुत कार्यों में होने लगा है।

जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आतप पुद्गल हैं। फोटो खींचकर विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया कि आतप पदार्थ है। क्योंकि फोटो पदार्थ का ही खींचा जाता है शून्य का नहीं। तापचित्र लेने के केमरे भी तैयार हो गये हैं। इन्हें थर्मोग्राफ कहा जाता है। ताप यदि पदार्थ न होता तो इसका चित्र लेना असंभव था।

तापचित्र के उपयोग से स्तन कैंसर को, भूमि में छिपी गैसों को, इंजन को खोले या बंद किये बिना ही उसकी खराबियों को ढूँढ़ा जा सकता है।

आशय यह है कि आज आतप या ताप की किरणों को ग्रहण किया जा सकता है तथा अनेक कार्यों में उसका उपयोग किया जा सकता है। विज्ञान के इस प्रयोगात्मक प्रस्तुतीकरण से अब सामान्य बुद्धिजीवी भी यह समझने लग गया कि वास्तव में आतप पुद्गल की ही पर्याय है।

अकलंक ने आतप की व्याख्या की "असातावेदनीय के उदय से जो अपने

1. नवनीत दिसम्बर 1955 पृ. 32

स्वरूप को तपता है या जिसके द्वारा तपाया जाता है या आतपमात्र को आतप कहते हैं।¹

उद्योतः—जो निवारण को उद्योतित करता है या जिसके द्वारा उद्योतित करता है या उद्योतनमात्र को उद्योत कहते हैं।²

चन्द्र, मणि, जुगनू आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।³ प्रभा, उद्योत, प्रकाश ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

वर्तमान में विज्ञान ने प्रकाश संबंधी पर्याप्त अन्वेषण किये हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज है लेसर किरणों। लेसर रश्मियाँ प्रकाश का घनीभूत रूप हैं। लेसर रश्मियों की शक्ति के संबंध में अनुमान लगाया गया है कि एक वर्ग सेंटीमीटर प्रकाशीय क्षेत्रफल में साठ करोड़ वॉट की शक्ति छिपी हुई है। सारी शक्ति को लैस द्वारा जब एक सेंटीमीटर में घनीभूत कर दिया जाता है तो उसमें निकलने वाली रश्मियाँ क्षण भर में मोटी से मोटी इस्पात की चादरों को गलाकर भेद देती हैं।

लेसर किरणों के कितने ही उपयोग हैं। किसी भी स्थान पर इन किरणों से न्यूनतम मोटाई का सुराख करना इतना ही सरल है जितना कि राइफल की गोली का मक्खन की डली में से निकलना। इन किरणों से इंच के दश हजारवें भाग तक लघु छिद्र करना संभव है।

क्षण भर में कठोर धातु को लेसर किरणों से पिघलाया जा सकता है। दो या अधिक धातुओं को पिघलाकर उन्हें जोड़ने की क्रिया सेकंडों में पूरी की जा सकती है।

आँखों के पीछे लगे परदे (रेटिना) के अपने स्थान से हट जाने से आदमी अंधा हो जाता है। इसका पहले कोई उपचार नहीं था। अब लेसर किरणों से रेटिना को पिघला कर उसे अपने स्थान पर जमा कर बड़ी ही सरलता से वेल्डिंग किया जा सकता है।

मानव शरीर में भी लेसर किरणों से बिना चीरफाड़ किये शल्य चिकित्सा संभव है। यदि इन किरणों को पृथ्वी पर एक स्थान-से-दूसरे-स्थान पर फेंकने

1. त. ग. वा. 5.24.1.485

2. त. ग. वा. 5.24.1. 485

3. त. ग. वा. 5.24.19.489

का प्रयत्न किया जाय तो काश्मीर में स्थित उपकरण से निकलने वाली लेसर किरणें कन्याकुमारी में रखी पंतीली में चाय उबाल सकती है।

एक गतिमान यान को पृथ्वी से ही लेसर किरणों द्वारा शक्ति पहुँचायी जा सकती है, जैसे कोई उपग्रह गति मंद होने के कारण नीचे गिरने लगे तो लेसर किरणों के दबाव से अपनी कक्षा में स्थापित किया जाता है। लेसर की एक घड़ी बनाई है, जो अंधों को मार्ग दर्शन दे सकती है। घड़ी की नोक से लेसर किरणें निकलेगी और मार्ग में रुकावट डालने वाली वस्तुओं से टकराकर पुनः उपकरण में लौट आयेंगी। लौटी हुई किरण द्वारा रुकावट डालने वाली वस्तुओं का ज्ञान थपकी द्वारा अंधे की हथेली पर आयेगा, जिससे वह जान सके कि उधर जाना ठीक नहीं।

आधुनिक विज्ञान ने प्रकाश को पदार्थ के साथ भारवान भी स्वीकार किया है। प्रकाश विशेषज्ञों का कथन है “सूर्य के प्रकाश विकिरण का एक निश्चित वजन होता है, जिसे आज के वैज्ञानिकों ने ठीक तरह से नाप लिया है। प्रत्यक्ष में यह वजन बहुत कम होता है। पूरी एक शताब्दि में पृथ्वी के एक मील के घेरे में सूर्य के प्रकाश का जो चाप पड़ता है, उसका वजन एक सेकण्ड के पचासवें भाग में होने वाली मूसलाधार वर्षा के चाप के बराबर है। यह वजन इतना कम इसलिये लगता है कि विराट् विश्व में एक मील का क्षेत्र नगण्य से भी नगण्य है। यदि सूर्य के प्रकाश के पूरे चाप का वजन लिया जाय तो वह प्रति मिनट 25,00,00,000 टन निकलता है। यह एक मिनट का हिसाब है। घण्टा, दिन, मास, वर्ष, सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों वर्षों का हिसाब लगाइये, तब पता चलेगा कि प्रकाश विकिरण के चाप का वजन क्या महत्व रखता है।¹

विज्ञान द्वारा पुष्ट जैन दर्शन में स्वीकृत प्रकाश भारवान और पुद्गल है।

पुद्गल के छः भेदः—नियमसार में कुंदकुंद ने एवं गोम्मटसार के जीवकाण्ड में पुद्गल के छः भेद बताये हैं - अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म।²

(1) अतिस्थूलः—जो स्कंध टूट कर पुनः जुड़ नहीं सके वे अतिस्थूल हैं—

1. नवनीत दिसम्बर 1955 पृ. 29.

2. नियमसार गा. 21

जैसे पृथ्वी, पर्वत आदि।¹

- (2) स्थूलः—जो स्कंध पृथक्-पृथक् होकर पुनः मिल सके, वे स्थूल कहलाते हैं, जैसे घी, जल, तेल आदि।²
- (3) स्थूल सूक्ष्म—यह स्कंध देखने में आते हो, परंतु भेदे नहीं जा सकते या हाथ आदि से ग्रहण नहीं किये जा सकते वे, स्थूलसूक्ष्म हैं, जैसे प्रकाश, छाया, अंधकार आदि।³
- (4) सूक्ष्मस्थूल—चार इन्द्रियों से (चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त) जिनके विषयों को ग्रहण किया जा सके, परंतु जिनका स्वरूप दिखायी दे, वह सूक्ष्म स्थूल है, जैसे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श।⁴
- (5) सूक्ष्म—जिनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सके अर्थात् जो इन्द्रियों से अगोचर है, वे सूक्ष्म हैं—जैसे कर्मवर्गणा आदि।⁵
- (6) सूक्ष्मसूक्ष्म—ये अत्यंत सूक्ष्म स्कंध, जो कर्मवर्गणा से भी छोटे द्वयणुक पर्यंत पुद्गल होते हैं, इनको भी इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, सूक्ष्म सूक्ष्म कहलाते हैं।⁶

पुद्गल परिणमन—ठाणांग में पुद्गल परिणमन के तीन कारण स्पष्ट किये गये हैंः—

- (1) प्रयोग परिणत—किसी भी जीव द्रव्य द्वारा गृहीत पुद्गल, जैसे जीव शरीर आदि।
- (2) मिश्र परिणत—जीव के प्रयोग तथा स्वाभाविक रूप से परिणत पुद्गल जैसे मृत शरीर।
- (3) विस्त्रसा परिणत—जिनका परिणमन या रूपान्तरण स्वभाव से ही हो जाता है—जैसे बादल, उल्कापात आदि।⁷

1. नियमसार गा. 22 पूर्वार्द्ध
2. नियमसार गा. 22 उत्तरार्द्ध
3. नियमसार गा. 23 पूर्वार्द्ध
4. नियमसार गा. 23 उत्तरार्द्ध
5. नियमसार गा. 24 पूर्वार्द्ध
6. नियमसार 23 उत्तरार्द्ध
7. ठाणांग 3.401

पुद्गल के प्रकार—पुद्गल दो प्रकार के होते हैं (क) जीव द्वारा ग्रहण किये हुए, (ख) और ग्रहण नहीं किये हुए पुद्गल।¹

पुद्गल द्रव्य के एक अपेक्षा से 23 भेद भी होते हैं।² इन 23 भेदों में मुख्य आठ भेद हैं। इन भेदों को वर्णना भी कहते हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, श्वास, वचन और मना।

औदारिक—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति इनके द्वारा औदारिक शरीर का निर्माण होता है।

वैक्रिय—इसका संस्कृत में वैकुर्विक रूप होता है। इसका अर्थ है विविध क्रिया। विशिष्ट क्रिया को करने में सक्षम विक्रिया है। उस विक्रिया को करने वाला वैक्रिय शरीर है। इस शरीर के पुद्गल मृत्यु के पश्चात् कपूर की तरह उड़ जाते हैं।

आहारक—विशिष्ट योगशक्ति संपन्न चौदह पूर्वधारी मुनि किसी विशिष्ट प्रयोजन विशेष से जिस शरीर की संरचना करते हैं, वह आहारक शरीर है।

तैजस—जो दीप्ति का कारण है और जिसमें आहार पचाने की क्षमता या सामर्थ्य होती है, वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अंगोपांग नहीं होते। तीनों शरीरों में यह शरीर अधिक सूक्ष्म होता है।

कार्मण—जो शरीर चारों शरीर के निर्माण का कारण है और जिस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों से होता है, वह कार्मण शरीर है। तैजस और कार्मण संसारी आत्मा के साथ जो रहता ही है। इन दोनों शरीरों के छूटते ही आत्मा शुद्ध बन जाती है।³

श्वासोच्छ्वास—यह श्वास लेने और निकालने योग्य पुद्गल समूह है।

भाषा—शब्द भी (वचन) पुद्गल की ही पर्याय है क्योंकि बोलते समय भाषा का भेदन-बिखराव होता है। यह चार प्रकार की है—सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार भाषा।⁴

1. षाण्ण 2.232

2. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 593.94

3. प्रज्ञापना 12.901

4. भगवती 13.7 7.9

मन—मन भी पुद्गल का समूह है। यह मनन करते समय ही मन कहलाता है। मन आत्मा नहीं है, अतः पुद्गल है। मन का भेदन होता है, अतः पुद्गल है। मन चार प्रकार का है—सत्यमन, असत्यमन, मिश्र मन, व्यवहार मन।¹

पुद्गल का स्वभाव चतुष्टयः—पुद्गल का विशद परिचय प्राप्त करने के लिये उसे चार दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया गया है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा अनंत द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा लोकप्रमाण है। काल की अपेक्षा शाश्वत है (परमाणु की अपेक्षा) और भाव की अपेक्षा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त है और गुण की अपेक्षा ग्रहण गुण की योग्यता वाला है।²

जिनेन्द्रवर्णी ने इसे और ज्यादा स्पष्ट किया है। स्वभाव को धारण करने वाले जो भी है, उसे द्रव्य कहते हैं। उसके आकार को क्षेत्र कहते हैं। उसके अवस्थान को काल कहते हैं तथा उसके धर्म और गुण को भाव कहते हैं।

स्वद्रव्य की अपेक्षा सामान्य रूप से पुद्गल द्रव्य एक है, परंतु प्रदेशात्मक परमाणु अनंतानंत है। एक बालाग्र स्थान पर अनंतानंत परमाणु रहते हैं।

स्वक्षेत्र की अपेक्षा सामान्य रूप से परमाणु एक प्रदेशी है, परंतु विशेष रूप से छोटे-बड़े आकारों को धारण करने वाले स्कंध अनेक प्रकार के हैं, कुछ संख्यात, कुछ असंख्यात और कुछ अनंतप्रदेशी हैं।

स्वकाल की अपेक्षा पुद्गल अनित्य हैं क्योंकि वे उत्पाद, विनाश करते रहते हैं।

स्वभाव की अपेक्षा पुद्गल मूर्तिक है, इन्द्रियगोचर हैं। गुण की अपेक्षा पुद्गल में वर्ण, गंध, रस, तथा स्पर्श पाये जाते हैं।

पुद्गल के उपकारः—संसारी जीव पुद्गल के अभाव में रह ही नहीं सकते। उनकी समग्रता पुद्गल द्वारा ही संपन्न होती है। हमारा शरीर (जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है) पुद्गल की ही देन है। भाषा, मन, प्राण, अपान आदि सब पुद्गल का ही उपकार है।³

जीवन में प्राप्त सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि समस्त पुद्गल के ही

1. भगवती 13.7 10-14

2. टाणांग 5.174

3. जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान पृ. 163.64

उपकार है, जैसे अनुचर मालिक की आज्ञा मानने को मजबूर है वैसे ही पुद्गल द्वारा निर्मित इन्द्रिय आदि जीव की आज्ञा मानते ही हैं।¹ हमने इस अध्याय में पुद्गल का विस्तृत विवेचन किया। अब प्रश्न उठता है कि पुद्गल को जानने का प्रयोजन क्या है?

मुख्य तत्व तो दो ही हैं-जीव और अजीव। जब तक जीव अजीव के स्वरूप, स्वभाव, और प्रकृति को नहीं समझ लेगा तब तक वह अजीव से मुक्त होने का न तो प्रयास कर सकेगा और न मुक्ति की रुचि पैदा होगी। पुद्गल का चित्र, विचित्र रंग बिरंगा आकर्षण जीव को मुग्ध करता रहेगा। जीव इस आकर्षण से मुक्ति हेतु तभी पुरुषार्थ करेगा, जब उसे हेय और उपादेय का सम्यक् ज्ञान हो जायेगा। वस्तु स्वरूप को जानकर ही जीव हेय (त्याज्य) का त्याग एवं उपादेय (ग्राह्य) को स्वीकार कर सकेगा।²

इस पंचास्तिकाय के स्वरूप को जानकर जो रागद्वेष को छोड़ता है, वही मुक्त होता है।

जैन दर्शन का लक्ष्य:—जैन दर्शन मात्र विवेचनात्मक दर्शन ही नहीं है, वह उपयोगी सिद्धांतों के प्रतिपादन द्वारा आचरण योग्य भी है। जैन दर्शन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है और उसी मुक्ति की प्राप्ति में अवरोधों को जानने का और आचरण का उपदेश जैन दार्शनिकों ने दिया है।³ षड्द्रव्य को भी इसीलिये समझना चाहिये।

जीव और पुद्गल का संबंध अनादि है, पर उसे समाप्त किया जा सकता है और शुद्ध आत्मस्वभाव प्रकट हो सकता है।⁴

1. त. मू. 5.20

2. प. का. 103

3. "आश्रवो भवहेतुः स्यात्...प्रपञ्चनम्" सर्वदर्शन संग्रह पृ. 4.39

4. रा. वा. 5.19 29.472

5

उपसंहार

जैन दर्शन के सभी सिद्धांतों में स्याद्वाद शैली स्पष्ट नजर आती है। प्रश्नों को स्याद्वाद के अन्तर्गत समाहित करने के प्रयास में जैन दर्शन को यद्यपि संशयवाद के आरोपों से घेरा गया, पर गहराई में जाकर अगर स्याद्वाद को समझें तो यह भ्रांति निरर्थक और निर्मूल साबित होगी।

वस्तु तत्त्व की मीमांसा भी जैन दर्शन में भेदाभेद की अपेक्षा से हुई है।

हम अपने व्यवहार में भी पदार्थ का एकांत स्वरूप स्वीकार नहीं कर सकते। पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि अगर उसके अन्य धर्मों का सर्वथा विच्छेद करके मात्र एक ही धर्म को मुख्य और सत्य मान लें तो व्यवहार भी खंडहर हो जाता है। जैन दर्शन के सामने भी यह कठिनाई खड़ी हो जाती अगर वह पदार्थ का एकांगी स्वरूप स्वीकार करता क्योंकि एकांगी स्वभाव में या तो अनात्मवाद रहेगा या शाश्वतवाद।

पदार्थ मात्र शाश्वत है तो चारों ओर परिवर्तन क्यों दिख रहा है? हमारे स्वयं के अंतर्मन में पनपते, बदलते भावों को हम महसूस करते हैं। बाह्य जगत में हमारे अत्यंत समीप शरीर की अवस्थाओं में प्रतिपल परिवर्तन होता है, फिर भी शरीर के परिवर्तन में कोई ऐसा शाश्वत और अकम्प तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर परिवर्तन की संभाव्यता है और यही अशाश्वत के मध्य शाश्वत जैन दर्शन का वस्तु स्वरूप है जिसे “तत्त्व क्या है? गौतम स्वामी के प्रश्न पर महावीर प्रभु ने “उवगमेई वा, विगमेई वा धुवेई वा” कहा था जो दर्शन में त्रिपदी के नाम से पहचाना जाता है।

मैंने अपने इस शोध प्रबंध में इसी उत्पन्न, विनाश और ध्रौव्य के स्वरूप और लक्षण को विवेचित करने का प्रयास किया है।

हमारी सृष्टि द्वन्द्वात्मक है। चेतन और अचेतन इन दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है और इसे जैन दर्शन ने षड्रव्यों में विभक्त किया है। इन्हीं षड्रव्यों का सतत परिवर्तन संसार की व्यवस्था को संतुलित रखता है।

अगर मात्र शाश्वतवाद पर हमारी श्रद्धा स्थिर होती तो स्पष्ट दृष्टिगत हो रहे परिवर्तन को क्या कहते? इसे मात्र मिथ्या या असत्य कहकर नकारना कैसे उचित होता? जो चीज स्पष्टतः इन्द्रियग्राह्य बन रही है, उसे मात्र मिथ्या मानकर उसका अस्तित्व कैसे उड़ाया जा सकता है? अगर सारा जगत् मिथ्या है तो सम्यक् कुछ भी नहीं रहेगा।

जैन दर्शन ने इसे मिथ्या कहने की बजाय आत्मभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को पर पदार्थ कहकर उसके अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान की।

पर द्रव्यों में जब तक आत्म बुद्धि है, तब तक संसार है और ज्योंहि यह आत्मभाव समाप्त हुआ, जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति है। पर द्रव्य को हम मिथ्या या असत् नहीं कह सकते। उनका अपना अस्तित्व है।

मात्र अशाश्वत को स्वीकार करते तो भी वही दार्शनिक समस्या थी। अगर मात्र परिवर्तन ही परिवर्तन रहे तो कर्त्ता किसे कहें? कारण और कार्य में उपादान और उपदेय भाव भी कैसे बनेगा? यदि उपादान कारण सर्वथा क्षणिक है तो कार्यकाल तक स्थिर नहीं रहेगा और कार्योत्पत्ति के एक क्षण पूर्व ही नष्ट हो जाता है तो जिस प्रकार दो घण्टा अथवा दो दिन पहले नष्ट हुआ कारण कार्योत्पत्ति में निमित्त नहीं होता, उसी प्रकार एक क्षण पूर्व भी नष्ट हुआ कारण कार्योत्पत्ति में निमित्त नहीं बनता। अतः यह मानना होगा कि सत् और असत् दोनों भावों का समन्वय ही वस्तु के विवेचन में सहायक है।

सत् और असत् को विरोधी नहीं कह सकते क्योंकि इन दोनों का सद्भाव एक दृष्टि से नहीं है। सत् भी अपेक्षा से है, असत् भी अपेक्षा से है। सत् द्रव्य की अपेक्षा से है और असत् पर्याय की दृष्टि से है।

उपनिषद् के सत् से जैन दर्शन के सत् की तुलना कुछ अपेक्षा से तर्कसंगत नहीं जान पड़ती क्योंकि उपनिषद् का सत् ब्रह्म भी बनता है और साथ ही स्वयं तो व्यवस्थापक के रूप में सत्यस्वरूपी रहता ही है व अपनी सृष्टि

को माया या असत्य के रूप में स्वीकृति देता है। यह न्याय और युक्तियुक्त कैसे है?

उपनिषद् के अंश की तुलना एक अपेक्षा से अर्थात् आत्मा परमात्मा के दृष्टिकोण से की जा सकती है। परमात्मा पूर्ण है, आत्मा अपूर्ण। उसकी मंजिल का प्रारंभ निगोद से है, पर अंत परमात्मा या सर्वज्ञता में है, परंतु वह किसी द्वारा सर्जित नहीं है, अंश अपूर्णता की अपेक्षा से है।

सांख्य ने पुरुष को भोक्ता तो स्वीकार किया, पर कर्त्ता नहीं। द्वैतवादी सांख्य के पुरुष की तुलना जैन दर्शन के सर्वज्ञ से की जा सकती है और नहीं भी। सांख्य का पुरुष विकार रहित शुद्ध स्वरूपी है, पर साथ ही वह इन्द्रियों के विषय का भोक्ता है तो कर्त्ता कौन है? अगर कर्त्ता इन्द्रियां या प्रकृति मात्र है तो इन दोनों का संयोग क्यों और किसने किया और क्यों इन्द्रियाँ पुरुष के लिये सुख के साधन उपलब्ध करवाती है? कर्त्ता भोक्ता भिन्न कैसे संभव हैं।

बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक भी मानते हैं और साथ ही उनमें मोक्ष की, पुनर्जन्म की परिकल्पना भी उपलब्ध होती है। मोक्ष और पुनर्जन्म किसका होगा क्योंकि जो पुरुषार्थ या त्रिविध साधना का कर्त्ता है, वह तो दूसरे ही क्षण बदल जाता है।

उपनिषद् मात्र ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार करके संपूर्ण संसार को मिथ्या घोषित करते हैं, परंतु यह तर्क संगत नहीं हो सकता। ब्रह्म तो चेतन है उससे अचेतन तत्व कैसे उत्पन्न हुआ होगा? ब्रह्म पूर्ण सुखी आनंदमय है तो उसी के अंश दुःखमय कैसे संभव है? क्रिया परिणाम भिन्न-भिन्न क्यों है? एक की मृत्यु दूसरे का जन्म, एक के कर्म स्वर्ग योग्य, दूसरे के नरक के योग्य कैसे हो सकते हैं?

जो संसार हमारे सामने है, उसे सर्वथा मिथ्या कैसे कहा जा सकता है जबकि वह विद्यमान है, उसका अनुभव किया जाता है। जैनाचार्यों ने यद्यपि संसार को अशाश्वत कहा पर सर्वथा नहीं, जीव और संसार या पुद्गल के संयोग की अपेक्षा से कहा है, अन्यथा जैन दर्शन की तो यह स्पष्ट मान्यता है कि न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होता है, न पुराना नष्ट। कुछ दार्शनिक आत्मा

को कूटस्थ-नित्य मानते हैं, कुछ आत्मा को भोक्ता, कुछ भूतचतुष्टय को ही चेतन मानते हैं, परंतु जैन दर्शन का दृष्टिकोण भिन्न है। जैन दर्शन मुख्य दो तत्त्व मानता है- चेतन और अचेतन। अचेतन को पाँच भागों में विभक्त किया और इस प्रकार जैन दर्शन की संपूर्ण सृष्टि छः द्रव्यों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है।

जैन दर्शन की द्रव्य विषयक व्याख्या के अनुसार जो मूल स्वभाव का त्याग किये बिना उत्पाद विनाश करे वह द्रव्य है, जैसे जीव का स्वभाव है उपयोग या चेतना। जीव इस स्वरूप से कभी अलग नहीं होता। वह चेतना अभिव्यक्त हो या नहीं या अन्यों के अनुभव में आये या नहीं पर न्यूनाधिक रूप से रहती अवश्य है। जीव की पर्याय बदलती है, कभी वह नारकी होता है तो कभी देव और कभी मनुष्य परंतु रहेगा तो जीव ही, अजीव नहीं होगा।

व्यय और उत्पाद तो वस्तु के दोनों अनिवार्य सिरे हैं। जहाँ उत्पाद है, वहाँ व्यय भी अवश्य है, जहाँ व्यय है, वहाँ उत्पाद भी अवश्य। हम द्रव्य को देख नहीं पाते, हम उसकी पर्याय मात्र देखते हैं। हमारा सारा ज्ञान पर्याय का ज्ञान है। द्रव्य अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त।

हम आकृति पर्याय देखकर तय करते हैं, कि यह मनुष्य है। हम अपनी आँख से उसका रूप देख सकते हैं, कान से शब्द सुनकर निर्णय कर सकते हैं। उसकी आकृति, उसके शब्द ये सब पर्याय है। इस शब्द और स्वरूप का कारण उसकी आत्मा तो अव्यक्त है और उस आत्मा की ऐसी एक नहीं अनेक पर्यायें भूत एवं भविष्यत काल में हो चुकी हैं, परंतु वह आत्मा वैसा ही रहा। पर्याय के परिवर्तन से आत्मा का परिवर्तन जैन दर्शन को मान्य नहीं है।

इस उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण में जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धांत अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। अगर स्याद्वाद को नहीं अपनाया होता तो जैन दर्शन भी उन्हीं आरोपों और दोषों से घिर जाता जो एकांतवादी दर्शनों में आए।

महावीर ने स्याद्वाद के आधार पर ही सारी व्याख्याएं दीं। उनसे पूछा- आत्मा नित्य है या अनित्य? महावीर ने कहा-अस्तित्व की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य। इस स्याद्वाद के कारण जैन दर्शन की आत्मा

की कर्ता भोक्ता की व्याख्या भी सिद्ध हो गयी और अस्तित्व की अनिवार्य शर्त परिणमन की समस्या भी हल हो गयी। अर्थक्रियाकारित्व तभी घटित होगा जब वस्तु नित्यानित्य होगी।

अगर हम नित्य वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व स्वीकार कर लें तो प्रश्न होगा कि वह अर्थक्रिया क्रम से होगी या अक्रम से? अगर हम यह मानें कि क्रम से होगी तो यह तर्क संगत नहीं लगेगा क्योंकि जब वस्तु समर्थ है तो वह एक ही क्षण अर्थक्रिया क्यों नहीं कर लेगी? जब वह समर्थ है तो काल अथवा अन्य सहकारी कारणों का इंतजार क्यों करेगी? अगर इंतजार करती हैं तो उसका सामर्थ्य आहत होता है।

अगर हम यह मान लें कि जिस प्रकार समर्थ होते हुए भी बीज पृथ्वी, जल, वायु आदि के सहयोग से ही अंकुर को उत्पन्न करता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहयोगी कारणों के बिना अर्थक्रिया नहीं करता। तो फिर प्रश्न उठेगा कि वह सहकारी कारण नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते हैं या नहीं? यदि उपकार करते हैं तो यह उपकार पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न है? यदि वह सहकारी कारण अभिन्न है तो नित्य पदार्थ ही अर्थक्रिया करता है।

अगर सहकारी नित्य पदार्थ से भिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि सहकारी कारण और पदार्थ में क्या संबंध होता है? इन दोनों में संयोग संबंध बन नहीं सकता क्योंकि संयोग संबंध दो द्रव्यों में होता है जबकि एक द्रव्य है, एक क्रिया है। न समवाय संबंध बन सकता है क्योंकि वह तो एक है और व्यापक है। अगर समवाय संबंध स्वीकार करेंगे तो फिर नित्य पदार्थ और अर्थक्रिया की भिन्नता भी नहीं रहेगी।

अतः हमें यह मानना होगा कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थ में क्रम से तो संभव नहीं है। अब अगर यह कहें कि क्रम से न होकर नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया अक्रम से होती है तो भी संभव नहीं है क्योंकि अगर एक साथ ही अर्थक्रिया कर ली तो दूसरे क्षण में वह क्या करेगा?

अतः यह संभव ही नहीं है कि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करें। अगर सांख्य के नित्यवाद में अर्थक्रिया संभव नहीं है तो क्या बौद्ध के क्षणिक पदार्थ में

अर्थक्रिया संभव है? यह भी उचित और तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि मात्र जिसका अस्तित्व हो वहाँ क्रम से अर्थक्रिया हो नहीं सकती। देश और काल का क्रम क्षणिक पदार्थ में संभव ही नहीं है।

अगर यह कहा जाय कि संतान की अपेक्षा पूर्व और उत्तर क्षण में क्रम संभव हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि संतान कोई वस्तु नहीं है। यदि संतान को वस्तु स्वीकार किया जाय तो संतान क्षणिक है या अक्षणिक। संतान को क्षणिक मानने पर संतान में क्षणिक पदार्थों से कोई विशेषता नहीं होगी। अक्रम से भी अर्थक्रिया क्षणिक पदार्थ में संभव नहीं है क्योंकि जब बौद्ध लोग निरंश पदार्थ से अनेक कार्यों की उत्पत्ति मानते हैं तो फिर नित्य पदार्थ में क्रम से अनेक कार्यों की उत्पत्ति में क्यों दोष देते हैं? अतः क्षणिक पदार्थ में अक्रम से भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकता; और एकांत अनित्य पदार्थ में क्रम व्यापकों की निवृत्ति होने से व्याप्त अर्थक्रिया भी नहीं बन सकती। अर्थक्रिया के अभाव में क्षणिक पदार्थ में अस्तित्व का ही अभाव हो जाता है।

जैन दर्शन नित्यानित्यत्व की मान्यता के कारण इन दूषणों से सुरक्षित हैं क्योंकि जैन दर्शन तो प्रत्येक पदार्थ को उत्पाद व्यय युक्त पदार्थ की दृष्टि से और द्रव्य की दृष्टि से स्वीकार करता है चाहे वह जड़ हो या चेतन। यह नित्यानित्य भी प्रतिक्षण होता है। अगर बाह्य निमित्त मिले तो उनसे अन्यथा स्वयं अंतरंग रूप से परिणमन करता रहता है।

जैन दर्शन ने नित्य का लक्षण अनुत्पन्न, अप्रत्युत और स्थिर रूप न स्वीकार कर द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वीकार किया और उसने नित्य का लक्षण दिया- अपने स्वरूप का नाश जो नहीं होता।

पुद्गल और आत्मा का ही परिणमन स्वीकार नहीं किया, अपितु धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का भी परिणमन स्वीकार किया है। यद्यपि उनका स्वाभाविक परिणमन ही स्वीकार्य है, क्योंकि इनका वैभाविक परिणमन संभव नहीं है। जीव और पुद्गल में भी जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण परिणमन नहीं होता। इस परिवर्तन में जो समानता होती है, वह द्रव्य है और जो असमानता है, वह पर्याय है। द्रव्य में उत्पाद की स्थिति होने पर भी उसकी स्वरूप हानि कभी नहीं होती।

जिस द्रव्याक्षरत्ववाद की स्थापना 1989 में Lowoisier (लाओजियर) वैज्ञानिक ने की, उसकी तुलना अगर हम जैन दर्शन के द्रव्य स्वरूप से करें तो कोई अनुचित नहीं होगा। क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार भी अनंत विश्व में द्रव्य का परिणमन होता है, पर द्रव्य का विनाश कभी नहीं होता। कोयला जलकर राख हुआ। हमने व्यवहार की भाषा में कह दिया— कोयला जल कर नष्ट हो गया परंतु गहराई में वह नष्ट नहीं हुआ, अपितु वायुमंडल के ऑक्सीजन के अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो गयी।

इसे जैन दर्शन परिणामी नित्यवाद भी कहता है। इसी परिणामी नित्यवाद की आधारशिला से जैन दर्शन के चिंतन का महल तैयार हुआ है।

सांख्य भी परिणमन स्वीकार करता है, पर मात्र प्रकृति का, पुरुष का नहीं। नैयायिक, वैशेषिक आत्मा को नित्य तथा घट पट को अनित्य मानते हैं, परंतु जैन दर्शन तो संपूर्ण द्रव्य मात्र का प्रतिक्षण परिणमन स्वीकार करता है।

अगर हम इसे यों कहें कि जैन दर्शन कहीं वस्तु में स्वभाव और विभाव दोनों की स्वीकृति देता है। स्वभाव पर निरपेक्ष है और विभाव परसापेक्ष। आत्मा जब परसापेक्ष है अर्थात् विभाव दशा में है तब तक संसार है, ज्योंहि पर निरपेक्ष बना वह शुद्ध स्वरूपी बनकर अंतिम मंजिल प्राप्त कर लेता है।

आत्मा के स्वतंत्र स्वरूप की जो व्याख्या जैन दर्शन प्रस्तुत कर पाया है, वह किसी अन्य दर्शन में उपलब्ध नहीं होती क्योंकि उपनिषद् ने एक ही ब्रह्म की कल्पना की है तो सांख्य ने मात्र पुरुष को भोक्ता के रूप में ही स्वीकृति दी है और बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानता है और इन सभी एकांतवादी मान्यताओं के कारण अनेक जिज्ञासाएँ उभरती हैं, परंतु समाधान का अभाव रहता है।

जैन दर्शन ज्ञान और दर्शन दोनों से युक्त को ही आत्मा मानता है, जबकि वैशेषिक की मान्यता है कि ज्ञान आगंतुक गुण है और आत्मा से सर्वथा भिन्न है। ज्ञान और आत्मा का संबंध समवाय से बनता है। आत्मा स्वयं जड है। उसके अनुसार अगर ज्ञान और आत्मा को एक ही माना जाए तो मुक्ति में जब आत्मा के विशेष गुण बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,

और संस्कार आदि के समाप्त होने पर आत्मा का भी अभाव होना चाहिये क्योंकि जैन मत इनका विनाश ही मुक्ति मानता है, परन्तु वैशेषिकों का यह तर्क उचित नहीं है। सर्वप्रथम तो ज्ञान और आत्मा में समवाय संबंध कैसे बनता है? समवाय तो एक ही है और व्यापक भी! अगर यह माने कि ज्ञान और आत्मा में समवाय दूसरे समवाय से रहता है तो इस प्रकार समवायों की अनंत श्रृंखला माननी होगी और अनंत समवाय मानने से अनवस्था दोष आएगा।

यदि यह सोचें कि समवाय में समवायांतर मानने की आवश्यकता नहीं है, वह अपने आप ही रहता है तो ज्ञान और आत्मा में भी वह अपने आप रह लेगा। वैशेषिक इसे स्पष्ट करने के लिये दीपक का उदाहरण देते हैं कि दीपक का स्व पर प्रकाशक स्वभाव है, परन्तु दीपक का दृष्टांत घटित नहीं होता क्योंकि दीपक द्रव्य है और प्रकाश उसका धर्म है जबकि वैशेषिक तो धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानते हैं। अतः यह मानना ही युक्तियुक्त है कि ज्ञान आत्मा का आगंतुक गुण नहीं, स्वाभाविक गुण है। गुण और पर्याय ही सत् का लक्षण है।

षड् द्रव्यों का भिन्न भिन्न निरूपण—

जैन दर्शन ने सृष्टि को छः पदार्थों में समाहित किया है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जैन दर्शन की अपनी मौलिक धारणा है। इनके संबंध में जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन ने न तो धारणा बनायी और न सिद्धि की। मध्ययुगीन विज्ञान धर्मास्तिकाय को यद्यपि “ईथर” के नाम से अस्तित्व में लाया था, परन्तु वर्तमान के विज्ञान ने ईथर का निरसन कर दिया है।

यदि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व नहीं होता तो पदार्थों की संतुलित व्यवस्था नहीं होती और उसके अभाव में या तो पदार्थ अनंत में भटकते रहते या मात्र स्थिति ही रहती। फिर जीव और पुद्गल की मोक्ष तक ही न तो गति रहती और न स्थिति ही। लोक और अलोक का जो विभाजन है, वह भी इन दोनों द्रव्यों के कारण ही है।

यहाँ यह भी स्पष्ट समझना चाहिये कि ये दोनों उदासीन सहायक है।

यह नहीं कि जीव और पुद्गल को ये जबरन गति या स्थिति हेतु प्रेरित करते हैं। इन दोनों द्रव्यों में परिणमन भी शुद्ध होता है। द्रव्य का मूल स्वभाव परिणमन है और इस परिणमन स्वभाव के कारण पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करने का क्रम अनादि काल से सतत चालू है और यह प्रवाह अनंतकाल तक चालू ही रहेगा।

इन दोनों तत्त्वों को मानने की अनिवार्यता इसलिए पैदा हुई कि किसी ऐसे तत्त्व की आवश्यकता थी जो जीव और पुद्गलों के गति और स्थिति को नियंत्रित करे। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड, और अनंत प्रदेशी द्रव्य है। उसकी सत्ता सर्वत्र समान है, अतः उसके इतने प्रदेशों तक पुद्गल और जीवों का गमन है, आगे नहीं। यह नियंत्रण अखण्ड आकाश द्रव्य नहीं कर सकता क्योंकि उसमें प्रदेश भेद होने पर भी स्वभाव भेद नहीं है।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य भी गति और स्थिति में सहायक नहीं बन सकते क्योंकि वे तो स्वयं गति और स्थिति करने वाले हैं। काल मात्र परिवर्तन स्वभावी है। अतः धर्म और अधर्म द्रव्य को लोक और अलोक के मध्य विभाजक तत्त्व की मान्यता दी और उसे गति स्थिति में उदासीन सहायक द्रव्य के रूप में स्थापित किया।

आकाश द्रव्यः—समस्त जीव-अजीव का आश्रय दाता/स्थान देने वाला आकाश तत्त्व है। जैन दर्शन ने आकाश का गुण अवगाह माना है जबकि न्याय वैशेषिक ने शब्द को आकाश का गुण माना है, परन्तु शब्द पौद्गलिक इन्द्रियों से गृहीत है, पुद्गलों से टकराता है, स्वयं पुद्गलों को रोकता है और पुद्गलों से भरा जाता है, अतः वह पौद्गलिक ही हो सकता है।

जैन दर्शन शब्द को पुद्गल की भाषावर्गणा मानता है। शब्द के आश्रित द्रव्य परमाणु इन्द्रिय का विषय होने से वायु की अनुकूलता पर दूर स्थान पर खड़े श्रोता तक पहुँच जाते हैं और वायु की प्रतिकूलता पर समीप बैठे श्रोता तक भी नहीं जा पाते। अतः जिस प्रकार गंध इन्द्रिय का विषय होने के कारण पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से पौद्गलिक है। आज विज्ञान के क्षेत्र में भी शब्द का पौद्गलिक स्वरूप सिद्ध हो चुका है। टी.वी. टेलीफोन, रेडियो आदि यंत्रों के माध्यम से शब्दों की तरंगों को

पकड़ना जैन, दर्शन के शब्द की पुद्गल व्याख्या को ही मान्यता देता है। शब्द आकाश का गुण इसलिये भी नहीं हो सकता कि आकाश तो नित्य है और शब्द अनित्य। यद्यपि यह कहा जाता है कि रामायण और महाभारत कालीन शब्द भी विज्ञान द्वारा कभी न कभी प्रकट किया जायेगा, परन्तु यह मानना असंभव है।

विज्ञान उसी कार्य की क्रियान्विति कर सकता है, जो संभव है। अगर विज्ञान से यह अपेक्षा रखी जाए कि वह समाप्त हुए शरीर को पुनः वैसा ही बना दें या व्यतीत हुई ऋतुओं को पुनः आमंत्रित करे तो यह असंभव होगा। अतः हम कह सकते हैं कि शब्द गुण नहीं, पर्याय है क्योंकि वह अनित्य है। गुण इसलिए भी नहीं है कि शब्द उत्पन्न होता है। गुण कभी उत्पन्न नहीं होता। गुण त्रैकालिक होते हैं। नित्य आकाश का अनित्य शब्द गुण कैसे हो सकता है? अगर शब्द नित्य और स्थायी होता तो आज सर्वत्र शोर ही शोर होता और भयंकर अशांति का माहौल हो जाता। फिर खामोशी या निस्तब्धता संभव ही नहीं थी। परन्तु ऐसा नहीं है। इसी से लगता है, शब्द न आकाश का गुण है, न पुद्गल का वह तो मात्र पुद्गल की अशाश्वत पर्याय है।

शब्द आकाश का गुण इसलिये भी संभव नहीं है कि आकाश अमूर्तिक और स्थिर है। उसमें किसी प्रकार के कंपन की संभावना नहीं है, जबकि शब्द तो साक्षात् कंपन है। किसी बजते हुए घंटे पर हाथ रखकर देखें तो हमें इस बात का विश्वास हो जायेगा। जब तक कंपन है, तभी तक शब्द है। ज्योंहि कंपन रुका, शब्द तुरंत बन्द हो जाएगा। अतः यह तर्क और विज्ञान दोनों द्वारा प्रमाणित है कि शब्द पुद्गल की ही क्षणिक पर्याय है न कि आकाश का गुण।

शब्द कंपन के कारण होता है। पुद्गल में प्रकट होने वाला कंपन वायु मंडल में आ जाता है और वायुमण्डल सर्वत्र विद्यमान होने से उस कंपन का भी स्पर्श कर लेता है। उसी वायुमंडल का वह कंपन हमारे कानों का भी स्पर्श करता है, अतः जो शब्द हम सुनते हैं, वह उस वायु का ही कंपन है। अगर वायु विपरीत दिशा में बह रही है तो हमको वह शब्द सुनाई नहीं देता क्योंकि वह कंपन वायु की दिशा में बह जाता है और अगर वायु हमारी दिशा में बह रही हो तो दूर का शब्द भी सहज ही सुनने में आ जाता

है, यह बात हमारे अनुभव में भी अक्सर आ जाती है। बादल तथा बिजली की कड़कड़ाहट सहजतया हमारे सुनने में आती है क्योंकि वहाँ वायु मंडल है, परन्तु सूर्य में होने वाले विस्फोट हम नहीं सुनते क्योंकि वहाँ के वायुमंडल और पृथ्वी के वायुमंडल के बीच में बड़ा अंतराल है अर्थात् सूर्य के वायुमंडल और पृथ्वी के बीच में बड़ा अंतराल है। इन दोनों के बीच कोई संबंध नहीं है। इनके मध्य मात्र आकाश है। अगर शब्द आकाश का गुण होता तो सूर्य में होने वाला विस्फोट अवश्य सुनाई देता क्योंकि आकाश सर्वत्र है।

जैन दर्शन ने आकाश का गुण शब्द न मानकर अवगाहन माना है। समस्त पदार्थों को रहने का स्थान देना और किसी प्रकार की रुकावट न डालना, इसे आगम भाषा में अवगाहन कहते हैं। अवगाहन का अर्थ-मात्र इतना ही नहीं कि पृथक्-पृथक् पदार्थ अपने-अपने स्थान पर स्थित रहे, अपितु अवगाहन का अर्थ है- पदार्थ चाहे जहाँ ठहर जाय। इसी गुण के कारण पदार्थ चाहे जहाँ प्रवेश भी पा सकता है और रह भी सकता है, जैसे शीशे में प्रकाश प्रविष्ट भी हो जाय और स्थित भी हो जाय।

आज के विज्ञान में यह प्रयोग सिद्ध है कि पदार्थ एक दूसरे में समाविष्ट हो जाता है। एक्सरे की किरणें, चुंबक की किरणें तथा रेडियो की विद्युत तरंगें जो कि सूक्ष्म पदार्थ है, अन्य पदार्थ में प्रवेश पाते हुए स्पष्ट देखते हैं। एक्स-रे शरीर में से आरपार हो जाता है और सामने वाली प्लेट पर शरीर के अन्दर का फोटो खिंच जाता है। रेडियो की विद्युत तरंगें पर्वतों तक को भेदकर दूर-दूर देशों से हमारे पास चली आती हैं।

जैसा कि आकाश के प्रदेशों के विवेचन में हमने स्पष्ट किया था कि आकाश के असंख्यात प्रदेश है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकाश के असंख्यात प्रदेशों में अनन्तानन्त पदार्थ कैसे रह सकते हैं? इसका उत्तर यही है कि अनन्तानन्त पदार्थ एक दूसरे में समाकर रहते हैं। जीव तो होता ही अमूर्त है और अमूर्त इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे एक दूसरे में बिना टकराये आसानी से रह सकते हैं। मात्र मूर्त्त पदार्थ ही स्थान घेरते हैं और एक दूसरे से टकराते हैं। मूर्त्तिक पदार्थ के छह भेदों में भी सूक्ष्म स्कंध और सूक्ष्म परमाणु तो पदार्थों में समा सकते हैं। केवल मूर्त्तिक स्थूल पदार्थ ही टकराते हैं और एक दूसरे में नहीं समा सकते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन वह पहला दर्शन है, जिसने आकाश का गुण शब्द न मानकर अवगाहन माना है और शब्द को पुद्गल की क्षणिक और अशाश्वत पर्याय मात्र माना है।

अवगाहन गुणवाला यह आकाश यद्यपि असीम और व्यापक है, परन्तु यह दृष्ट जगत न व्यापक है न असीम। जितने भाग में पदार्थ या द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश और जहाँ मात्र आकाश ही उपलब्ध होता है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। इस लोकाकाश और अलोकाकाश के विभाजन से हमें यह नहीं समझना चाहिये कि आकाश खण्डित हो गया। वास्तव में यह विभाजन काल्पनिक है, जिस प्रकार घड़े की पोलाहट को हम घटाकाश कहते हैं और उससे बाहर फैले हुए असीम आकाश को केवल आकाश कहते हैं, परन्तु इससे आकाश खण्डित नहीं होता। असीम आकाश में यह लोक एक घट की भाँति ही समझना चाहिये। सीमा के अन्दर को लोक और उससे बाहर को अलोक समझना चाहिये।

लोकाकाश और अलोकाकाश के मध्य किसी प्रकार की दीवार भी बनी हुई नहीं है। जहाँ जीव और पुद्गल गमन और स्थिति कर सके, वह लोक और उसके अतिरिक्त संपूर्ण अलोक है। लोकाकाश को भी तीन भागों में विभाजित करके सम्पूर्ण चराचर प्राणियों और लोकाग्र के भाग में मुक्त जीवों के स्थित रहने का आगमों में ज्ञानियों द्वारा स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है।

काल:—काल शब्द अत्यंत प्राचीन है। अथर्ववेद में काल शब्द को नित्य पदार्थ माना गया है, तथा इस नित्य पदार्थ से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। जैन दर्शन की काल के संबंध में दो मान्यताएँ हैं। एक मान्यता काल को स्वतंत्र द्रव्य मानती है। दूसरी मान्यता काल को जीव-अजीव द्रव्य में ही समाहित कर लेती है।

काल को दो भेदों में विभाजित किया गया है। व्यवहार काल एवं निश्चय काल। जिस प्रकार पदार्थों की गति और स्थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है, वैसे ही परिवर्तन का कारण काल है। जिसके कारण द्रव्यों में वर्तना होती है, यह निश्चयकाल है एवं पदार्थों में छोटापन-बड़ापन आदि व्यवहार काल का सूचक है। व्यवहारकाल निश्चयकाल का पर्याय है। यह पदार्थ काल जीव और पुद्गल के परिणाम से ही उत्पन्न होता है और

इसी कारण व्यवहारकाल को जीव और पुद्गल के आश्रित माना गया है। कालद्रव्य को अणुरूप माना गया है, उसके स्कंध नहीं होते। जितने लोकाकाश के प्रदेश होते हैं, उतने ही कालाणु होते हैं। ये एक-एक कालाणु गति रहित होने से लोकाकाश के एक-एक प्रदेश के ऊपर रत्नों की राशि की तरह अवस्थित हैं। आकाश के एक स्थान में मंदगति से चलने वाला परमाणु लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जितने काल में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होने के कारण इसे पर्याय कहते हैं। यहाँ एक शंका हो सकती है, इस “समय घण्टा-मिनिट” आदि के अतिरिक्त और कोई निश्चयकाल नहीं है। काल के दो भेद की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका समाधान है- काल के दो भेद अनिवार्य हैं, क्योंकि “समय मिनिट घंटा” आदि काल का ही पर्याय है और पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती। जिस प्रकार घट रूप पर्याय का कारण मिट्टी है। उसी प्रकार समय मिनिट आदि पर्यायों का कारण कालाणु रूप निश्चय काल को मानना चाहिये।

पुनः इसके समाधान में एक शंका हो सकती है कि समय-मिनिट आदि पर्यायों का कारण द्रव्य नहीं है, परन्तु मंदगति से जाने वाले पुद्गल परमाणु ही इनका कारण है। जिस प्रकार निमेष रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में आँखों की पलकों का खुलना और बंद होना कारण है, उसी प्रकार व्यवहार काल के दिन रूप पर्याय की उत्पत्ति में सूर्य कारण है न कि निश्चय काल। इसका समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है कि कारण और कार्य में परिवर्तन होने पर भी समानता अवश्य पायी जाती है। आँखों का खुलना और बंद होना निमेष का एवं दिन रूप पर्याय का कारण सूर्य ही उत्पादन कारण होता तो जिस प्रकार मिट्टी से बने घड़े में मिट्टी के रूप रस गुण आदि आते हैं, निमेष एवं दिन में क्रमशः आँखों की पलकों के खुलने और बंद होने के तथा सूर्य आदि के पुद्गल परमाणु आ जाते, परन्तु इस प्रकार से हमें इनमें ये पुद्गल उपलब्ध नहीं होते। अतः मानना होगा कि समय आदि व्यवहारकाल का उपादान कारण निश्चयकाल है।

काल का मुख्य सहयोग पदार्थों के परिवर्तन में उदासीन सहयोग देता है। परिवर्तन दो प्रकार का है-क्षेत्रात्मक और भावात्मक। क्षेत्रात्मक परिवर्तन धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य द्वारा होता है, और भावात्मक परिवर्तन काल-

द्वारा निष्पन्न होता है। काल के अभाव में गुणात्मक या भावात्मक परिवर्तन की कल्पना संभव नहीं बनती। क्षेत्रात्मक परिवर्तन की प्रतिक्षण संभावना नहीं होती जबकि भावात्मक परिवर्तन तो प्रारंभ ही रहता है।

यह भावात्मक परिवर्तन भी दो प्रकार का होता है— सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म परिवर्तन वह है जो पदार्थ के अन्दर ही अन्दर होता रहता है। यह परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता। स्थूल परिवर्तन वह है जो बाहर से दृष्टिगत हो जाता है, परन्तु यह स्थूल परिवर्तन बिना सूक्ष्म परिवर्तन के संभव ही नहीं है क्योंकि पदार्थ एकदम नहीं बदलता। छोटा-सा बच्चा प्रतिक्षण कद बढ़ा रहा है, परन्तु वह महसूस नहीं होता क्योंकि सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म परिवर्तन सभी द्रव्यों में पाया जाता है। स्थूल परिवर्तन मात्र जीव और पुद्गल में ही पाया जाता है।

पुद्गल

अंग्रेजी में जिसे 'मेटर' कहा जाता है, जैन आगमों की भाषा में उसी को पुद्गल कहा जाता है। जो कुछ भी चित्र-विचित्र विविध स्वरूप हम देखते हैं, वह सारा पुद्गल का ही स्वरूप है। जैन आगमों ने संपूर्ण पदार्थों को छह काय में समाहित किया है— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। जब तक आत्मा इनमें विद्यमान होती है, ये जीव युक्त कहलाते हैं। आत्मा के विमुक्त होते ही ये अजीव पुद्गल होते हैं। जीवों का वर्गीकरण इन पौद्गलिक शरीरों के आधार पर ही किया गया है। जरा हम दृष्टिपात करें- सृष्टि के चारों ओर ऐसा कौन सा दृष्ट पदार्थ है जो कभी जीवाश्रित न रहा हो? चाहे पानी हो या आग, चाहे रत्न हो या फल फूल, सभी तो जीव पिंड या जीवाश्रित हैं।

ये छह काय भी पंचभूतों में समाविष्ट हो जाते हैं। छह काय में जो वनस्पति और त्रसकाय गिनाया है, ये दो इन पंच महाभूतों के संघात या मिलन से ही बनते हैं। इसका स्पष्ट विवेचन इस प्रकार से है।

पृथ्वी, जल आदि पंच महाभूतों के मेल में जिस भूत का अंश ज्यादा होगा, वह उसके अनुरूप ही बनेगा। जैसे पांचों के संघात में पृथ्वी का अंश ज्यादा है तो वह वस्तु ठोस होगी। यदि जल की अधिकता हो तो तरल होगी,

तेज की अधिकता होने पर उष्णवान एवं वायु की अधिकता से हल्की एवं संचरणशील और यदि आकाश का भाग अधिक हो तो खाली स्थान रूप दिखाई देगा। जैसे वर्षा के दिनों में यद्यपि वायु जलमिश्रित होती है, फिर भी कहलाती वायु ही है और गर्मी के मौसम में यद्यपि वायु में तेज या आग का मिश्रण रहता है, फिर भी कहते उसे वायु ही हैं। इसका कारण वायु की अधिकता/मुख्यता है।

वनस्पति के निर्माण को हम देखें। बीज को पृथ्वी में डालकर जल से सिंचन करते हैं, उसमें से अंकुर फूटता है जो वायु को एवं सूर्य के तेज को लेकर वृद्धि को प्राप्त होता है तथा फल और फूलों से युक्त बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं, वृक्ष के निर्माण में पृथ्वी, जल, तेज और वायु, चारों ही भूतों का योगदान रहा है। वृक्ष अपनी संपूर्णता प्राप्त कर भी इन चारों से युक्त रहता है। जैसे उसकी टहनियों में पृथ्वी अधिक है और जल कम, अतः वह कुछ ठोस है। पत्तों में उसकी अपेक्षा अधिक जल है और फूलों में उससे अधिक जल है। शेष जो ईंधन है, वह ठोस होने के कारण पृथ्वी का भाग है। फल फूलों की चमक अग्नि का भाग है और इन सबमें जो पोलापन है, वह आकाश है। अगर पोलापन नहीं होता तो उसमें कील आदि प्रविष्ट नहीं हो सकती। पोलापन में वायु भी होती है अतः कहा जा सकता है कि वृक्ष या वनस्पति इन पंचमहाभूतों का ही संयोग है।

हम इन पंच महाभूतों से व्याप्त अपने शरीर को सदैव देखते ही हैं। इस प्रकार गूढ़ दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह संपूर्ण संसार पंच महाभूतों की ही रचना है।

पुद्गल को और भी गहराई से जानने का अगर प्रयास किया जाय तो लगता है कि सृष्टि में इन पांच महाभूतों का ही स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इन पंच महाभूतों का आधार भी वास्तव में “इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन” नाम वाले दो पदार्थ हैं। इनमें न्यूनाधिक संगम से ही महाभूतों का या पदार्थों का निर्माण होता है। ये इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन्हें इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जाता। अगर तात्त्विक दृष्टि से देखें तो सोने और लोहे में कोई अंतर नहीं होता। दोनों ही इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन के संगम से बने हैं। पदार्थों में इन दोनों तत्त्वों की न्यूनाधिकता अवश्य होती है। इन दोनों का आधार भी परमाणु है।

इस परमाणु को विज्ञान अभी तक खोज नहीं पाया है। क्योंकि विज्ञान का परमाणु विभक्त होता है जबकि जैन दर्शन का परमाणु विभक्त नहीं होता। समस्त भौतिक तत्वों का मुख्य आधार परमाणु ही है। यह परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, न इन्द्रिय द्वारा और न यंत्र द्वारा इसे देखा जा सकता है। इसे तो मात्र परमात्मा की वाणी द्वारा जाना जा सकता है और जब अनेकों परमाणु एकत्रित होते हैं तभी वे स्कंध कहलाते हैं और हमारे दृष्टिपथ में अवर्तरित होते हैं।

वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद मुख्य विषय है। वे चारों जातियों के अलग-अलग परमाणु मानते हैं। प्रत्येक में गुणों की भी अलग-अलग कल्पना करते हैं जैसे पृथ्वी परमाणु में मात्र गंध गुण, जल में मात्र रस गुण, अग्नि के परमाणु में मात्र रूप गुण, वायु में मात्र स्पर्श गुण, परन्तु उनकी यह मान्यता विज्ञान द्वारा भी खंडित हो जाती है। आज यह प्रमाणित तथ्य है कि पृथ्वी हो या जल ये इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन के मिश्रण से ही बने हैं और दोनों के मूल में भी परमाणु है।

इस दृष्टिकोण से मूल द्रव्य परमाणु हुआ और जितने भी द्रव्य होते हैं, वे सभी परिवर्तनशील तो होते ही हैं। इन परमाणुओं के गुणों में भी तारतम्य होता रहता है जैसे स्पर्श गुण को लें। स्पर्श गुण में मुख्यतः चार बातें पायी जाती हैं— ठण्डा, गरम, चिकना, और रूखा। चिकने और रूखे पर हम दृष्टिपात करेंगे क्योंकि इन्हीं के कारण बंध और मुक्ति है। चिकने से तात्पर्य आकर्षण और रूखेपन से तात्पर्य विकर्षण से है जिसे वैज्ञानिक प्रोटोन (आकर्षण) और इलेक्ट्रॉन (विकर्षण) कहते हैं।

जीव का संसार इन पुद्गलों का आत्मा से संयोग के कारण ही है। जीव मिथ्यात्वादि क्रियाओं से कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है और वे कर्म पुद्गल ही संसार का निर्माण करते हैं। हमारा मन, वचन और काया इन पुद्गलों की ही देन है। जैन दर्शन ने स्वास को भी पुद्गल माना है।

परमाणु आकाश के प्रत्येक प्रदेश में अनंतानंत भरे पड़े हैं। परिणमनशील होने के कारण स्वतः ये परमाणु रुक्ष और स्निग्ध होते रहते हैं। ये रुक्ष और स्निग्ध रूपों में विभक्त परमाणु विज्ञान को प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन के रूप में मान्य हैं। ये आकर्षित होने और आकर्षित करने की शक्ति से युक्त हैं।

ये परमाणु आत्मा की अशुभ क्रियाओं से आकृष्ट होकर आत्मा से चिपक

जाते हैं जिन्हें शुभक्रिया के अभाव में अलग नहीं किया जा सकता। इन पुद्गल परमाणुओं के सम्मिश्रण की अवस्था में आत्मा को एक अपेक्षा से पुद्गल भी कहा जाता है। पुद्गल की संयोगावस्था आत्मा को अशुद्ध बना देती है और यह अशुद्धावस्था जब तक समाप्त नहीं होती तब तक आत्मा स्थायी आवास सिद्धपद को उपलब्ध नहीं करती। जैन दर्शन मूलतत्त्व परमाणु मानता है, परंतु जैनदर्शन का यह परमाणु वैशेषिक की तरह कूटस्थ नित्य नहीं है, अपितु परिणामी नित्य है।

जीव

जैन दर्शन का एक मात्र लक्ष्य है जीव। जीव को जानना, उसे समझना और उसकी संपूर्ण शुद्धि के प्रयास करना। अजीव का स्वरूप और परिचय देने का कारण भी जीव ही है। हम यह समझ लें कि जीव क्या है और अजीव क्या है? तब ही अजीव से जीव को मुक्त करने का पुरुषार्थ कर सकते हैं। जब तक उसका संपूर्ण परिचय प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक जीव को अजीव से मुक्त नहीं कराया जा सकता।

जितना सूक्ष्म वर्गीकरण जैन दर्शन ने जीव का किया है, अन्य दर्शन नहीं कर पाये और इसी वर्गीकरण के कारण जैनदर्शन की अहिंसा भी उतनी ही सूक्ष्म होती गयी।

जीव का अपना मूल स्वभाव है समता, सरलता और विरक्ति। जिस प्रकार जल मूल स्वभाव से शीतल है, परंतु आग के संयोग के कारण गर्म होता है और कृत्रिम साधनों से अलग होते ही पुनः मूल स्वरूप में स्थिर बन जाता है।

यहाँ अगर यह प्रश्न उठाया जाय कि जीव में कर्म का संयोग कब से है तो इसका समाधान यही है कि अनादि से। जिस प्रकार खदान का सोना कब अशुद्ध बना, इसका उत्तर समयावधि में नहीं दिया जाता। वैसे ही आत्मा का कर्म संयोग कब बना, उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ इतना निश्चित है कि एक बार शुद्ध होने के बाद पुनः वह अशुद्ध नहीं होता।

आत्मा शब्दातीत मानी गयी है क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त का न आकार होता है न रूप। जितना भी आकार है वह सारा पुद्गल का है।

भारतीय मनीषियों में मात्र चार्वाक के अतिरिक्त सभी ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। मात्र स्वीकृति ही दी ऐसा भी नहीं है, उसके स्वरूप और विश्लेषण में अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किया है। भिन्न-भिन्न मतों का कारण भी यही रहा। जिन्हें जो सत्य तथ्य लगा, उसे उन्होंने सिद्धांत का रूप दे दिया। उपनिषद् की दृष्टि ब्रह्मवादी दृष्टि है। उन्होंने संसार को ब्रह्म का अंश माना है।

जैन दर्शन जीव को स्वतंत्र अस्तित्व युक्त मानता है। इसमें चैतन्य सहज स्वाभाविक है। जीव भी अनादि अनंत है। संसार जीव रहित कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार गणित में अनंत में से अनंत निकालें तो अनंत ही शेष रहेंगे, वैसे ही अनंतजीव मोक्ष को प्राप्त करे लें फिर भी अनंत जीव संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे।

जीव का विकास उसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। निगोद से जीव की विकास यात्रा प्रारंभ होती हुई मोक्ष तक पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त करती है।

शक्ति की दृष्टि से सभी जीव समान हैं, चाहे एकेन्द्रिय जीव हो चाहे पंचेन्द्रिय, बलाबल की समानता होने पर भी कुछ जीव पूर्णता को उपलब्ध कर लेते हैं और कुछ जीव भटकते रहते हैं। इसका कारण जीव की स्वाभाविक अनंत और असीम शक्ति को कुछ तो पुरुषार्थ द्वारा प्रकट कर देते हैं और कुछ जीव पुरुषार्थहीन होकर जहाँ-तहाँ भ्रमण करते रहते हैं।

जीव के संबंध में जैन दर्शन की अन्य दर्शनों से अलग विलक्षण और अलौकिक मान्यता यही है कि जैन दर्शन में ईश्वर आदर्श या प्रेरक जरूर है परंतु इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जीव स्वयं ही अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी मंजिल तय करता है तथा ईश्वरत्व को उपलब्ध कर लेता है। हर आत्मा परमात्मा स्वरूप है। ऐसा नहीं कि एक ही ईश्वर है और अन्य सभी भक्त के रूप में ही रहते। अपितु प्रत्येक आत्मा ईश्वर-शक्ति से संपन्न है।

जैन दर्शन का आचार पक्ष की स्थापना का कारण जीव की अपनी सत्ता और शक्तियों का प्रकट करना ही है। जीव के वर्गीकरण की सूक्ष्मता को पहचान करके हम अपने आपको उन जीवों की हिंसा से विरत करें एवं अपने निज स्वरूप अनंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को उपलब्ध करें।

सन्दर्भ - ग्रन्थ-सूची

1. अकलंकत्रय - अकलंक देव, सं. महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्र. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद सन् 1939.
2. अध्यात्म रहस्य - (हिन्दी व्याख्या सहित) पं. आशाधर सं. पं. जुगल किशोर मुस्तार, प्र. वीर सेवा मंदिर, दिल्ली सन् 1957.
3. अध्यात्म कमल मार्तण्ड:- पं. राजमल्लजी, सं. प्र. दरबारीलाल कोठिया, पं. परमानन्द जैन, प्र. वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथमावृत्ति सन् 1944.
4. अध्यात्म मत परीक्षा - रचित यशोविजय, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाड़ी, बम्बई-4 प्र.सं.
5. अधि-नीति शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त - डॉ. वेदप्रकाश शर्मा, प्र. अलाईड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, 15 जे.एन. हिरेडिया मार्ग, बैलर्ड एस्टेट बम्बई, प्र.सं. 1987.
6. अनुयोगद्वार सूत्र - चतुर्थ खण्ड, सं. देवकुमार जैन प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज.) प्र.सं. 1987
7. अभिनव पर्यायवाची शब्द कोष - सत्यपाल गुप्त व श्यामकपूर, प्र. आर्य बुक डिपो, नयी दिल्ली, सन् 1960.
8. अष्ट सहस्री - प्रथम भाग श्री विद्यानंदाचार्य, ज्ञानमति माताजी प्र. दि. जैनत्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (U.P.) प्र.सं. 1972.
9. अष्ट पाहुड-चयनिका - सं. डॉ. कमलचंद सोगानी प्र. प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र. सं. 1987.

10. अष्ट पाहुड (हिन्दी वचनिका सहित) कुन्दकुंदाचार्य, प्र. अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं. 1916.
11. अष्टसहस्री - विद्यानन्दि स. गुरुवर गोपालदास, प्र. नाथूलाल गांधी श्री नाथारंगजी, सन् 1915.
12. अर्हंत-प्रवचन - स.पं. चैनसुखदास, प्र. आत्मोदय ग्रन्थमाला.
13. आगमयुग का जैन दर्शन - पं. दलसुख मालवणिया, प्र. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् 1966.
14. आचारांग चयनिका - सं. डॉ. कमलचन्द सोगानी, प्र. प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर दि. सं. 1987
15. आचारांग निर्युक्ति - भद्रबाहु (दि.) प्र. सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, वि.सं. 1935.
16. आत्मानुशासन - ले. गुणभद्र, सं. बालचंद सिद्धांतशास्त्री प्र. जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, तृ. सं. 1987.
17. आत्ममीमांसा - (हिन्दी विवेचन सहित) पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री, प्र. श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, सन् 1970.
18. आत्मवाद - ले. मुनि फूलचन्द 'श्रमण' सं. मुनि समदर्शी, प्र. प्राचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना प्र. सं. 1965.
19. आत्म तत्व विचार - प्रथम भाग, श्रीमद् लक्ष्मण सूरीश्वरजी म., सं. श्री कीर्तिविजय गणिवर, प्र.बी. बी. मेहता.
20. आत्म-प्रसिद्धि - ले. हरिलाल जैन, श्री सेठी दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वी. नि. सं. 2490.
21. आत्ममीमांसा की तत्वदीपिका नामक व्याख्या - रचित आ. समन्तभद्र ले. प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्र. श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान मारिया, वाराणसी प्र. सं. वी. नि. सं. 2401.
22. आप्त परीक्षा - विद्यानन्द, अनु. पं. दरबारीलाल जैन, प्र. वीर सेवा मंदिर, सहारनपुर, सन् 1949.

23. आयारो - सं. मुनि नथमल, प्र. जैन विश्व भारती, लाडनूँ, वि. सं. 2031.
24. आलाप पद्धति - देवसेन, सं. पं. कैलाशचन्द शास्त्री, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी. सन् 1971.
25. उत्तराध्ययन सूत्र - प्रथम खण्ड (1 से 10) सं. श्रीचंद सुराणा 'सरस' प्र. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर प्र.सं. 1987.
26. उत्तराध्ययन सूत्र - द्वितीय खण्ड (11 से 22) सं. श्रीचंद सुराणा 'सरस' प्र. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल बापू बाजार जयपुर प्र. सं. 1985.
27. उत्तराध्ययन सूत्र - तृतीय खण्ड (23 से 36) सं. श्रीचंद सुराणा 'सरस' प्र. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार जयपुर प्र. सं. 1980.
28. कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि-सुषमा गौंग ले. डॉ. दयानंद भार्गव, प्र. भारतीय विद्या प्रकाशन, 1 यू. बी. जवाहर नगर बैंगलो रोड़ दिल्ली, प्र. सं. 1982.
29. गणधरवाद - गुजराती ले. पं. दलसुख मालवणिया, हिन्दी अनु. प्रो. पृथ्वीराज प्र. राजस्थान प्राकृत भारतीय संस्थान जयपुर, प्र. सं. 1982.
30. गणधरवाद - ले. पं. श्री भानुविजयजी, प्र. दिव्यदर्शन प्र. विज्ञान, आत्मानन्द जैन सभा भवन, घी वालों का रास्ता, जयपुर-3.
31. गणितानुयोग - स. मुनि कन्हैयालाल कमल, प्र. आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद बी. नि. सं. 2495.
32. ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास - ले. जगदीश सहाय श्री वास्तव, प्र. किताब महल, 15 थानी हिल रोड़, इलाहाबाद, प्र. सं. 1968.
33. गोम्मटसार जीवकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) - नेमीचन्दाचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, द्वितीयावृत्ति, प्र. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत, प्रभावक मण्डल, बम्बई, बी. नि. सं. 2453.
34. जैन धर्म दर्शन - ले. मुनि नथमल, प्र. सेठ मन्नालालजी सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट 81 संदर्भ एवेन्यू कलकत्ता - 29, प्र.सं. 1960.

35. जैन धर्म - ले. डॉ. संपूर्णानन्द, प्र. मंत्री साहित्य विभाग भा. दि. जैन संघ चौरासी, मथुरा प्र. सं. 1948.
36. जैन दर्शन और अनेकान्त - युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्र. कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ चुरू (राज.)
37. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान - मुनि श्री नगराजजी, सं. सोहनलाल, प्र. रामलालपुरी, संचालक, आत्माराम एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, सन् 1959.
38. जैन दर्शन में आत्म विचार - ले. डॉ. लालचन्द जैन प्र. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5. प्र.सं. 1984.
39. जैन भारती - ले. श्री ज्ञानमति माताजी, प्र. दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) प्र. सं. 1990.
40. जैन दर्शन : आधुनिक दृष्टि - डॉ. नरेन्द्र भानावत, प्र. सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर. प्र. सं. 1984.
41. जैन सिद्धान्त - पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली. प्र. सं. 1983.
42. जैन तत्व मीमांसा - फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्र. अशोक प्रकाशन मंदिर 2/38 भदैनी, वाराणसी.
43. जैन दर्शन में पदार्थ विज्ञान-ले. जिनेन्द्र वर्णी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन बी/45-47 कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली, प्र. सं. 1977.
44. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - द्वितीय भाग, जिनेन्द्र वर्णी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वि. सं. 1986.
45. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग द्वितीय, ले. डॉ. सागरमल जैन, प्र. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर. प्र.सं. 1982.
46. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् - विद्यानन्दि, सं. पं. मनोहरलाल, प्र. गांधी नाथारंग - जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई. वी. नि. स. 2444.

47. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर.
48. तर्कभाषा-केशवमिश्र प्र. सं. सी., चौक, वाराणसी.
49. तर्कसंग्रह - अन्नम भट्ट, प्र. हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, सप्तम स., वि. सं. 2026.
50. तत्त्वार्थ वृत्ति (हिन्दी सार सहित) श्रुतसागर, सं. महेन्द्रकुमार जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.
51. तत्त्वविज्ञान - श्रीमदरायचंद्र, प्र. श्री मद्रायचन्द्र ज्ञान प्रचारक ट्रस्ट, राजभुवन, दिल्ली दरवाजा बहार अहमदाबाद प्र. सं. 1963.
52. तत्त्वार्थसूत्र - वाचक उमास्वाति, टी. सुखलाल प्र. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, सन् 1952.
53. तत्त्वार्थ राजवार्तिक - भाग 1,2 - आचार्य अकलंक देव, सं. पं. महेन्द्रकुमार जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 1956.
54. तत्त्वज्ञान - ले. डॉ. दीवानचन्द्र, प्र. हिन्दी सूचना विभाग उत्तरप्रदेश, 1968.
55. दर्शन के मूल प्रश्न - डॉ. शिवनारायण लाल श्रीवास्तव, प्र. मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल प्र. सं. 1981.
56. दर्शन और चिंतन - ले. पं. सुखलाल, खण्ड प्रथम, द्वितीय प्र. पं. सुखलालजी सन्मान-समिति गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद प्र. सं. 1957.
57. दर्शन और अनेकान्त - ले. पं. हंसराज शर्मा, प्र. श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक-मण्डल रोशन मुहल्ला आगरा, प्र.सं. 1928.
58. दर्शन पाहुड - कुन्दकुन्दाचार्य, प्र. - माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं. वि. सं. 1977.
59. दीघ निकाय - (हिन्दी) अनुवादक - राहुल सांस्कृत्यायन, प्र. महोबोधि सभा सारनाथ, सन् 1936.
60. द्रव्यानुभव रत्नाकर - अभयदेवसूरि, ले. चिदानन्दजी.

61. द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन - डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी, प्र. विद्यामन्दिर, दिल्ली, सन् 1971.
62. धर्म दर्शन, मनन और मूल्यांकन - ले. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्र. श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर. प्र. सं. 1985.
63. धर्म और दर्शन - ले. देवेन्द्रमुनि, प्र. सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-2 प्र. सं. 1967.
64. धम्मपद - अनुवादक राहुल सांस्कृत्यायन, प्र. महोबोधि-सभा, सारनाथ प्र. सं. 1933.
65. धवला (हिन्दी अनुवाद सहित) - वीरसेन, प्र. सं., अमरावती
66. न्यायमंजरी - न्यायभट्टविरचित, सं. नगीनजी शाह, प्रथम आह्निकम् प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद-9, प्र. सं. 1975.
67. न्यायमंजरी - न्यायभट्ट विरचित, सं. नगीनजी शाह द्वितीय आह्निकम् प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-9, प्र. सं. 1978.
68. न्यायमंजरी - न्यायभट्टविरचित, सं. नगीनजी शाह तृतीय आह्निकम्, प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-9, प्र. सं. 1984.
69. न्यायमंजरी - न्यायभट्टविरचित, सं. नगीनजी शाह, चतुर्थ पंचम आह्निकम्, प्रकाशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद-9 प्र. सं. 1989.
70. नियमसार - रचित पद्मप्रभमल धारिदेव, गुजराती अनुवादक पं. हिम्मत जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक पं. परमेष्ठीदास, प्र. श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ए-4, बापूनगर, जयपुर प्र. सं. 1988.
71. नियमसार - कुन्दकुन्दाचार्य, प्र. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीरा बाग, बम्बई; 1916.

72. नयचक्र, माइल्ल धवल - सं. और हिन्दी टीका व्याख्याकार पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रीत प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं. 1971.
73. न्यायकुमुदचन्द्र - प्रभाचन्दाचार्य (भाग 1-2) सं. पं. महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री, प्र. - मंत्री श्री नाथूराम प्रेमी माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई-4, प्रथमावृत्ति, वी. नि. सं. 2464.
74. न्यायदीपिका, अभिनव धर्म भूषण, सं. और अनुवादक न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल जैन कोठिया, प्र. - वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथमावृत्ति 1945.
75. न्यायदर्शन (वात्सयायन भाष्य संहित) सं. श्री नारायण मिश्र, प्र. - चौखम्भा सं. सीरिज वाराणसी, द्वितीय सं. 1970.
76. न्यायविनिश्चय विवरण, भट्टाकलंक देव, सं. पं. महेन्द्रकुमार जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं. 1954.
77. न्यायसूत्रः गौतम ऋषि, सं. पं. श्री रामशर्मा, आचार्य संस्कृति संस्थान, बरेली, प्र. सं. 1964.
78. न्यायावतार वार्तिक वृत्तिः शान्तिसूरि, सं. पं. दलमुख-मालवणिया, प्र. सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथमावृत्ति, सन् 1949.
79. नयचक्रसार अने गुरु गुण छत्तीसी - श्रीमद्देवचन्द्रजी श्री अध्यात्म दर्शन प्रचारक मण्डल पाडरा द्वितीयावृत्ति संवत् 1985.
80. नन्दीसूत्र - व्या. श्री आत्मारामजी म., प्र. आ. श्री आत्मारामजी जैन समिति, लुधियाना, सन् 1966.
81. नय दर्पण - भाग प्रथम, द्वितीय, ले. जिनेन्द्रवर्णी, प्र. दि. जैन पारमर्थिक संस्थाएँ जवेरीबाग, इन्दौर (म.प्र.) प्र. सं. 1965.
82. प्रज्ञापना सूत्र - प्रथम खण्ड, सं. ज्ञानमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1983.
83. प्रज्ञापना सूत्र - द्वितीय खण्ड, सं. ज्ञानमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन -

समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1984

84. प्रज्ञापना सूत्र - तृतीय खण्ड, सं. ज्ञानमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1980.
85. प्रवचनसार - रचित श्री अमृतचन्द्राचार्य देव तत्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका एवं श्री जयसेनाचार्य देव विरचित तात्पर्य वृत्ति नामक संस्कृत टीका सहित, प्र. श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारण ट्रस्ट, 602, कृष्णानगर, भावनगर (गुज.) प्र. सं. वि. सं. 2006.
86. प्रवचन रत्नाकर - प्रथमखण्ड, सं. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल, अनुवादक पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, प्र. पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर. प्र. सं. 1981.
87. प्रवचन रत्नाकर - द्वितीय खण्ड, सं. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल अनुवादक पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, प्र. पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र. सं. 1982.
88. प्रवचन रत्नाकर - तृतीय खण्ड, सं. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल अनुवादक पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, प्र. टोडर स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र. सं. 1983.
89. प्रवचन रत्नाकर - चतुर्थ खण्ड, सं. डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल अनुवादक पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, प्र. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-4 बापूनगर - जयपुर प्र. सं. 1985.
90. प्रमाण नय तत्वालोक: विवेचन और अनुवादक पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल न्याय तीर्थ, प्र. आत्म जागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर (राज.) प्रथमावृत्ति सन् 1942.
91. प्रमेयकमलमार्तण्ड: प्रभाचन्द्राचार्य, सं. पं. महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्र. - निर्णय सागर प्रेस, द्वितीय सं. 1941.
92. प्रमेय रत्नमाला (हिन्दी व्याख्या सहित) लघु अनंतवीर्य, व्याख्याकार तथा संपादक पं. श्री हीरालालजी जैन, प्र. चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, प्र. सं. वि. सं. 2020.

93. प्रवचनसारः कुन्दकुन्दाचार्य- संपादक आ. ने उपाध्ये, प्र. परम श्रुत प्रभावक मण्डल, श्री मद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास तृतीय सं. 1964.
94. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध-उत्तरार्ध): पं. राजमल, सं. पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी.
95. पतंजलि योगदर्शन भाष्यः महर्षि व्यासदेव, प्र. श्री लक्ष्मी निवास चड़क, अजमेरत द्वितीय सं. सन् 1961.
96. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (हिन्दी अनुवाद सहित): अमृतचन्द्रसूरि, प्र. भा. जै. सि. प्र. सं. कलकत्ता, वी. सं. 2452.
97. परमात्म प्रकाशः (संस्कृत वृत्ति एवं हिन्दी भाषा टीका सहित): योगीन्द्र देव, सं. आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्ये, प्र. परमश्रुत प्रभाकर मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला जौहरी बाजार, बम्बई-2, द्वितीय सं. वि. सं. 2017
98. प्रमाण प्रमेय कलिका - रचित नरेन्द्रसेन, ले. श्री हीरालाल शास्त्री, सं. दरबारीलाल जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं. वी. नि. सं. 2487.
99. पंचास्तिकाय संग्रह - (हिन्दी अनुवाद सहित) प्राप्ति स्थान श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
100. पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या - सं. या. मसीह, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़ जवाहरनगर, दिल्ली, प्र. सं. 1933.
101. प्रशमरति - प्रथम भाग, रचित उमास्वाति, विवेचन भद्रगुप्त विजयजी गणिवर, प्र. श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोईनगर के पास, मेहसाना (गुज.) प्र. सं. वि. सं. 2042.
102. प्रशमरति - द्वितीय भाग, रचित उमास्वाति, विवेचन भद्रगुप्तविजयजी गणिवर, प्र. श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोई नगर के पास मेहसाना (गुज.) प्र. सं. वि. सं. 2042.
103. प्रश्न व्याकरण सूत्र- अनुवादक हस्तिमलजी मुनि, प्र. श्री हस्तिमलजी सुराणा, पाली, सन् 1950.

104. बृहत्-द्रव्य संग्रह-रचित नेमीचन्द्र सिद्धान्त देव, अनुवादक राजकिशोरजी जैन, प्र. श्री वीतराग सत् साहित्य प्रचारक टस्ट्र भावनगर, प्र.सं.वि. सं. 2033.
105. भारतीय दर्शन - प्रथम खण्ड, सं. डॉ. राधाकृष्णन्, प्र. राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, प्र. सं. 1972.
106. भारतीय दर्शन - द्वितीय खण्ड, सं. डॉ. राधाकृष्णन्, प्र. राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 प्र. सं. 1973.
107. भारतीय दर्शन - ले. बलदेव, प्र. चौखम्भा ओरियन्टालिया पोस्ट बाक्स नं. 1031 वाराणसी (उ.प्र.) प्र. सं. 1984.
108. भारतीय दर्शन - ले. चक्रधर शर्मा, प्र. मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स बंगलो रोड़ जवाहरनगर, दिल्ली प्र. सं. 1990.
109. भारतीय दर्शन की रूपरेखा - सं. एम हिरियन्ना, प्र. राजकमल प्राइवेट लिमिटेड 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली प्र. सं. 1965.
110. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान - डॉ. हीरालाल जैन, प्र. मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल सन् 1962.
111. भगवान महावीर आधुनिक सन्दर्भ में - सं. डॉ. नरेन्द्र भानावत सह सं. डॉ. शान्ता भानावत, प्र. श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन रामपुरिया सड़क, बीकानेर (राज.) प्र. सं. 1974.
112. मोक्षमार्ग प्रकाशक - ले. पं. टोडरमल, सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्र. सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान, दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ए-4 बापूनगर जयपुर।
113. मूलाचार - रचित आ.वहकेर, टीकानुवाद ज्ञानमतिजी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली प्र. सं. 1944.
114. मीमांसा दर्शन-मण्डनमिश्र, प्र. रमेश बुक डिपो, जयपुर, प्र. सं. सन् 1955.
115. मीमांसा दर्शन (शाबर भाष्य): शाबर स्वामी, कु. चौक काशी

116. मुण्डकोपनिषद् - गीता प्रेस गोरखपुर
117. योगसार (हिन्दी अनुवाद सहित): अमित गति, प्र. भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता, प्र. सं. वी. नि. सं. 2444.
118. योगसार (परमात्म प्रकाश के अन्तर्गत संस्कृत छाया और हिन्दी सार), योगीन्द्र देव, प्र. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, द्वि. सं. वि. सं. 2017.
119. योगदृष्टि समुच्चय - आ. हरिभद्रसूरीश्वर रचित, व्याख्याता भुवनभानु सूरीश्वर, सं. पद्मसेन विजय, प्रथम भाग, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालबाड़ी बम्बई, प्र. सं. वि. सं. 2040.
120. वसुनन्दि श्रावकाचार - आ. वसुनन्दित सं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्र. सं.
121. वैशेषिक दर्शन (प्रशस्त पादभाष्य): महर्षि प्रशस्तपाद देव. चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, प्र. सं. 1966.
122. विवाहपण्णतिसूत्रं - प्रथम भाग पं. बेचरदास जीवराज दोसी, प्र. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र. सं. 1974.
123. विवाहपण्णतिसूत्रं - द्वितीय भाग, सं. पं. बेचरदास जीवराज दोसी प्र. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र. सं. 1978.
124. विवाहपण्णतिसूत्रं - तृतीय भाग, सं. पं. बेचरदास जीवराज दोसी, प्र. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई प्र. सं. 1978.
125. विवाहपण्णतिसूत्रं - चतुर्थ भाग, सं. पं. बेचरदास जीवराज दोसी, प्र. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र. सं. 1978.
126. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - प्रथम भाग, सं. अमरमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1982.
127. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - द्वितीय भाग, सं. अमरमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1983.

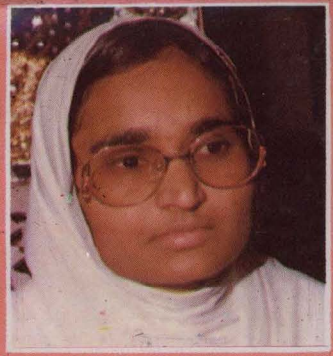
128. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - तृतीय भाग, सं. अमरमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1985.
129. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र - चतुर्थ भाग, सं. अमरमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1986.
130. विशेषावश्यक भाष्य - भाग प्रथम, श्री जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण विरचित, मलधारी श्री हेमचंद्रसूरि विरचितम्, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाड़ी, तीसरा माल बम्बई, प्र. सं. 2039.
131. विशेषावश्यक भाष्य - द्वितीय भाग, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित, मलधारी श्री हेमचंद्रसूरि विरचितम्, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाड़ी, तीसरा माल बम्बई, प्र. सं. 2039.
132. राजप्रश्नीय सूत्र - द्वितीय खण्ड, सं. रतनमुनि, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति, जैन स्थानक, पीपलिया बाजार ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1982.
133. श्री ललित विस्तरा - हिन्दी विवेचन प्रकाशन सहित, रचित आ. श्री हरिभद्र सूरीश्वर।
134. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता टीका, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्याख्याकार यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी प्रथम स्तबक, प्रकाशक चौखम्भा ओरियन्टलिया, पो. आ. चौखम्भा. पो. बाक्स नं. 32 गोकुल भवन के. 37/109 गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, प्र. सं. 1977.
135. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद कल्पलता, द्वितीय स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी, बम्बई-4
136. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, तृतीय स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य हिन्दी विवचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी, बम्बई-4
137. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, चतुर्थ स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री

बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी बम्बई-4.

138. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, पंचम षष्ठ स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी बम्बई-4 प्र. सं. वि. सं. 2039.
139. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, सप्तम स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी बम्बई-4 प्र. सं. वि. सं. 2040.
140. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, अष्टम स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी बम्बई-4 प्र. सं. वि. सं. 2038.
141. शास्त्रवार्ता-समुच्चय और उसकी स्याद्वाद-कल्पलता, नवम, दशम, एकादश स्तबक, रचित आ. हरिभद्रसूरीश्वर, व्या. यशोविजय गणिवर्य, हिन्दी विवेचन पं. श्री बदरीनाथजी, प्र. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 68 गुलालवाड़ी बम्बई-4 प्र. सं. वि. सं. 2044।
142. षड्दर्शन रहस्य - पं. रंगनाथ पाठक, प्र. विहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना उ. प्र. सं. 1958.
143. षड्दर्शन-समुच्चय-हरिभद्रसूरि विरचित, सं. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली सं. 1981.
144. षट् खण्डागम (ध्वला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) भूतबलि पुष्पदन्त, प्र. जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, प्र. आवृत्ति सन् 1939.
145. सूत्र कृताङ्ग सूत्र - प्रथम खण्ड, प्र. श्री आगम प्रकाशन समिति व्यावर (राज.) प्र. सं. 1982.
146. सूत्र कृताङ्ग सूत्र - द्वितीय खण्ड, प्र. श्री आगम प्रकाशन - समिति व्यावर (राज.) प्र. सं. 1982 अप्रैल।
147. स्थानांग सूत्र (ठाणं सूत्र) - सं. मुनि नथमल, प्र. जैन विश्व भारती लाडनूँ (राज.) प्र. सं. 1976.

148. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र - रचित श्री उमास्वाति, अनुवादक पं. खूबचंदजी, प्र. मीठालाल रेवाशंकर जगजीवन झवेरी, आ. व्यवस्थापक परमश्रुत प्रभावक जैन मंडल झवेरी बाजार, बम्बई-2. प्र. सं. 1932.
149. समयसार-रचित श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य देव, गुजराती टीकाकार श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह हिन्दी अनुवादक पं. परमेष्ठीदासजी, प्र. श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर (गुज.) प्र. सं. वी नि. सं. 2505.
150. स्याद्वादमंजरी-रचित श्री हेमचन्द्राचार्य, सं. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन प्र. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम अगास. प्र. सं. 1979.
151. सर्वदर्शनसंग्रह (हिन्दी टीका सहित) माधवाचार्य, प्र. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी.
152. सांख्यकारिका (गोडपादभाष्य): ईश्वरकृष्ण, दृ. कु. चौकासी वि. सं. 1872.
153. सांख्य सूत्रम् -कपिलमुनि, सं. श्री रामशंकर भट्टाचार्य. प्र. भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि.सं. 2022.
154. सिद्धि विनिश्चय - टीका, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र. सं. सन् 1951.
155. स्याद्वाद रत्नाकर - भाग प्रथम, श्री मद्वादिदेवसूरि विरचित, प्र. भारतीय बुक कार्पोरेशन, 1 यू.बी. जवाहरनगर, बैंग्लो रोड़, दिल्ली, प्र. सं. 1988.
156. स्याद्वाद रत्नाकर - भाग द्वितीय श्री मद्वादिदेवसूरि विरचित प्र. भारतीय बुक कार्पोरेशन 1 यू.बी. जवाहरनगर, बैंग्लो रोड़, दिल्ली प्र. सं. 1988.
157. सर्वार्थसिद्धि - रचित श्रीमदाचार्य पूज्यपाद, सं. पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लौधी रोड़, नयी दिल्ली-3 प्र. सं.
158. सम्मति तर्क प्रकरण - खण्ड प्रथम, सिद्धसेन दिवाकर व्याख्याकार आ. अभयदेव सूरिजी, प्र. सेठ मोतीशा लालबाग जैन ट्रस्ट पाजरा पोल कम्पाऊण्ड-भुलेश्वर, बम्बई, प्र. सं. वि. सं. 2040.
159. सांख्य-तत्व-कौमुदी-वाचस्पति मिश्र, हि. टी. गजानंद शास्त्री, प्र. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, वि. सं. 2028.
160. सप्तभंगीतरंगिणी - विमलदास, हि. टी. मनोहरलालजी, प्र. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् 1916.
161. सिद्धान्तसार-आचार्य नेमीचन्द्र, सं. ए. एन. उपाध्याय व डॉ. हीरालाल

- जैन, प्र. जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर सन् 1972.
162. श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र. पुष्कर मुनिजी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.) प्र. सं. 1979.
 163. श्री कस्तुरचन्द्रजी म. जन्म शताब्दी ग्रन्थ, प्र. श्री प्रताप मुनि ज्ञानालय, बड़ी सादड़ी (राज.).
 164. मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, प्र. मुनि हजारीलाल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, ब्यावर (राज.) प्र. सं. 1965.
 165. साध्वी श्री पुष्पवती-अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.) प्र. सं. 1987.
 166. कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज.) प्र. सं. 1990.
 167. मरुधर केसरी श्री मिश्रीमलजी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र. मरुधर केसरी-अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति जोधपुर, प्र. सं. 1968.
 168. ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र. अ. भा. दि. जैन महिला परिषद् श्री जैन बाला: धर्मकुंज, धनुपुरा आरात वी. नि. सं. 2480.
 169. SPACE, TIME AND GRAVITATION-SIR ARTHUR, EDDINGTON CAMBRIDGE UNIVERSITY PRESS NEWYORK.
 170. PHILOSOPHY OF PHYSICAL SCIENCE-A. EDDINGTON, OXFORD PRESS.
 171. SCIENCE AND UNSEEN WORLD - A. N. WHITE HEAD.
 172. THE NATURE OF THE PHYSICAL WORLD - EINSTEIN.
 173. PRASAMRATIPRAKARAN, EDITED AND TRANSLATED DR. Y.S. SHASTRI L.D. INSTITUTE OF INDOLOGY AHMEDABAD - 1984.
 174. TRAREVSES ONLESS TRODDEN, PATH OF INDIAN PHILOSOPHY AND RELIGION, BY Y.S. SHASTRI, L.D. INSTITUTE OF INDOLOGY AHMEDABAD - 1991.
 175. वैज्ञानिक अर्न्तदृष्टि, बर्टेण्ड रसल अनुदित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.
 176. पैतीस बोल विवरण, मुनि कान्तिसागर, हरि विहार, पालीताना.



डॉ. साध्वी विद्युत्प्रभा श्री जी म.

जन्म : मोकलसर, वि.सं. २०२० ज्येष्ठ

शुक्ल ६, ता. २८-५-१९६३

माता : रोहिणी देवी (साध्वी श्री रतनमाला श्री जी म.)।

पिता : लूकड़ गोत्रीय श्री पारसमलजी।

दीक्षा : आचार्य प्रवर गुरुदेव श्री जिन कान्तिसागर सूरेश्वरजी म.सा. की तारक निश्चा में माता रोहिणी देवी (साध्वी श्री रतनमाला श्री जी म.) व भाई मीठालाल (गणि श्री मणिप्रभसागर जी म.) के साथ सं. २०३० आषाढ़ वदि ७, ता. २३-६-१९७३ को दीक्षा।

गुरुवर्या : स्वनामधन्य स्व. प्रवर्त्तिनी श्री प्रमोद श्री जी म.।

अध्ययन : न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष, शास्त्रीय अध्ययन के अलावा राजस्थान वि.वि. से एम.ए. (दर्शन शास्त्र), गुजरात वि.वि. से द्रव्य-विज्ञान पर डॉक्टरेट की उपाधि।

व्यक्तित्व : प्रवचन व लेखन कला में प्रखरता के साथ परम प्रवीणता, अद्यावधि पर्यन्त राही-रास्ता, अधूरा सपना, भीगी-भीगी खुशबू, करुणामयीं माँ, सेठ मोती शा की जीवन चरित्र, विद्युत तरंगे, द्रव्य-विज्ञान इत्यादि स्वतंत्र पुस्तकों का लेखन व कई पुस्तकों का संपादन/प्रकाशन।

द्रव्य-विज्ञान

साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा

